कुमाऊँनी लोक-साहित्य की पृष्ठभूमि

डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय



कुमाऊँनी लोक साहित्य की पृष्ठभूमि

डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय,
जबलपुर

साहित्य भवन [प्रा] लिमिटेड
के. पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३

प्रथम संस्करण : १९७९

मूल्य: ४०.००

साहित्य भवन प्रा० लि०, ९३, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद के लिए प्रकाशित तथा रोहित प्रिंटर्स, १६, स्टैनली रोड इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक उत्तर प्रदेश के महत्वपूर्ण उत्तरी भाग कुमाऊँ में विस्तृत लोक साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखती है। पिछले अनेक वर्षों से इस दिशा में लगातार अध्ययन करते हुए जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसकी पूर्व-पीठिका को समझना अत्यंत आवश्यक है जिस पर यहाँ समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

कुमाऊँ में लोक साहित्य विषयक पर्याप्त सामग्री है जो अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय होते हुए भी अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। इसके कारणों तथा महत्त्व की ओर यहाँ संकेत किया गया है जिससे उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में प्राप्त लोक रचनाओं के साथ भी इसकी तुलना की जा सके। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के व्यापक लोक तत्वों की व्याख्या शास्त्रीय आधार पर सम्भव है।

यह पुस्तक एक निश्चित योजना के अनुसार तैयार की गई है जिसके क्रम में स्थानीय लोक रचनाओं का अध्ययन एवं विवेचन सम्मिलित है। इस योजना के आरम्भ में स्पष्ट कर दिया गया है।

मेरा विश्वास है कि कुमाऊँ का लोक साहित्य अपनी आकर्षक एवं मौलिक सामग्री के कारण हमारे देश की लोक संस्कृति के समग्र विवेचन में सहायक हो सकता है अतः विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संप्रति इसके संग्रह एवं प्रकाशन में सभी लोगों को प्रयत्नशील होना चाहिए। पुस्तक लगभग ३ वर्षों के अन्तराल से प्रकाशित हो रही है, फिर भी मुझे आशा है कि इसकी सामग्री पाठकों के लिए उपादेय होगी।

डॉ त्रिलोचन पाडेण्य

यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (मृ० प्र०)

प्रथम संस्करण : १९७९ © लेखक मूल्य: ४०.००

साहित्य भवन प्रा० लि०, ९३, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद के लिए प्रकाशित तथा रोहित प्रिंटर्स, १६, स्टैनली रोड इलाहाबाद द्वारा मुद्रित ।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक उत्तर प्रदेश के महत्वपूर्ण उत्तरी भाग कुमाऊँ में विस्तृत लोक साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखती है। पिछले अनेक वर्षों से इस दिशा में लगातार अध्ययन करते हुए जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसकी पूर्व-पीठिका को समझना अत्यंत आवश्यक है जिस पर यहाँ समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

कुमाऊँ में लोक साहित्य विषयक पर्याप्त सामग्री है जो अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय होते हुए भी अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। इसके कारणों तथा महत्त्व की ओर यहाँ संकेत किया गया है जिससे उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में प्राप्त लोक रचनाओं के साथ भी इसकी तुलना की जा सके। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के व्यापक लोक तत्वों की व्याख्या शास्त्रीय आधार पर सम्भव है।

यह पुस्तक एक निश्चित योजना के अनुसार तैयार की गई है जिसके क्रम में स्थानीय लोक रचनाओं का अध्ययन एवं विवेचन सम्मिलित है। इस योजना के आरम्भ में स्पष्ट कर दिया गया है।

मेरा विश्वास है कि कुमाऊँ का लोक साहित्य अपनी आकर्षक एवं मौलिक सामग्री के कारण हमारे देश की लोक संस्कृति के समग्र विवेचन में सहायक हो सकता है अतः विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संप्रति इसके संग्रह एवं प्रकाशन में सभी लोगों को प्रयत्नशील होना चाहिए। पुस्तक लगभग ३ वर्षों के अन्तराल से प्रकाशित हो रही है, फिर भी मुझे आशा है कि इसकी सामग्री पाठकों के लिए उपादेय होगी।

डॉ त्रिलोचन पाण्डेय
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०)

विषयानुक्रमणिका

कुमाउँनी
लोक साहित्य की
सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

१. लोक साहित्य का संग्रह

स्थिति एवं जनसंख्या—

कुमाऊँ उत्तर प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण उत्तरी भाग है। ब्रजमण्डल, अवधी, भोजपुरी आदि जनपदों की भाँति यहाँ का लोक-साहित्य भी लोक-संस्कृति की दृष्टि से उल्लेखनीय है। क्योंकि ये सभी जनपद पृथक्-पृथक् रूप में उस विस्तृत प्रदेश की वर्त्तमान आँचलिक इकाइयाँ हैं जिसे प्राचीन काल में मध्य देश कहते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति का केन्द्र मध्यदेश कुछ रूपरेखाओं में परिवर्तित होकर वर्त्तमान उत्तरप्रदेश हो गया है। इस प्रदेश के लोक-साहित्य का अध्ययन करने के लिये स्थानीय लोक-संस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है जो नाना प्रकार के भौगोलिक और सामाजिक तत्वों से निर्मित हुई है। कुमाऊँ इसी उत्तर प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु कुछ कारणों से अभी तक अल्पज्ञात क्षेत्र है।

पिछले आठ-दस वर्षों में कुमाउँनी लोक साहित्य की दिशा में विद्वानों का ध्यान अवश्य आकर्षित हुआ है किन्तु यहाँ का संपूर्ण लोक-साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है। अल्पज्ञात लोक रचनाओं की बात तो दूर रही, अभी तक प्रमुख रूप से ज्ञात लोक रचनाओं का भी वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाया है। इस स्थिति के अनेक भौगोलिक एवं सामाजिक कारण हैं। फिर भी इस दिशा में जो कुछ प्रयत्न किये गए हैं उनसे ज्ञात होता है कि यहाँ की सामग्री अनेक दृष्टियों से ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि के लोक साहित्य से आश्चर्यजनक समानता रखती है। यद्यपि यहाँ की कुछ अपनी भी स्थानीय विशेषताएँ हैं जो अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलतीं।

सुदूर उत्तर में तिब्बती सीमा प्रान्त से लगे होने के कारण और दक्षिण में बिलकुल मैदानी भागों के संलग्न होने के कारण कुमाऊँ के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-नीति आदि में एक विचित्र प्रकार का सम्मिश्रण होता रहा है जिसमें कुछ तत्त्व यदि हिन्दू संस्कृति के हैं तो कुछ तत्व अन्य संस्कृतियों के प्रतीत होते हैं। स्थानीय लोक-साहित्य के विभिन्न रूपों में ये सभी तत्व झलकते हैं। इसलिये यह लोक-साहित्य अपनी कुछ विशिष्टता रखता है। इसी कारण यहाँ की सामग्री का व्यवस्थित संग्रह और विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि तभी अन्य क्षेत्रों के साथ तुलना करते हुए इस क्षेत्र

के वास्तविक लोक-साहित्य का सम्पूर्ण और विशिष्ट रूप सामने आ सकता है।

इस समय कुमाउँनी लोक-साहित्य की सामग्री अलमोड़ा, नैनीताल और पिथौरागढ़ के तीन जिलों में फैली हुई है जिनका सम्मिलित क्षेत्रफल लगभग आठ हजार वर्ग मील से कुछ अधिक है। सन् १९६० के पूर्व जिला पिथौरागढ़ अल्मोड़ा जिले का ही एक अंग था। उस समय कुमाऊँ में केवल नैनीताल और अल्मोड़ा दो जिले थे। सन् १८९२ के पूर्व तो अल्मोड़ा और नैनीताल भी एक ही जिले में सम्मिलित थे जिसे 'जिला कुमाऊँ' कहा जाता था।

कुमाऊँ २८°५१ तथा ३०°४९ उत्तरी अक्षांश एवं ७७°४३ तथा ८१° ३१ पूर्वी देशान्तर के बीच बसा हुआ है। १९३१ में कुमाऊँ की जनसंख्या ८६१,५८८ थी। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की सम्पूर्ण जनसंख्या १,१०८,४१९ थी जिसमें जिला अल्मोड़ा में स्त्रियों की जनसंख्या 'पुरुषों' की अपेक्षा अधिक थी। इसमें 'हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, भोटिया, तथा अन्य वर्णों के लोग भी सम्मिलित हैं। भोटिया लोग भी हिन्दू ही हैं। सन् १९६१ की जन-गणना के अनुसार यह जनसंख्या १,४७१,३०६ हो चुकी थी। इसमें तीनों जिलों में मिलाकर ७६६,९४८ पुरुष हैं और ७०४,३५८ स्त्रियाँ हैं। जिला अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ में मिलाकर आज भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है। १९७१ की जनगणना के अनुसार तीनों जिलों की जनसंख्या मिलाकर १,८५३,८६५ हो गयी है।

कुमाऊँ की सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति पर हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों का मुख्य प्रभाव पड़ा है यद्यपि प्राचीन-काल में मध्य एशिया की अन्यान्य संस्कृतियों ने इसको प्रभावित किया था। अन्य जातियाँ यहाँ निवास करने पर भी कुछ अलग-अलग सी ही रही हैं। बोलचाल की दृष्टि से यहाँ मुख्यतः कुमाऊँनी और हिन्दी तथा गौणतः नैपाली, उर्दू और गढ़वाली आदि भाषाएँ व्यवहार में प्रयुक्त होती हैं। जनगणना के अनुसार गढ़वाली बोलने वालों की संख्या जिला नैनीताल में अधिक है। और भोटिया बोलने वाले जिला पिथौरागढ़ में अधिक हैं। कुछ लोग तिब्बती भी बोलते हैं। प्रधानता कुमाऊँनी व हिन्दी बोलने वाले लोगों की है।

सारे कुमाऊँ में केवल कुमाऊँनी बोलने वाले लोगों की संख्या प्रायः ६००,००० है और हिन्दी बोलने वालों की संख्या प्रायः ४००,००० है। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कुमाऊँ में कुमाउँनी भाषा ही अधिक व्यापक रूप से काम में लाई जाती है जो यहाँ के निवासियों के दैनिक व्यवहार तथा कुछ सीमा तक लिखने-पढ़ने की भाषा है। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व जब जॉर्ज ग्रियर्सन ने यहाँ का भाषा सर्वेक्षण किया था तो उनके अनुसार केवल ४३६,

७८८ लोग कुमाउँनी बोलते थे । आज यह संख्या दस लाख तक पहुँच चुकी है ।

इस समय इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिला नैनीताल के निवासी हिन्दी भाषा के अधिक सम्पर्क में आते जा रहे हैं और नैनीताल के दक्षिणी भाग तराई भावर में तो कुमाउँनी का यदा-कदा ही प्रयोग होता है । इसके विपरीत अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ जिलों में कुमाउँनी बोलने वालों की प्रधानता है । सब मिलाकर कुमाऊँ को कुमाउँनी भाषा का क्षेत्र कहा जा सकता है । उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में जिस प्रकार ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, अवधी, भोजपुरी बोलियों की स्थिति है वही स्थिति यहाँ कुमाउँनी की है । यहाँ व्यापक रूप में हिन्दी भाषा सर्वत्र बोली और समझी जाती है ।

कुमाऊँ का लोक-साहित्य इसी कुमाउँनी में मिलता है जो विषयवस्तु और शैली दोनों में अब लगातार हिन्दी के अन्य क्षेत्रीय लोक-साहित्य से प्रभावित होता जा रहा है । भाषा के साथ लोक-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । गाँवों में सभी वर्गों के सभी लोग सामान्यतः कुमाउँनी बोलते हैं अतः उनकी सम्पूर्ण मौखिक रचनाएँ इसी में प्रचलित हैं । कुछ हस्तलिखित तथा प्रकाशित छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी मिल जाती हैं जिन्हें लोक-भाषा में रचित होने के कारण प्रायः लोक रचनाओं मे परिगणित किया जाता है । वस्तुतः ऐसी रचनाएँ लोक-साहित्य के बाहर की हैं ।

शहरों तथा कस्बों में जैसे अल्मोड़ा, चम्पावत, रानीखेत, बागेश्वर, द्वाराहाट, नैनीताल, हलद्वानी, कालाढूंगी, खटींमा, गदरपुर आदि स्थानों में हिन्दी का समावेश होने लगा है । इस समय कुमाउँनी में कोई साप्ताहिक या मासिक पत्रिका प्रकाशित नहीं होती । इस कारण इसका प्रयोग प्रायः मौखिक तथा दैनिक व्यवहार तक सीमित है । इसका प्रयोग घरेलू रूप में या पत्र व्यवहार में है जो उत्तरोत्तर कम हो रहा है । यही स्थिति स्थानीय लोक-साहित्य की भी समझनी चाहिये ।

स्थानीय लोक-साहित्य की सामग्री सभी दूरवर्ती गाँवों, शहरों और कस्बों में फैली हुई है । यह सामग्री आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क में आने वाले कुछ ऐसे स्थानों से भी प्राप्त होती है जहाँ अब प्रयोग तो हिन्दी भाषा और हिन्दी की रचनाओं का होता है, जैसे तराई भावर में, किन्तु वहाँ साधारण जनता कुमाउँनी समझती है और इन रचनाओं द्वारा अपना मनो-विनोद करली है । गाँवों में मिलने वाली सभी प्रकार की सामग्री कुमाउँनी में है अतः यहाँ के लोक-साहित्य पर विचार करते सम्य यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इसका

अधिकाँश क्षेत्र हिन्दी भाषा व साहित्य के सम्पर्क में है, फिर भी वहाँ कुमाउँनी में रचनाएँ मिलती हैं जिनका हिन्दी से प्रभावित होते रहना स्वाभाविक है। सुदूर उत्तर के दारमा जोहार क्षेत्रों में इसी प्रकार तिब्बती का प्रभाव लक्षित होता है। दो-दो भाषाओं की इस प्रयोगात्मक स्थिति ने कुमाउँनी लोक-साहित्य को हिन्दी के अधिक निकट लाने में बड़ा योग दिया है।

यह साहित्य केवल कुमाऊँ के दूरवर्ती गाँवों तक सीमित नहीं है। इसका संग्रह करते समय हमें बड़े और छोटे विकास खन्डों तथा उनमें फैले हुए लोगों को भी सम्मिलित करना होगा जो आधुनिक सभ्यता से प्रभावित होते जा रहे हैं। कुमाऊँ के जन-साधारण केवल पर्वतीय गाँवों में निवास नहीं करते, अपितु वे सम्पूर्ण भू-भाग के शहरों-गाँवों में फैले हुए इस साहित्य के विविध रूपों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और मनोरंजन करते हैं। इसमें केवल ग्रामीण व्यक्तियों द्वारा रचित अथवा उनमें प्रचलित सामग्री ही सम्मिलित नहीं है प्रत्युत् पढ़े-लिखे आधुनिक प्रवृत्तियों से परिचित लोगों की सामग्री भी सम्मिलित है जो या तो जन-साधारण के लिये रची गयी है अथवा जन-साधारण के जीवन से जुड़कर उन्हीं की अपनी सामग्री बन गई है। यह सामग्री विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से निर्मित होती है जिसके गायक इस समय मुख्यतः वे लोग हैं जिनका समाज में निम्न अथवा निम्नतम स्थान है।

पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण कुमाऊँ में कहीं तो स्थान-स्थान पर विचारों, विश्वासों आदि में मौलिक अन्तर दिखाई देगा और कहीं-कहीं व्यापक क्षेत्रों के बीच एक जैसी परम्पराएँ प्राप्त होंगी। यही कारण है कि यहाँ के लोक-साहित्य में प्रयुक्त भाषा के भिन्न रूप और भिन्न स्तर लक्षित होते हैं। और कहीं तो एक ही रचना अनेक रूपों में प्रचलित मिलती है। कुमाउँनी भाषा एक है, इसका शुद्ध भन्डार एक है, केवल उच्चारण भेद अथवा विभक्तियों के प्रयोग आदि से कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती है

इस प्रकार के विविधता पूर्ण क्षेत्र में लोक-साहित्य का संग्रह कार्य एक व्यवस्थित योजना के अनुसार ही सम्भव हो सकता है। किसी एक भाग के लोकगीतों को इधर-उधर प्रकाशित कर देने से अथवा उनका साधारण अर्थ कर देने मात्र से काम नहीं चलेगा। इस प्रकार की छुटपुट रचनाएँ कुमाउँनी लोक-जीवन अथवा लोक-संस्कृति का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं। वास्तविक एवं पूर्ण संग्रह तभी सम्भव होगा जब एक-एक भाग की रचना और उसके रूपों का प्रतिनिधित्व हो जाये और छोटी से छोटी रचना भी अँधकार में न रहे। संग्रह करने के उपरान्त उनकी समानता, असमानता, विशिष्टता

आदि पर विचार किया जा सकता है, तभी कुमाउँनी लोक-साहित्य का समुचित मुल्यांकन सम्भव है ।

संकलन योजना—

स्थानीय॰ लोक-साहित्य के संग्रह की योजना व्यावहारिक आधार पर तैयार की जा सकती है । सम्पूर्ण कुमाऊँ को तीन जिलों के आधार पर कुछ खन्डों तथा उपखन्डों में बाँटकर भौगोलिक स्थिति के अनुसार दो-चार गाँवों के समूह को लोक-संस्कृति की एक इकाई मान सकते हैं । इस प्रकार की अनेक इकाइयाँ मिलकर लोक-संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र निर्धारित करेंगी । इस विभाजन को स्थूल रूप से प्रशासनिक विभाजन के समानान्तर बना सकते हैं जहाँ प्रत्येक जिला कुछ तहसीलों में, प्रत्येक तहसील कुछ परगनों में, प्रत्येक परगना कुछ पट्टियों में, और फिर प्रत्येक पट्टी अनेक गाँवों में बँटी हुई है ।

इस प्रकार क्षेत्रीय संग्रह के लिये संपूर्ण कुमाऊँ को मुख्यतः तेरह स्थूल भाग में बाँट सकते हैं—(१) नैनीताल, (२) हलद्वानी, (३) रामनगर, (४) काशीपुर, (५) किछा, (६) बाजपुर, (७) खटीमा, (८) सितारगंज, (९) कालढूंगी, (१०) अल्मोड़ा, (११) रानीखेत, (१२) चम्पावत और (१३) पिथौरागढ़ ।

ये भाग तेरह तहसील हैं जिन्हें संग्रह की, प्रारंभिक सीमाएं माना जा सकता है । प्रत्येक भाग को उप-विभागों में बाँटने पर उनकी सीमा एक-एक तहसील में एक एक परगने तक होगी । इन्हीं उपविभागों को संग्रह की एक निर्दिष्ट इकाई मानने में कोई हानि नहीं क्योंकि प्रत्येक गाँव के बीच बहुत भिन्नता नहीं होती । गाँवों की सामूहिक इकाई अर्थात् पट्टियों से यह भिन्नता कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती है जो परजनों में अधिक उभर आती है । तहसीलें प्रशासन की सुविधा से निर्मित होती हैं किन्तु परगने और पट्टियाँ शासन की इकाई मात्र नहीं होतीं । उनमें निवासियों की विचार-परंपरा एवं विश्वासों में कुछ अंतर होने लगता है । कुमाऊँ में उक्त तेरह भागों के अंतर्गत संपूर्ण उपविभाग इस प्रकार बनाए जा सकते हैं—

(१) बारामंडल, (२) छखाता, (३) चौगखी, (४) दानपुर, (५) दारमाँ, (६) धनियाँकोट, (७) ध्यानीरी, (८) गंगोली, (९) जोहार, (१०) काली, कुमाऊँ, (११) कोटा भावर, (१२) पाली पछाऊँ, (१३) फल्दाकोट, (१४) रामगढ़, (१५) सीरा, (१६) सोर, (१७) असकोट, (१८) कुटौली और (१९) महरूड़ी । इनमें प्रत्येक भाग की सीमा इन्हीं नामों से प्रसिद्ध परगनों तक होगी ।

और गहराई में जाने के लिये ऊपर निर्दिष्ट प्रत्येक उपविभाग की पुनः छोटे-छोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है जिनका विस्तार एक-एक पट्टी

तक होगा । संपूर्ण कुमाऊँ मे ये छोटे-छोटे भाग इस प्रकार निर्दिष्ट किये जा सकते हैं—

बिसौदा मल्ला, बिसौद-बिचला, बिसौद तल्ला बौरा रौ पल्ला, बौर ारौ वल्ला, द्वारसों, कैराड़ौ, कालीगाड़, खास परजा, उच्यूर, रयूंनी, स्यूनरामल्ला, स्थूनरा तल्ला तिखून मल्ला, तिखून तल्ला, अठागुल रयूंनी, अठगुमि वल्ला, छखाता, दारून, खरही, लखनपुर मल्ला, लखनपुर तल्ला रीठागाड़, रंगोड़, सालम मल्ला, सालम तल्ला, दानपुर मल्ला, दानपुर बिचला, दानपुर तल्ला, ट्रग, कत्यूर मल्ला, कत्यूर बिचला, कत्यूर तल्ला, नाकुरी, व्यॉस, चौदॉस, दारमां मल्ला, दारमां तल्ला, चौथान, धोनियाँकोट, ऊँचाकोट सिमलखा, बिस-ज्यूला, छब्बीस दुमौला, चौमैंसी, चौगढ़, मल्ली रौ, तल्ली रौ, बेल, भेरंग, बरौन, कमस्यार, पुंगारौ, अठगाँव, चालसी, चाराल मल्ला, चराल तल्ला, गुमदे, गंगोल, खिलपट्टी फाट, पालबेलों मल्ला, पालबेलों तल्ला, फरका, रिगारूना, सिपती, सुई बिरौग, असी, जोहार मुल्ला, गौरीफाट, कोटा मल्ला, कोटा तल्ला, चौकोट मल्ला, चौकोट बिचला, चौकोट तल्ला, दौरा मल्ला, दौरा बिचला, दौरा तल्ला, गिंवाड़ पल्ला, गिंवाड़ तल्ला, गिंवाड़ वल्ला, ककल सौं मल्ला, ककलसौं तल्ला, नयाङपल्ला, नयाङ वल्ला, सिलौर मल्ला, सिलौर तल्ला, सल्ट पल्ला, सल्ट पल्ला, सल्ट वल्ला, नयाङ वल्ला, सिलौर मल्ला, सिलौर तल्ला, सल्ट मल्ला सल्ट पल्ला, सल्ट तल्ला, सल्ट वल्ला चौगाँव, धूराफाट, कोस्याँ मल्ला, कौस्याँ तल्ला, कण्डार खवा, मल्ली डोटी आगर, रामगढ़ मल्ला, रामगढ़ तल्ला, अटबीसी मलल्ला, अठबीसी तल्ला, बाराबीसी डिडीहाट, माली, खड़ाभट, खड़कदे, महर, नयादे, रावल, सेटी मल्ला, सेटी तल्ला, सौंन, बल्दिया मल्ला, बल्दिया बिचला, बल्दिया तल्ला, असकोट मल्ला, असकोट तल्ला, कुटौली मल्ली, कुटौली तल्ली, महरुड़ी दौलफाट, महरूड़ी मल्ली, महरुड़ी बिचली, और महरूड़ी तल्ली ।

उक्त छोटे-छोटे भागों की संख्या स्थिति के अनुसार न्यूनाधिक परिवर्तित की जा सकती है । इन्हें संग्रह कार्य के लिये यदि एक-एक केन्द्र बनाया जावे तो कुमाउँनी लोक साहित्य का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व हो सकता है । पुनरुक्ति से बचने के लिये प्रत्येक गाँव को केन्द्र बनाना आवश्यक नहीं है । इन भागों के आधार पर जो सामग्री संग्रहीत होगी वह सांस्कृतिक तथा साहित्यिक रूपरेखा निर्धारित करने में और समानता तथा अन्तर स्पष्ट करने में सहायक होगी । कुमाऊँ के मानचित्र में संग्रह करने के लिये बनाए गए ये विभिन्न भाग तथा उपविभाग देखे जा सकते हैं ।

सीमा रेखाओं तथा संख्याओं में न्यूनाधिक परिवर्तन द्वारा संग्रह की विधि

में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। जैसे बिसौद मल्ला, बिसौद बिचला और बिसौद तल्ला को हम वहीं की भौगोलिक स्थिति देखकर एक ही सांस्कृतिक इकाई बिसौद नामक बना सकते हैं। तराई में बुकसाड़ और थरुवाट की दो इकाइयाँ बन सकती है 'जिनकी सीमाएँ हलद्वानी—किछा की रेखा पर आकर मिलेंगी। इसी प्रकार नैनीताल के दक्षिणी क्षेत्र में भाबर को एक स्वतः संपूर्ण सांस्कृतिक इकाई बनाया जा सकता है, आदि।

संकलन पत्र--

संग्रह करने के उपयुक्त संपूर्ण क्षेत्र को इस प्रकार बड़े-बड़े भागों, में उपविभागों और छोटे-छोटे भागों में विभाजित करने के उपरांत दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि सामग्री का संग्रह कहाँ से आरंभ किया जाय और संग्रह कार्य में किन तथ्यों का ध्यान रक्खा जाए ? इस दिशा में कार्य प्रारंभ करने के लिये पहले एक संकलन पत्र तैयार कर लेना आवश्यक है जिसमें कुमाऊँ की पृष्ठभूमि के अनुकूल सभी विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिये। संकलन-पत्र को एक प्रारूप कुछ इस प्रकार बनाया जा सकता है—

१. तिथि—संग्रह कब किया गया ?

२. ग्राम या पट्टी, क्षेत्र का नाम।

३. अभिसूचक—(१) उसका नाम और पता (२) उसकी जाति और व्यवसाय (३) उम्र।

४. संकलन—(१) गीत इसमें विवाह आदि संस्कार, व्रत त्यौहार, यात्रा, ऋतु, खेती पूजा, झूला या अन्य किसी विषय से संबद्ध मुक्तक प्रकार के सभी गीत लिखे जा सकते हैं।

(२) कथा-कहानियाँ--किसी तरह की छोटी या बड़ी, ऐतिहासिक, धार्मिक या सामाजिक, गद्य या पद्य अपने मूलरूप या मूलभाषा में लिखा जाय जैसा उसका प्रचार है।

(३) खेलकूद संबंधी रचनाएं—ये रचनाएँ बच्चों की हैं। इन्हें संग्रह करते समय यह भी ध्यान रक्खा जावे कि ये खेल किस प्रकार खेले जाते हैं।

(४) कहावतें और मुहावरे,

(५) चुटकुले और लोकोक्तियाँ,

(६) पहेलियाँ।

(७) पक्षी, पर्वत, वृक्ष संबंधी कथानक।

(८) विविध शब्द-समूह—खेती, भोजन, बर्तन, वृक्ष, पक्षी, दवाएं, घास आदि दैनिक प्रयोगों में आने वाली वस्तुओं के स्थानीय शब्द तथा प्रयोग ।

(९) स्थानीय लोक गायकों का उल्लेख।

(१०) लोक-साहित्य का कोई अन्य स्थानीय रूप ।

संग्रह कर्त्ता को संग्रह करते समय कुछ बातों का अलग से ध्यान रखना होगा । उसे गीत अथवा कहानी आदि का नाम लिख लेना चाहिये और रचनाओं को कौन लोग विशेष कर गाते हैं—पुरुष, स्त्री अथवा बच्चे ? इसे संक्षिप्त परिचय लिख लेना चाहिये किसी गीत अथवा कथा आदि से कोई घटना जुड़ी हुई हो तो उसका उल्लेख करना चाहिये । उसे देखना होगा किन लोकगीतों के साथ कौन सा लोक वाद्य प्रयुक्त होता है । यदि कहीं प्रयुक्त नहीं होता तो इसका भी ध्यान रखना होगा । भाषा का वही रूप लिखना चाहिये जो प्रचलित है । अपनी ओर से उसमें कदापि परिवर्तन न किया जावे । अभिसूचक (इन्फॉर्मेंट) के विषय में पूरा विवरण जान लेने की आवश्यकता स्पष्ट है क्योंकि उम्र से उसका मानसिक स्तर निश्चित होता है । वृद्ध अथवा वयस्क व्यक्तियों द्वारा दी गई सूचनाएँ युवकों और बालकों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होगी । स्त्रियों की रचनाओं के विषय में स्त्री वर्ग आधिकारिक रूप से कुछ कह सकता हैं । लोक गायक की जाति तथा व्यवसाय तथा वर्ग में प्रचलित गीतों कथाओं को जितना स्पष्ट कर सकता है उतना अन्य वर्गों की रचनाओं के बारे में नहीं बतला सकेगा ।

उक्त संकलनपत्र के प्रारूप में पक्षी, पर्वत, वृक्ष आदि सम्बन्धी कथानक भी रक्खे गये हैं । ये किसी भी लोक-साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं जिनसे क्षेत्रीय पशु पक्षियों के ज्ञान के अतिरिक्त ग्रामीण व्यक्तियों की उद्भावना शक्ति का परिचय मिलता है । इन तथाकथित ग्रामीणों की कल्पनाशक्ति, तथ्यों और भिन्न घटनाओं का तारतम्य मिलाने का कौशल और उनके माध्यम से समाज के किसी अंग पर प्रकाश डालने की योग्यता इतनी बढ़ी चढ़ी होती है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है । वस्तुतः इन लोगों को असंस्कृत और गँवार कहना अपनी ही संकुचित दृष्टि का परिचय देना है ।

इस संग्रह का एक अंग स्थानीय विविध शब्द समूह का है जो सामाजिक-आर्थिक, स्थिति पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्व रखता है । अधिकतर किसी समाज में विकास की स्थिति तथा उसके सदस्यों की आवश्यकताओं के अनुकूल शब्दों का निर्माण होता है जो वस्तुएँ

निवासियों के दैनिक प्रयोग तथा संपर्क में नहीं आती उनसे समाज परिचित नहीं होता। इस प्रकार के अनेक शब्द कुमाउँनी जन जीवन की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालते हैं। भाषा की दृष्टि से इन शब्दों के अध्ययन द्वारा इनके मूल ध्वनि परिवर्तन, रूप विकार तथा बाह्य प्रभावों की व्याख्या होती है। उदाहरणार्थ, आर्या शब्द किस प्रकार यहाँ आकर 'इजा' बना और बोल चाल में क्यों 'इजी', 'इजू' बोला जाता है, इस शब्द को अपने विकास में किन किन सामाजिक स्तरों से होकर गुजरना पड़ा, ऐसे पक्षों का अध्ययन एक रोचक विषय है। इसके द्वारा यह निश्चित किया जा सकता है कि कुमाउँनी शब्दावली कहाँ तक हिन्दी की है अथवा कहाँ तक अन्य पर्वतीय प्राकृतों आदि से सम्बन्ध रखती है।

हिन्दी भाषा में इस समय विविध भावों, स्थितियों अथवा वस्तु विशेष को व्यक्त करने में स्थान-स्थान पर प्रायः कठिनाई होती है। जैसा सभी जानते हैं, उसका शब्द भंडार समिति है। कुमाउँनी में प्रयुक्त क्वीड़ शब्द स्त्रियों की आपसी बातचीत और गपशप के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें कई भावों के मिश्रण होने से दूसरी व्यंजना निहित होती है। हिन्दी का 'गप्प' शब्द इसका समानार्थी नहीं है क्योंकि 'गप्प' शब्द द्वारा वह विशिष्ट व्यंजना नहीं होती जो 'क्वीड़' शब्द से होती है। कुमाऊँ की ऐसी विशिष्ट शब्दावली कहाँ तक हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाने में सहायक होगी—यह सामयिक और विचारणीय प्रश्न है। उत्तर भारत की एकाधिक जनपदीय बोलियाँ एक बड़ी सीमा तक हिन्दी की सहायक सिद्ध हो रही हैं जिनके विविध प्रयोग कविताओं उपन्यासों, कहानियों आदि में दिखाई देते हैं। इस स्थिति में कुमाउँनी शब्दावली के संग्रह तथा विवेचन की उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है जिसका सीधा संबंध लोक-साहित्य से है।

स्थानीय लोक साहित्य का संग्रह यथा संभव अपने मूल रूप में होना चाहिए जैसा कि ऊपर निर्देश में स्पष्ट किया गया है। संग्रहकर्त्ता को अभ्यास क्रिया के बीच एकाधिक प्रयोग नवीन तथा विचित्र अथवा अटपटे लग सकते हैं जिन्हें वह सरल बनाना चाहेगा। किन्तु उनका उच्चारित रूप लिखना आवश्यक है, भले ही कोष्ठक अथवा टिप्पणी में उनका अर्थ दे दिया जावे। उस विचित्र से प्रतीत होने वाले प्रयोग में कोई उल्लेखनीय नृतात्विक अथवा भाषा तात्विक तथ्य निहित हो सकता है जो संग्रह कर्त्ता की पकड़ में न आया हो। वह प्रयोग किसी अन्य तथ्य का भी संकेत कर सकता है। अतः इस बात का विशेष ध्यान रखना होगी कि लोक रचना मूल रूप में प्राप्त हो, चाहे इस समय किसी शब्द का अर्थ समझ में न आवे।

संकलन प्रणाली—

अब प्रश्न है कि किस प्रकार प्रस्तावित रूपरेखा के आधार पर संग्रह कराया जावे और कौन व्यक्ति इसके लिए उपयुक्त सिद्ध होंगे। हर प्रकार का व्यक्ति लोक-साहित्य का संग्रह नहीं कर सकता। विदेशों में तो इस कार्य के लिए पहले से व्यक्ति चुने जाते हैं जिन्हें पूर्व प्रशिक्षण दिया जाता है। वैसे कोई विशेष संस्था इस कार्य को अपने उत्साही सदस्यों द्वारा भी सरलता पूर्वक करा लेगी जो गाँव-गाँव में रहते हैं। उन्हें अपनी भोजन-व्यवस्था आदि के अतिरिक्त कम से कम तीन वस्तुएँ साधन रूप में अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। एक नोटबुक, कलम तथा पेंसिल, दूसरे कैमरा और तीसरे टेप रिकॉर्डर, संग्रह कर्त्ता अकेले अथवा सामूहिक रूप में 'फील्डवर्क' के लिए जा सकते हैं किन्तु वे ग्रामीणों पर बोझ न बनें तो अच्छा होगा।

इस प्रबन्ध में धनराशि की व्यवस्था करना एक समस्या होगी और कुमाऊँ जैसे क्षेत्र में जहाँ लोगों के आर्थिक स्रोत सीमित हैं, यह प्रश्न महत्त्व रखता है। केन्द्रीय और प्रान्तीय अनुदानों से इसमें सहायता मिलेगी। संग्रहकर्त्ताओं को भी त्याग और सहानुभूति से काम लेना होगा ताकि वे कम से कम धनराशि में अपनी आवश्यकता पूरी कर लें। जैसे जैसे सामग्री एकत्र होती चले वे अपने अपने केन्द्रों को भेजते चलें जहाँ से वह प्रमुख केन्द्र को प्रेषित की जावेगी।

कुमाऊँ के गाँवों में प्राय: देखा गया है कि लोकगायक प्रत्येक समय गाने को तैयार नहीं रहते। गाने के निश्चित समय पर वे बिना किसी अनुरोध के उल्लास पूर्वक लगातार घंटों तक बैठकर गाते हैं। जैसे 'चैत' नामक गीत केवल चैत्रमास में गाये जाते हैं। स्वाभाविक है कि इनका संग्रह चैत्र मास में होना चाहिए। ऋतु या प्रयोजन के अनुसार क्षेत्र में जाने पर उपयुक्त सामग्री मिल जावेगी।

इस प्रक्रिया में एक दूसरी विधि से भी काम ले सकते हैं जिसमें अपेक्षाकृत कम धनराशि खर्च होगी। इसमें चार साधनों का उपयोग किया जा सकता है। एक तो यह कि संपूर्ण कुमाऊँ में नियोजन विभाग के अन्तर्गत जो विकास खंड खोले गये हैं उनमें सामाजिक शिक्षा के लिए एक एक सहायक नियुक्त हैं जिन्हें यह कार्य शासकीय रूप से दिया जा सकता है। उनके अधीन प्रत्येक गाँव में ग्राम-कार्यकर्त्ता हैं (विलेज लेवल वर्कर) जो गाँव के प्रत्येक गायक से परिचित होते हैं। वे अपने कार्य के साथ-साथ यह संग्रह कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक विकास अधिकारी को जिला नियोजन अधिकारी द्वारा इस प्रकार का निर्देश भेजने पर इस कार्य में कठिनाई नहीं होगी।

दूसरे जिला विद्यालय निरीक्षकों की सहायता से अपर प्राइमरी स्कूलों,

जूनियर हाई स्कूलों, इंटर कालेजों से यथा संभव सामग्री का शीघ्र संग्रह कराया जा सकता है। जब वे प्रत्येक प्रधानाध्यापक को तत्सम्बन्धी निर्देश देंगे तो शिक्षकवर्ग विद्यार्थियों के सहयोग से यह कार्य सुविधापूर्वक करा लेंगे। प्रत्येक विद्यालय में आसपास के गाँवों से विद्यार्थी आते हैं। उनमें कुछ विद्यार्थियों को चुन कर एक-एक विषय देने पर पर्याप्त सामग्री बहुत कम समय में संग्रहीत हो जावेगी और पुनरुक्ति भी नहीं होगी। विद्यार्थी लोग अपने माता पिता और पास पड़ोस से पूछकर यह सामाग्री बिना किसी बाधा के एकत्र करेंगे और उनका शिक्षक उसे निर्धारित स्थान पर भेज देगा।

तीसरे स्थानीय लेखकों एवं लोक-साहित्य में रुचि लेने वाले विभिन्न सज्जनों के पारस्परिक वार्तालाप एवं सहयोग से सहायता मिल सकती है। यद्यपि इस प्रकार का साधन कुमाऊँ में अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ है। चौथा साधन यह है कि व्यक्तिगत क्षेत्रीय यात्राओं द्वारा उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी किन्तु कुमाऊँ जैसे पर्वतीय क्षेत्र में यह पर्याप्त जान पहचान तथा आवागमन की सुविधा-असुविधा आदि पर निर्भर है। इस साधन से एक अतिरिक्त लाभ यह है कि संग्रह कार्य के साथ स्थानीय विशेषताओं और बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों को स्वयं देखने का तथा जन जीवन के निकट संपर्क में आने का अधिक अवसर मिलेगा।

उपर्युक्त दोनों विधियों में सर्वोत्तम विधि प्रथम प्रकार की है क्योंकि उसमें संग्रह कर्त्ता स्वयं यह कार्य करते हैं। दूसरी विधि में एक त्रुटि यह है कि विभागीय निर्देशों द्वारा सर्वत्र इच्छित कार्य संभव नहीं होता। कभी विकास अधिकारियों के पास अन्य कार्य अधिक होते हैं तो कभी सब लोग संग्रह में समान रुचि नहीं ले पाते। प्रथम विधि श्रम साध्य अवश्य है अतः जब तक उसकी व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक दूसरी विधि अपना कर और स्वयं विकास खंड में जाकर कार्य की प्रगति हो सकती है।

संग्रह करने और अपने क्षेत्र में जाने के पूर्व यह ध्यान में रखना होगा कि कुमाऊँनी लोक-साहित्य अन्य क्षेत्रों की भाँति उन लोगों के पास सुरक्षित है जो निरक्षर हैं, अथवा जो नाममात्र को पढ़े लिखे हैं और उसे केवल मनोरंजन की सामग्री मानते हैं। कभी समयाभाव के कारण अथवा मनस्थिति तदनुकूल न होने के कारण वे सामग्री सम्बन्धी चलती सूचनाएँ दे देते हैं। और लोक-साहित्य के जानकार होने पर भी अनजान बन जाते हैं। अतः गायक की व्यक्तिगत रुचि अरुचि का ध्यान रखना पड़ता है। रुपया पैसा देकर, भोजन आदि की व्यवस्था करके अथवा उसकी कोई प्रिय वस्तु भेंट करके लोक गायक को 'मूड' में लाना पड़ता है। अन्यथा वह कुछ गाएगा भी तो उसका मूल्य बहुत कम होगा।

गाँवों में जाकर यथासंभव प्रत्येक व्यक्ति से मेल जोल बढ़ाना चाहिए ताकि वह अपने और संग्रह कर्त्ता के बीच दूरी का अनुभव न करे। कुशल संग्रह कर्ता मेलों, त्योहारों, उत्सवों आदि में ग्रामीणों की वेशभूषा में सम्मिलित होते हैं और उनका विश्वास प्राप्त करते हैं। तथा कथित निम्नवर्गीय जातियों के साथ संपर्क रखने पर वे लोग रात-रात तक बैठ कर कुछ न कुछ लिखवा ही देते हैं। कुमाऊँ में कुछ विशेष प्रकार के लोक गीत जैसे 'बैर' तभी सुनाई देते हैं जब दो दलों के बीच प्रतियोगिता कराई जावे। पहेलियां भी बालकों की पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा तुरन्त प्रकाश में आती हैं। इस श्रेणी के लोकगायक प्रायः सर्वत्र सामन्ती व्यवस्था के शिकार हुए हैं। उनमें कई प्रकार की हीन भावनाएँ उत्पन्न हो गई हैं। उनके साथ उठने बैठने पर अच्छा व्यवहार करने पर आरंभ में तटस्थ रहते हुए भी अंततः वे लोग अपना हृदय खोल देते हैं।

यहाँ के स्थानीय गायक जिन्हें प्रायः हुड़किया, 'औजी', वादी' जैसे नामों से संबोधित किया जाता है, जिस प्रकार जिस शैली में स्वाभाविक ढंग से गीत या कथा कहें उन्हें उसी शैली में लिखा जाना चाहिए। गायक से धीरे-धीरे गाने के लिए कहने पर सामग्री को लिपिबद्ध करना कठिन होता है। किसी उच्चरित पंक्ति को दुहराने के लिए कहने पर गायक प्रायः उसका शब्द क्रम भूल जाते हैं, इसीलिए टेप रिकर्डर की आवश्यकता पड़ती है। गीत या कथा के असंबद्ध से प्रतीत होने वाले स्थलों के विषय में संपूर्ण गायन समाप्त हो जाने पर उसी गायक द्वारा अतिरिक्त जानकारी प्राप्त करनी चाहिए भले ही किसी स्थल की व्याख्या अनेक गायक अपने अपने ढंग से करते हैं। वर्णित प्रसंगों के स्थानों, पात्रों आदि की सूचनाएँ उन्हीं से प्राप्त की जा सकती है, भले ही उनके उत्तर भिन्न हों। इस विधि से अनेक भौगोलिक स्थानों का वर्त्तमान रूप निश्चित करने में सहायता मिलेगी।

लोक गायक जिस शब्द को जिस रूप में उच्चरित करता है जैसे 'जान', 'जियान', ज्यान' आदि, उसी रूप को अंकित करना चाहिए एक शब्द के विविध रूप जो स्थानीय वातावरण से प्रभावित होते हैं इसी प्रकार स्पष्ट हो सकते हैं। कभी एक लोक गायक से वार्तालाप करने पर अन्य गायकों की विशेषताएँ भी ज्ञात होती हैं। वे लोग प्रायः अपनी लोक रचनाओं का निर्माण काल नहीं बता पाते क्योंकि जनप्रवाह में जो रचना आ गई और किसी अवसर विशेष पर अधिक प्रचलित हो गई उसे वे कंठस्थ कर लेते हैं।

रचनाओं का संग्रह करते समय यथा संभव संकलन क्षेत्र के विषय में सूचना प्राप्त करनी चाहिए। कौन कौन लोग वहाँ निवास करते हैं, उनका रहन सहन

कैसा है, उस स्थान का कोई ऐतिहासिक अथवा धार्मिक महत्व है या नहीं, उसके विभिन्न स्थानों का नामकरण किस प्रकार हुआ है, वहाँ किन स्थानीय देवी देवताओं की पूजा होती है आदि बातों का प्रासंगिक परिचय प्राप्त करने पर उस लोक-संस्कृति का स्वरूप ज्ञात हो जावेगा जो विशिष्ट लोक-साहित्य को जन्म देती है।

कुमाऊँ के विभिन्न स्थानों से संग्रहीत इस प्रकार की प्रासंगिक सूचनाएँ न केवल लोक-साहित्य के अध्ययन में सहायक होंगी प्रत्युत् वे जनजीवन के सामाजिक तथा ऐतिहासिक पहलुओं पर भी प्रकाश डालेंगी। इन आधारों से यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल से हिमालय की विस्तृत उपत्यकाओं में बसे हुए इन ग्रामीण अंचलों में सांस्कृतिक अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी सामग्री है जो अनुसंधान के लिये बहुमूल्य है किंतु अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है।

अभी तक कुमाउँनी लोक-साहित्य पर जो अध्ययन किये गए हैं वे लोक साहित्य का प्रतिनिधित्व तो करते हैं, फिर भी वे पर्याप्त नहीं हैं। उनके द्वारा लोक-जीवन की विशेष प्रवृत्तियों पर अवश्य प्रकाश पड़ता है किन्तु कुमाऊँ जैसे विस्तृत क्षेत्र में और महत्त्वपूर्ण सामग्री बिखरी पड़ी है। संग्रहों में लोक गाथाओं की अपेक्षा लोकगीतों एवं दन्त कथाओं की संख्या में वृद्धि होने की पर्याप्त संभावना है क्योंकि गीत—कथाएँ तो समयानुसार बनती रहती हैं जबकि गाथाओं का निर्माण होने में शताब्दियाँ लग जाती हैं।

यहाँ गीतों और कहावतों में विशेषकर पुनरुक्ति मिलती है। समान गीत और कहावतों का एकाधिक क्षेत्रों से प्राप्त होना इस बात का द्योतक है कि उनका प्रसार व्यापक है। जो गीत और कहावतें किसी स्थान विशेष से संबद्ध हैं (जैसे "खत्याड़ी को साग, गंगोली की बाग" नामक कहानत) वे स्थानीय विशेषताएँ और अंतर सूचित करती हैं।

गाथाओं और कथाओं की रूपरेखा प्राय: एक जैसी है, वे केवल मुख्य घटनाओं के वर्णन में हेर-फेर हो जाता है। गाथाएँ लोक गायकों के कण्ठ में निवास करती हैं अत: प्राचीन घटनाओं को वे कहीं आधुनिक घटनाओं के साथ संयुक्त कर देते हैं? एक लोक गायक ने 'मालूसाही' नामक प्रसिद्ध लोकगाथा के नायक मालूशाही के कंधे पर, बंदूक लटकाने का वर्णन कर दिया था। प्रसिद्ध लोकगाथा रमौल के तीन चार रूपान्तर विभिन्न भागों में सुनने को मिलते हैं किन्तु इन रूपान्तरों का वास्तविक भेद जितना इनकी गायन पद्धति से संबंध रखता है, उतना विषय वस्तु से नहीं। साहित्यिक दृष्टि से मूल कथा वर्णन एक ही प्रकार का रहता है, केवल स्थानीय वृत्तांत घटा बढ़ा दिये जाते हैं।

यह प्रक्रिया इन गाथाओं के गायकों से संबंध रखती है। कुमाऊँ के जिस भूभाग का लोक गायक होता है वह कथा के मूलवृत्त को उसी ओर मोड़ देता

हैं, वह मूलकथा में किसी स्थानीय वीर की घटना जोड़ देता है। प्रमुख कथा नायक के साथ इसका तारतम्य इस प्रकार बैठा होता है कि जोड़ का पता नहीं चलता। अतः कुमाऊँनी लोक गाथाओं में अनेक उपकथाएँ इस प्रकार परस्पर गुंथ गई हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। 'रमौल' लोक गाथा में यह स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य गाथाओं के संदर्भ में भी यह तथ्य सामने आता है।

गायन-पद्धति के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि लोकगायक अपनी व्यक्तिगत रूचि—अरुचि के अतिरिक्त श्रोता समूह की मनस्थिति को ध्यान में रखकर भी घटनाओं के वर्णन में परिवर्तन कर देते हैं। चूंकि वे स्मरण शक्ति के सहारे गाते हैं, उनके वाक्य उलझे हुए और प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अनगढ़ होते हैं। वे श्रोताओं की माँग के अनुसार अपने पाठ में संशोधन कर लेते हैं। इसमें संक्षेपीकरण अथवा दीर्घीकरण की दोनों प्रवृत्तियाँ संभव हैं जबकि मूल इतिवृत्त का अनुक्रम अपरिवर्तित रहता है। कहीं पर श्रोताओं के लिये मूलपाठ की अपेक्षा लोक गायक के विभिन्न क्रियाकलाप, उसके स्वरों का उतार चढ़ाव, अंग संचालन आदि अधिक प्रमुख हो उठते हैं। इन सभी विधियों का प्रयोग कथा-वस्तु के नाटकीय प्रस्तुतीकरण के लिये किया जाता है। इन सभी बातों का उसकी गायन शैली पर प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि मूल पाठ के आरंभिक एवं अंतिम अंश प्रायः श्रोताओं के मनोनुकूल नियोजित किये जाते हैं।

कुमाऊँ में अनेक लोकरचनाएँ ऐसी हैं जो हिन्दी के अन्य जन-पदीय क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होती और उन स्थानों की अधिकांश लोकप्रिय रचनाएं यहाँ नहीं मिलती। जैसे 'झूले के गीत' कुमाऊँ में प्रचलित नहीं है। जब झूला डालने का यहाँ उपयुक्त वातावरण ही नहीं है तो तत्संबंधी गीतों का नहीं होना स्वाभाविक है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ यहाँ के घरों में चक्की अवश्य पीसती हैं किन्तु पूर्वी उत्तर प्रदेशों की भाँति 'जाँत के गीत' जैसी रचनाएँ यहाँ नहीं मिलतीं। इसी प्रकार लोरियों की दृष्टि से भी कोई उल्लेखनीय सामग्री नहीं मिलती। प्रकृति अथवा दैनंदिन की वस्तुओं का बोध कराते हुए शिशुओं को थपथपाने का कार्य संपन्न कर लिया जाता है।

सामग्री का प्रकाशन—

साहित्यिक संग्रह के उपरान्त इस संपूर्ण सामग्री का व्यवस्थित प्रकाशन सारी योजना का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण हैं। यह प्रकाशन सुनिश्चित आधार पर होना चाहिये, तभी उपयुक्त विश्लेषण के उपरान्त हिन्दी के अन्य क्षेत्रों से प्राप्त तत्संबंधी सामग्री के साथ तुलना करते हुए इसका समुचित मूल्यांकन करना संभव होगा। लोक साहित्य के विभिन्न रूप भेदों की प्रकाशन व्यवस्था कुछ खंडों में की जा सकती है। और अंत में समग्र अध्ययन

के फल स्वरूप स्थानीय लोक संस्कृति पर समुचित प्रकाश डाला जा सकता है जो लोक रचनाओं की वास्तविक पृष्ठ भूमि बनाती है।

उदाहरणार्थ, संग्रह के प्रथम खण्ड में कुमाऊँ की सामान्य पृष्ठ भूमि पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा। जिससे यहाँ की उन ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का स्पष्टीकरण होगा जिन्होंने लोक रचनाओं के विविध रूपों का निर्धारण किया। दूसरे खण्ड में लोकगीतों विविध रूपों की व्याख्या करते हुए उनमें विशेपताएँ बतलाई जा सकती हैं। तीसरे खण्ड का संबंध स्थानीय लोक गाथाओं से रहेगा और चौथे खंड में दन्तकथाएँ रहेंगी। पाँचवें खण्ड का संबंध स्थानीय मुहावरों और कहावतों से रहेगा। यथा स्थान हिन्दी से मिलते-जुलते उदाहरण देकर इसकी उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। छठा खण्ड तथा पहेलियाँ सम्मिलित रहेंगी। सातवें खण्ड में स्थानीय भाषा के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। प्रसंगानुसार इसकी उत्पत्ति, विकास और प्रभाव आदि के संबंध में छानबीन की जा सकती है। गढ़वाली जैसी निकटवर्ती बोलियों के साथ तुलना करते हुए साम्य वैसम्य दिखा कर इसके उपयुक्त कारणों का अनुमान किया जा सकता हैं।

कुमाउँनी और खड़ी बोली हिन्दी के पारस्परिक संबंध पर विचार करना वर्तमान स्थिति में रोचक होगा। हिन्दी भाषी क्षेत्र के व्यापक होते जाने का द्योतक है। इन सात खंडों के प्रकाशन के उपरांत अंतिम और आठवें खंड में स्थानीय लोक-संस्कृति पर सप्रमाण प्रकाश डाला जा सकता है जिसमें धर्म, आर्थिक जीवन, समाज का रूप, लोक संगीत एवं नृत्य, जीवन दर्शन आदि विषय रहेंगे। लोक-साहित्य की संग्रहीत सामग्री ही इन विषयों का आधार बनेगी।

उत्तर प्रदेश के अन्य भागों जैसे व्रज, अवधी आदि की सामग्री के साथ भी कुमाउँनी लोक रचनाओं की तुलना हो सकती है जिनमें पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है। यह तुलना लोक रचनाओं की अंतर्जनपदीय यात्राओं का संकेत देती है किंतु यह एक पृथक् पुस्तक् का विषय है।

२. नाम करण और सीमा विस्तार

प्रशासनिक सीमा—

किसी क्षेत्र का लोक साहित्य यदि उसकी सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालता है तो ये विभिन्न परिस्थितियाँ भी उसके स्वरूप निर्धारण में सहायक होती हैं। विभिन्न क्षेत्रों के लोक-साहित्य में अनेक स्थलों पर भाव साम्य के अतिरिक्त जो अंतर या विशेषताएँ लक्षित होती हैं उनका एक प्रमुख कारण देश-काल तथा वातावरण का यही भेद है। कुमाउँनी लोक-साहित्य एवं लोक-जीवन में, चूंकि ये विशेषताएँ अधिक स्पष्ट रूप से उभर आई हैं इसलिये उन्हें समझने के लिये इन विभिन्न परिस्थितियों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

प्रशासनिक दृष्टि से कुमाऊँ कमिश्नरी में सन् १९६० के पूर्व गढ़वाल और टेहरी गढ़वाल के जिले भी सम्मिलित थे। अब उत्तरकाशी, चमोली और पिथौरागढ़ के नवीन जिले उत्तराखण्ड कमिश्नरी के अन्तर्गत हैं और गढ़वाल की पृथक् कमिश्नरी है। अत: कुमाऊँ कमिश्नरी में अल्मोड़ा और नैनीताल के केवल दो जिले रह गए हैं। किन्तु व्यवहार में कुमाउँनी भाषी क्षेत्र के अन्तर्गत पिथौरागढ़ जिले को सम्मिलित करते हैं। लोक-साहित्य की दृष्टि से पिथौरागढ़ जिले का उल्लेख कुमाऊँ के साथ ही करना उचित है जैसा कि पहले अध्याय में द्रष्टव्य है।

गढ़वाल और कुमाऊँ का इतिहास बहुत कुछ समान होते हुए भी भिन्न है। सामाजिक मान्यताओं और आचार-विचार की दृष्टि से दोनों का अन्तर स्थानीय विशेषताओं पर आधारित है। भाषा की दृष्टि से गढ़वाल के लोग गढ़वाली बोलते हैं जबकि कुमाऊँ के लोग कुमाउँनी बोलते हैं। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार गढ़वाल में कुमाउँनी बोलने वालों की संख्या शून्य थी और नैनीताल अल्मोड़ा में आज तक गढ़वाली कहीं स्थाई रूप से प्रयुक्त नहीं होती। दोनों क्षेत्र मध्यहिमालय के अंग हैं, कुछ दृष्टियों से एक-दूसरे के निकट हैं फिर भी पृथक् विशेषताओं के कारण इतिहासकारों ने इन्हें भिन्न माना है।

बहुत पहले सन् १८३८ तक जिला कुमाऊँ नामक एक ही जिला था जिसमें नैनीताल—अल्मोड़ा के अतिरिक्त गढ़वाल सम्मिलित था सन् १८३९ में शासकीय सुविधा के लिये गढ़वाल को अलग किया गया और जिला कुमाऊँ में

नैनीताल और अल्मोड़ा के दो भाग रह गए। सन् १८९२ में इन्हें भी अलग करके स्वतन्त्र जिलों का रूप दे दिया गया। तात्पर्य यह है कि नैनीताल और अल्मोड़ा के दोनों जिले और किसी सीमा तक गढ़वाल एक ही लोक-साहित्यिक क्षेत्र के विभिन्न अंग हैं। इसे मध्य हिमालय जैसा ठीक ही नाम दिया गया है।

कुमाऊँ शब्द का प्रयोग—

'कुमाऊँ' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। अधिकतर यह नाम 'कूर्माचल' शब्द का विकसित रूप माना जाता है जो कूर्मावतार के नाम पर प्रसिद्ध हुआ। स्थानीय जनश्रुति के अनुसार विष्णु भगवान का कूर्म रूपी अवतार चम्पावती नदी के पूर्व कूर्म पर्वत में, वर्त्तमान कानदेव में लगातार तीन वर्षों तक खड़ा रहा जिसके चरण चिह्न एक पत्थर में अभी तक विद्यमान कहे जाते हैं। तब से इस पर्वत का नाम कूर्माचल (कूर्म+अचल) हो गया जो अब 'कुमाऊँ अथवा कभी शीघ्रता में 'कुमू' कहा जाता है।

दूसरी जनश्रुति है कि राम-रावण युद्ध के समय त्रेतायुग में श्री रामचन्द्र ने कुंभकर्ण राक्षस का सिर इस भू-भाग की ओर फेंक दिया, जब वे लंका-विजय कर रहे थे। कालान्तर में इस सिर ने एक सरोवर का रूप धारण किया जिसे भीमसेन पाण्डव ने अपने पुत्र घटोत्कच को जलाने के बाद नष्ट कर दिया। आज भी वहाँ घटकू देवता की पूजा होती है और वहाँ के निवासी सारे भाग में शवदाह नहीं करते क्योंकि उसे कुंभकर्ण की खोपड़ी समझते हैं।

ठाकुर जोधसिंह नेगी ने अपनी पुस्तक 'हिमालयन ट्रैवल्स' (पृष्ठ ११२) में तीसरा मत यह व्यक्त किया है कि कुछ लोग इसे कालू तड़ागी के नाम पर प्रसिद्ध मानते हैं जो किसी समय चम्पावत के निकटवर्ती प्रदेश में राज्य करता था। वहाँ गाँव में आज तक उसके वंशधर निवास करते हैं। देवदास तथा बौज वृक्षों की सघनता और काले रंग के कारण भी यह नाम पड़ सकता है। नेगी जी ने कुछ अन्य लोगों का एक दूसरा मत व्यक्त किया है कि कुमाऊँ शुद्ध वस्तुतः 'कमाऊ है जिसका तात्पर्य धन या खेती कमाने वाले व्यक्ति से होता है। उनके मतानुसार यहाँ के व्यक्ति व्यापार, खेती आदि करने में कुशल हैं। वे बड़े कमाऊ हैं। सम्भवतः इस प्रदेश का यह नाम उन्हीं के कारण पड़ा।'

पं० कृपालदत्त जोशी ने 'अचल' पत्रिका में प्रकाशित (मई, १९३८) अपने एक खोजपूर्ण लेख में यह विचार करते हुए कि इस प्रदेश का नाम कूर्माचल कैसे हुआ, यह मत व्यक्त किया था कि यह नाम कूर्मदेव नरेश के आधार पर पड़ा।

जोशीजी का तर्क निराधार प्रतीत होता है क्योंकि कूर्मदेव नरेश के नाम से बनने पर उसका उल्लेख कहीं प्राचीन ग्रन्थों में होना चाहिये था। 'तंत्र संहिता'

'वाराही संहिता' जैसे ज्योतिष ग्रन्थों में तथा पुराणों में कूर्मांचल नाम नहीं हैं। चीनी यात्रियों के लेखों और वागेश्वर के प्रामाणिक शिलालेख तक में यह नाम नहीं मिलता। इस प्रदेश का कुमाऊँ नाम चन्द राज्य की स्थापना के पूर्व नहीं मिलता। चन्द राजाओं का व्यवस्थित शासन चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। वागेश्वर में भूदेव का शिलालेख दसवीं शताब्दी का है। जिसमें 'व्याघ्रे-श्वर (वागेश्वर) देव का नाम है। किन्तु कुमाऊँ का नहीं।

राज्यों के नामकरण प्राय: देश-विशेष के नाम पर होते हैं, राजा विशेष के नाम से होना सार्वदेशिक नियम नहीं है। यही बात तीसरे तर्क के लिए कही जा सकती है कि किसी कालू तड़ागी के नाम पर कुमाऊँ नामकरण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यहाँ के निवासी कृषि, व्यापार तथा पशुपालन आदि में अवश्य कुशल हैं किंतु 'कमाऊ' शब्द का कुमाऊँ बन जाना भाषा विज्ञान की दृष्टि से संदिग्ध है। जब कुमाऊँ शब्द का व्यवहार चन्द राज्य के पूर्व नहीं मिलता तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इसके पूर्व यहाँ के निवासी कमाऊ नहीं थे ?

अधिक प्रचलित तथा मान्यमत कूर्मांचल से कुमाऊँ होना है जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से उपयुक्त है। डा० गुणानन्द जुयाल ने अपने प्रबन्ध मध्य पहाड़ी भाषा (गढ़वाली कुमाउँनी) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से संबंध में कूर्मांचलों > कुमा अओ > कुमाऊँ इस प्रकार कुमाऊँ शब्द की व्युत्पत्ति देकर इसे कूर्मांचल का तद्भव रूप माना है। इसमें 'इ' प्रत्यय लगाकर कुमाउँनी शब्द बनता है (पृ० १२)।

किन्तु डा० सुनीति कुमार चैटर्जी कूर्मांचल से कुमाऊँ की व्युत्पत्ति दूरारूढ़ समझते हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'ल' वर्ण के लोप होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उन्होंने सम्भावना प्रगट की है कि क्या यह मूलशब्द 'कूर्मा-यत' नहीं हो सकता ? व्युत्पत्ति चाहे जो हो कुमाऊँ शब्द का प्रयोग दसवीं शताब्दी के उपरान्त मिलने लगता है।

आरम्भ में कुमाऊँ शब्द आज की भाँति विस्तृत क्षेत्र का द्योतक न होकर केवल चम्पावत और उसके निकटवर्ती ग्रामों के लिये प्रयुक्त होता था। काली नदी के बाईं ओर का भू-भाग इसी नाम से सम्बोधित किया जाता था जिसे अब काली कुमाऊँ कहते हैं। सन् १५६३ ईसवी में चन्द राजाओं ने अल्मोड़ा नगर को अपनी राजधानी बनाया जिसके उपरान्त यह सम्पूर्ण जिला अल्मोड़ा व नैनीताल का द्योतक हुआ। इस सम्बन्ध में अल्मोड़ा गजेटियर के लेखक एच. जी. वाल्टन के शब्द पठनीय हैं—

'इट मस्ट बी रिमेंबर्ड दैट इन इट्स अर्लियेस्ट सिग्निफिकेंस कुमाऊँ डिनोटस द ट्रैक्ट ऑफ कंट्री लाइंग एलाँग द लेफ्ट बैंक ऑफ दी काली रिवर एण्ड दैट इज नॉट टिल आफ्टर द चन्द्स हैंड एस्टैब्लिश्ड देयर कैपिटल एट अल्मोड़ा (१५६३) दैट द नेम कुमाऊँ कवर्ड द प्रेजेंट लिमिट्स ऑफ द अल्मोड़ा एण्ड नैनीताल डिस्ट्रिक्टस एण्ड काली कुमाऊँ वाज़ रिस्ट्रिक्टेड टु इट्स ओरिजिनल सिग्निफिकेशन'' (पृ० १६८)।

'कुर्मांचल' नाम का उल्लेख अभी तक प्राप्त सन्दर्भों से सर्व प्रथम काली कमाऊँ के एक शिलालेख में मिलता है जो नागनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर में है। यह शिलालेख वीरचन्द के समय का है। इसमें कुमाऊँ के प्रसिद्ध राजा रुद्रचन्द का नाम आया है जिसने अपने शासन काल में बालेश्वर मन्दिर में कुमाऊँ के मठ की स्थापना की। चन्द राजाओं के विभिन्न ताम्रपत्रों में इस कुमाऊँ मठ का वर्णन कई बार हुआ है। (उत्तरा खण्ड भारती १६७३) इस प्रकार पहले परगना काली कुमाऊँ के लोगों को ठेठ कुमैयां कहा जाता रहा। चन्द राजाओं का जो राज्य चम्पावत में स्थापित हुआ उसे 'कुमूं' कहा गया। 'कुमूं' शब्द 'कूर्म' का तदभव रूप है। 'कूर्म' कुम्म कुमूं यह इसका विकास है। यह कुमूं शब्द आजतक इसी रूप में कुमाउँनी बोलियों में प्रचलित है। इधर नवीन शोधों के अनुसार डा० भवानीदत्त उप्रेती का कहना है कि हिन्दी की प्रकृति के अनुसार बोलने और लिखने पर 'कुमूं' शब्द में 'कुमाऊँ' रूप में प्रचलित होना तर्क गम्य है। (कुमाउँनी भाषा का अध्ययन-पृ०-३) अर्थात् वे 'कुमूं' से कुमाऊँ होना मानते हैं।

हमारे विचार से 'कुमाऊँ' और 'कुमूं' शब्दों की व्युत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से क्रमशः 'कूर्माचल' तथा 'कूर्म' शब्द से होनी चाहिए। मूलशब्दों का रूपगत भेद इनके व्युत्पन्न रूपों में भी विद्यमान है।

स्थिति चाहे जो हो, चंपावत में स्थापित चन्दों के राज्य को 'कुमूं' कहा गया। धीरे-धीरे चौदहवीं शताब्दी तक असकोट, सोर, शीरा, चौगर्खा, गंगोली, पाली, फल्दाकोट जैसे भूभाग चन्द वंश के राज्य अर्थात् 'कुमूं' के अन्तर्गत आते गए और इस नाम का अर्थ विस्तार होता गया। चन्द राजाओं के राज्य विस्तार के साथ कुमाऊँ शब्द का अर्थ विस्तार होता गया और इस प्रकार आज यह शब्द अल्मोड़ा-नैनीताल के सभी निवासियों एवं भूमिभाग के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में श्री बद्रीदत्त पांडे का यह दृष्टिकोण विचारणीय है

''वास्तव में कुमाऊँ प्रान्त से जिस-जिस मुल्क या प्रदेश का बोध होता है वह अल्मोड़ा में नैनीताल के पहाड़ी ज़िले हैं। इस समय परगना काली कुमाऊँ

में गंगोली और चौगर्खा भी शामिल हैं। पर गंगोली और चौगर्खा के लो वास्तव में कुमैय्यें नहीं कहे जाते। वे गंगोला और चौगर्खिये कहलाते हैं। पहले परगना काली कुमाऊँ के लोग ही ठेठ कुमैय्ये कहे जाते रहे हैं। किन्तु अब यह शब्द अल्मोड़ा और नैनीताल के तमाम लोगों के लिए काम में लाया जाता है। चंद राजाओं ने ही इस नाम को सबमें प्रख्यात किया।'' (कुमाऊँ का इतिहास—पृ० १)

कुमाऊँ की उत्तरी सीमा में तिब्बत, पूर्वी सीमा में नेपाल राज्य, पश्चिमी सीमा में गढ़वाल और दक्षिणी सीमा में मुरादाबाद, रामपुर, बरेली तथा पीलीभीत के जिले हैं। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाएँ प्रकृति द्वारा निर्मित हैं। उत्तर में हिमालय के बड़े-बड़े पनढाल तथा हिमगल इसे तिब्बत से पृथक करते हैं। पूर्व में विशाल काली नदी इसे नैपाल राज्य से पृथक् करती है और पश्चिम की ओर रामगंगा नदी के अतिरिक्त पहाड़ी घाटियों तथा शिखरों की एक लंबी श्रेणी है जो नंदा देवी, त्रिशूल, पिंडारी से होती हुई बधान गढ़ी और देघाट में जाकर समाप्त होती है। इस पर्वत श्रेणी के दूसरी ओर गढ़वाल का जिला फैला हुआ है। दक्षिण में भाँबर और तराई के भूभाग इसे मैदानी भागों से जोड़ते हैं। भाबर और तराई शासन की सुविधा मात्र के लिए जिला नैनीताल के अंतर्गत हैं यद्यपि कुमाऊँ का पर्वतीय भूभाग भाबर से समाप्त हो जाता है। कुमाऊँ की दक्षिणी सीमा प्राकृतिक नहीं है अतः मैदानी लोगों के पहाड़ों में आने जाने के लिए यह पर्याप्त सुविधा जनक लगती है।

इन सीमाओं के बीच अपने पड़ोसी क्षेत्रों से प्रभावित होते हुए कुमाउँनी लोकसाहित्य का विकास प्राचीनकाल से लेकर आजतक होता चला आ रहा है। दक्षिणी क्षेत्रों का प्रभाव प्रमुख होने पर भी अपनी विशेष स्थिति के कारण यहाँ की निजी प्रवृत्तियाँ अभी तक सुरक्षित हैं। यद्यपि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें विशेष स्थितियों में एक बड़ी सीमा तक इसके संग्रह कार्य में कठिनाई उत्पन्न की है।

प्राचीन उल्लेख––

कुमाउँनी लोक-साहित्य में स्थान-स्थान पर रामायण, महाभारत और पुराणों के व्यापक उल्लेख मिलते हैं जिसका मुख्य कारण इस क्षेत्र की अत्यन्त प्राचीनता है। भारतीय इतिहास लेखकों को भले ही इस क्षेत्र के बारे में अधिक ज्ञान न रहा हो किन्तु कुमाऊँ तथा इसके निकटवर्ती पर्वत प्रदेश की प्राचीनता असंदिग्ध है। यहाँ का उल्लेख एकाधिक बार प्राचीन रचनाओं में मिलता है। रामायण, महाभारत, पुराणों, इतिहास ग्रंथों तथा साहित्यिक रचनाओं में इस भूभाग के और स्थानीय जातियों के जो वर्णन

मिलते हैं उनके उल्लेख इसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं। स्थानीय संस्कृति की इन्हीं लोगों की धरोहर यहाँ के लोक-साहित्य में उतर आई है।

बहुत पुराने व्यक्तियों में इस ओर फैली हुई हिमालय पर्वत की संपूर्ण शृंखला को पांच खण्डों में विभाजित किया था जिनमें नैपाल, केदार खण्ड, जलन्धर और कश्मीर के साथ कूर्माचल नाम भी प्रयुक्त हुआ है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार से पांच खंड इस प्रकार उद्धत हैं—(१) नेपाल, (२) कूर्माचल, (३) केदार, (४) जलन्धर और (५) काश्मीर, हिमालय परिचय भा० १—पृ० ३)

"खण्डाः-पंच हिमालयस्य कथिता नेपाल-कूर्माचलौ।
केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिरः कश्मीर संज्ञोऽन्तिमः ।।"

स्कन्द० केदार खण्ड अ० ४०।२८–२६

काली नदी के पूर्व नैपाल का राज्य फैला हुआ है, काली नदी के पश्चिम में कूर्माचल या कुमाऊँ या जो नन्दकोट अथवा पश्चिमी रामगंगा तक विस्तृत था इसकी पश्चिमी सीमा से लेकर यमुनानदी तक अथवा गंगा-यमुना के पनढालों तक का भूभाग केदार खण्ड था जो मध्यकाल में अनेक छोटे-छोटे सामन्तीय दुर्गों अथवा गढ़ी में विभक्त होने के कारण 'गढ़वाल' कहा जाने लगा। इसके और पश्चिम में चलते हुए जालंधर तथा कश्मीर के भूभाग आजतक भारतीय मानचित्र में स्पष्ट हैं।

'वाल्मीकि रामायण' में उत्तर कुरु राज्य के अंतर्गत एक ऐसे प्रदेश का भी वर्णन मिलता है जहाँ वर्षा, धूप, रोग और दुख नहीं है।

'महाभारत' में एकाधिक स्थलों पर इस भूमि भाग की विशेषताएँ उल्लिखित हैं। वनपर्व में किरात, तंगण, कुलिन्द आदि जातियों का नाम आया है जो यहाँ की घाटियों में निवास करती थीं। (महा० वन पर्व १४०।२४-२६) सभा पर्व में दुर्योधन ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित सम्राटों का नाम लेते हुए कहा है कि मेरु मन्दर पर्वतों के बीच शैलोदा नदी के तट पर कीचक वेणु वृक्षों की छाया में खस, एकासन, दीर्घवेणु, पारद, कुलिंद, तंगण और परतंगण नामक राजा रहते हैं जो पिपीलिका जाति का स्वर्ण तथा काले लाल रंग के चंवर आदि लेकर आए थे। (सभा पर्व ५२।१-५)

इसी पर्व के अट्ठाइस-उन्तीस अध्यायों में अर्जुन की दिग्विजय के अंतर्गत यह उल्लेख है कि वे हिमवन्त को जीतकर श्वेत पर्वत पर गए और वहाँ मुनिकन्याएं देखीं। द्वारपालों ने उन्हें रोकते हुए कहा कि यह गंधर्व नगरी है, उत्तर

कुरु देश है और यहाँ जीतने की कोई वस्तु नहीं। द्रोणपर्व में दरदा खस, तंगण, लम्बाक आदि जातियों का दुर्योधन की ओर होना कहा गया है जो पत्थर भाले लेकर युद्ध भूमि में उपस्थित हुए थे। कहीं पर रामायण की भाँति इसे स्वर्ण भूमि और धर्मात्माओं का स्थान कहा गया है यहाँ दुख, जरा, चिंता, भूख प्यास व व्याधियां नहीं व्यापतीं। लोग सहस्रों वर्षों तक जीवित रहते हैं। यहाँ वर्षा नहीं होती क्योंकि जल यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है और काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (वनपर्व १६३।१२-२६ एवं अध्याय १६८)।

'पुराण ग्रंथों' में इस पर्वतीय भूभाग का और विस्तार पूर्वक उल्लेख हुआ है, मेरु पर्वत को हिरण्यमय जैसे नामों से अभिहित किया गया है 'ब्रह्म पुराण' तथा 'वासु पुराण' में वैवस्वत, सोम, वायु, नागराज, विद्याधर, यक्ष किन्नर आदि जातियों का नाम मिलता है। 'स्कन्द पुराण' के मानस खंड में इसका विस्तृत वर्णन है जहाँ अल्मोड़ा नगर का पर्वतीय भाग कोसी और सुवाल नदियों के बीच काषांय पर्वत के नाम से उल्लिखित है। कोसी नदी संभवतः कौशिकी है और सुवाँल नदी का पुराना नाम शालमली है। इस संबंध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

"कौशिकी शालमली मध्ये पुण्य काषाय पर्वतः
तस्य पश्चिम भागे वै क्षेत्र विष्णो : प्रतिष्ठितम् ॥"

अल्मोड़ा नगर के पूर्व और पश्चिम में अभी तक सुवाँल और कोसी नदियाँ बहती हैं। 'श्रीमद् भागवत् पुराण में जहाँ मार्कण्डेय ऋषि की कथा का वर्णन है वहाँ चित्रशिला के ऊपरी भाग का उल्लेख हुआ है—यहाँ पर उनका आश्रम था और पुण्य भद्रा नदी बहती थी। यह चित्रशिला आजकल काठगोदाम के आगे दो मील पर स्थित है और रानीबाग के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से पुल पार करने पर पर्वतीय भाग आरंभ हो जाता है। पुण्यभद्रा संभवतः आज की गौला नदी है।

"ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे
पुण्यभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिलावुभौ ॥"
(श्रीमद्भागवत १२।८)

'मानस खण्ड' में मानसरोवर से लेकर नन्दादेवी और पिंडर नदी के किनारे किनारे होते हुए कर्णप्रयाग तक का वर्णन मिलता है और कोसी नदियों से लेकर प्रायः मैदानों तक फैला हुआ है। इसमें पर्वत श्रृंखला के निम्न भाग से लेकर काली नदी तक का वर्णन है।

'मानस खंड, में स्कन्द पुराण का एक भाग है जिसमें ऐतिहासिक तथा अनैतिहासिक आश्चर्य जनक घटनाओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। यह तत्कालीन लोकमानस की कल्पना शक्ति का अद्भुत परिचायक है। श्री बदरीदत्त पांडेय ने अपने कुमाऊँ के इतिहास में इसका कुछ अंश उद्धृत किया है। यह ग्रंथ राजा जनमेजय तथा सूत पौराणिक के बीच संवाद रूप में प्रारंभ होता है।

राजा ने सूत से पृथ्वी की उत्पत्ति और विभिन्न तीर्थों के निर्माण संबंधी प्रश्न किये। सूत ने इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए राजा वेणु और राजा पृथु कथाएँ सुनाईं जिनका संबंध कुमाऊँ के धार्मिक स्थान जागेश्वर से बताया जाता है। महादेव पार्वती के विवाह कत्यूर परगने से संबंध रखता है। हिमांचल माहात्म्य के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में मानसरोवर जाने का जो मार्ग निर्दिष्ट किया गया है उसमें आज के कई प्रसिद्ध स्थान सम्मिलित हैं। लौटने के मार्ग में भी अनेक कुमाउँनी स्थानों के नाम आए हैं जिनमें सोने चाँदी की खानों तथा नन्दा, दारुन, द्रोण, पंचसिर आदि पर्वतों की चर्चा हुई है।

'वायुपुराण' के तत्संबंधी उल्लेखों से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पश्चिमी कुमाऊँ में किन्नर (वर्तमान कुशौत) यक्ष या खस, सिद्ध दानव, दैत्य, गंधर्व आदि लोग निवास करते थे जो या तो भिन्न-भिन्न जातियों के नाम या उनके वंश धरों के। यक्षों को कुबेर का सेवक कहा गया है अप्सराएँ किन्नरों की पत्नियाँ थीं। गंधर्व जाति जड़ी बूटियों के ज्ञान में पारंगत थी। 'विष्णु पुराण' में यहाँ की प्रसिद्ध खस जाति की चर्चा एकाधिक बार हुई है। राक्षस तथा नागों के साथ इन्हें आदित्य का सेवक भी कहा गया है।

इन प्राचीन ग्रन्थों में यत्र तत्र उल्लेखों के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी की कुछ साहित्यिक रचनाओं में भी इस भूभाग का नाम मिलता है। 'अमरकोष में विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, गंधर्व, किन्नर आदि जातियों का उल्लेख हुआ है। (प्रथमकांड) श्लोक महाकवि कालिदास ने कुमार संभव में कुमार जन्म स्थान देवदारु की इसी भूमि में मानकर किरातों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"भागीरथी निर्झर सीकराणां मुहुः कंपित देवदारुः
यद्वायुगान्विष्ट मृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न शिखंडबर्हः"

(सर्ग १।१५)

उन्होंने 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय के समय हूण जाति का उल्लेख किया है जिसकी एक शाखा पर्वत श्रेणियों में फैलती हुई विस्तृत हो गई। सर्ग ४।६८)

हिन्दी साहित्य की प्राचीन 'रचना पृथ्वीराज रासो' में कुमाऊँ का शब्द प्रयोग किया गया है जहाँ तत्कालीन दुर्जेय गढ़ में कुमोदमणि नामक राजा राज्य करता था—

"सवालष्य उत्तर सयल कुमऊँ गढ दूरंग।
राजत राज कुमोदमनि हय गय दृब्ब अभंग॥"

(पद्मावती समय २०।३१)

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में पर्वतीय जातियों के अंतर्गत आभीर, यवन, कोल किरात, शबर, खस आदि जातियों का उल्लेख किया है—

"आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे
कहि राम वारक तेऽपि पावन होंहि राम नमामि ते।"

(उत्तरकांड।)

और मध्य काल की एक सूफी काव्य कृति उस्मान की चित्रावली में खसों का स्पष्ट निवास कुमाऊँ बतलाया गया है। कवि कुमाऊँ का नाम लेकर कहता है कि उस गाँव अर्थात् स्थान में खस लोग निवास करते हैं—

"सिरी नगर गढ़ देखि कुमाऊँ; खसिया लोग बसहि तेहि गाऊँ।"

हिन्दी रीतिकालीन कवि मतिराम का भी तत्कालीन कुमाउँनी राजा उद्योत चन्द (१६७८-१६९८ ई०) से अच्छा परिचय था जिन्होंने अपनी कविताओं से राजा को प्रभावित कर लिया था।

इतिहास में उल्लेख—

कुमाऊँ की प्राचीनता के उपर्युक्त संकेत साहित्यिक रचनाओं के आधार पर हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास-कारों ने भी यथा स्थान स्थानीय भूभाग और जन जातियों का उल्लेख किया है जैसा कि एडविन अटकिंसन ने अपने गजेटियर में लिखा है कि यूनानी इतिहासकारों में प्लिनी और टालमी ने अपने विवरणों में यहाँ के 'कुने' 'तोषारी', कैसिरी' जैसी जातियों का नाम दिया है जिनमें 'कुने' तो कन्नौर के 'कुशौत' लोग हैं जो तिब्बत में 'कुन' नाम से प्रसिद्ध थे। तोषारी तुरुक लोग हैं और 'कैसिरी' लोग 'खसिरा' से संबंध रखते हैं जो खसा जाति की एक शाखा थी। कश्मीर के निवासी आज तक कशीरुप कहलाते हैं। टालमी ने विवरण १५१ तक कर लिया था। उसने फुणिन्दों का निवास व्यास, सतलज, जमुना तथा गंगा नदियों के उद्गम स्थान पर माना है (हिमालयन डिस्ट्रिक्टस खंड २-पृ० —३५३)

श्री लक्ष्मण सिंह परमार ने लोहाघाट तथा काली कुमाऊँ के निवासी परमार लोगों पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि राजा पुरु

परमार ही था । कुमाऊँ में स्थूरा–प्यूरा के जो गीत गाए जाते हैं वे संभव है कि सम्राट सिकंदर और राजा पोरस की स्मृतियां सुरक्षित रक्खे हुए हों ।

समुद्र गुप्त के राज्यकाल में उपहार आदि लेकर सम्मिलित होने वाले राजाओं में कामरूप, नेपाल के साथ कीर्त्तपुर स्थान का उल्लेख हुआ है जो वस्तुतः कत्यूरी राजाओं की कुमाउँनी राजधानी कीर्त्तकैयपुर थी । पावल प्राइस के मतानुसार उन्होंने कुणिन्द, राज्य के एक भाग पर अधिकार कर लिया था । (ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० ७२)

सातवीं शताब्दी में सम्राट हर्षवर्धन के समय चीनी यात्री ह्वेन सांग ने जिन स्थानों का उल्लेख किया है उन्हें 'ब्रह्मपुर' और 'गोविषाण' स्थानों से संबद्ध किया गया है । 'ब्रह्मपुर' की भौगोलिक सीमाएँ पूर्णतः कुमाऊँ गढ़वाल वर्तमाम विशेषताओं को लक्षित करती हैं और 'गोविषाण' काशीपुर के आसपास का इलाका था जहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था । दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के उपरान्त भावर तराई का भाग जो 'कठेड़' कहलाता था, गुलाम खिलजी और तुगलक वंशों के शासकीय संपर्क में आता गया । हिन्दू राज्य पारस्परिक संघर्ष मुसलमानी राज्य विस्तार के शिकार हो रहे थे । अतः जिन राजपूतों में यवन शक, कुशान, हूण रक्त का मिश्रण हो चुका था, उनकी विभिन्न शाखाएँ यहाँ आकर बसती गईं । ये राजपूत यहाँ की प्राचीन क्षत्रिय जातियों के साथ घुल-मिल कर पुनः शक्तिमान हो गए । राजस्थानी बोलचाल और आचार विचारों का यहाँ यथेष्ठ प्रभाव हैं जिसके प्रमाण कुमाउँनी भाषा में मिलते हैं ।

मुगलों के शासन काल में एकाधिक स्थानों पर कुमाऊँ की चर्चा हुई है । 'आइने अकबरी' में सम्राट् अकबर के 'सरकारों' की गणना करते हुए पाँच ऐसे नाम मिलते हैं, जहाँ कर वसूल नहीं, होता था । इनमें 'भुकासी', 'शहजगीर', 'गजरपुर', और 'मालवराह' जैसे नाम हैं जो वर्तमान तराई के बोकसाड़ (रुद्रपुर) जसपुर, गदरपुर और माल (तराई भावर) नामक क्षेत्र हैं । 'कुमायूँ' नाम सर्व प्रथम 'आइने अकबरी' में ही प्रयुक्त हुआ है, 'सरकार कुमायुँनी' नाम का सूबा, 'सरकार बदायूँनी' नामक सूबे से मिला हुआ था । इसमें २७ महाल थे ! चन्दराजाओं के राज्य के दो मुख्य विभाग थे 'पहाड़ और 'माल' पहाड़ी क्षेत्र पूर्व में काली नदी से लेकर पश्चिम में गढ़वाल की तत्कालीन सीमा तक विस्तृत था जिसमें कई घाटियाँ, पहाड़ियां थी । 'माल' क्षेत्र की तराई का भूभाग सम्मिलित था ।

बद्रीदत्त पांडे के अनुसार मुसलमान इतिहासकारों ने तराई भाबर को 'दामनकोह' नाम से संबोधित किया है । अकबर ने नगरकोस की चढ़ाई करते समय कुमाउँनी राजा रुद्रचंद्र (१५६५-९७) से प्रसन्न होकर 'कौशमी माल'

अर्थात् वर्तमान तराई भावर का भाग उसे वापस लौटा दिया था। राजा लक्ष्मी-चन्द (१५९७—१६२१ ई०) जहाँगीर के दरबार में गए थे। बाज बहादुर चन्द (१६३८—१६७८ ई०) शाहजहाँ के समक्ष उपस्थित हुए थे जिसका प्रमुख कारण कठेड़ों का उपद्रव बताया जाता है।

सन् १७४४-४५ में कुमाऊँ पर रुहेलों के आक्रमण हुए। वे लोग वर्तमान काठगोदाम से होते हुए अल्मोड़ा के कटारमल तक भीतरी भाग में प्रवेश कर गये यद्यपि कुमाऊँ के निवासियों ने उन्हें भगा दिया। यहाँ कुछ मंदिरों के भग्नावशेष तथा खंडित मूर्तियाँ अभी तक उनका स्मरण कराती हैं। सन् १७८९ ई० में नैपाल के राजा रणबहादुर ने कुमाऊँ पर आक्रमण करके इसे अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार कुमाऊँ गोरखा शासन के अंतर्गत आ गया।

सन् १८१५ में नेपाल के साथ अंग्रेजों की संधि के फलस्वरूप कुमाऊँ अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया और एक अंग्रेज कमिश्नर इसकी देख रेख के लिये नियुक्त किया गया। सन् १९४७ में भारत अन्य प्रदेशों की भाँति यह क्षेत्र भी विदेशी शासन से मुक्त हुआ।

इन प्राचीन उल्लेखों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह नहीं है कि हम यहाँ पर कुमाउँनी इतिहास की गहराई में जाएँ वह तो इतिहास का विषय है। लोक-साहित्य की पृष्ठभूमि की दृष्टि से इनका महत्व यह है कि ये उल्लेख कुमाऊँ की प्राचीनता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। कुमाउँनी भाषा में प्रयुक्त अनेक अरबी-फारसी शब्दों की (जैसे, 'अकल,' 'अदालत,' 'अमन', 'इनाम,' 'खबीस', 'नजर,' 'फ़ुरसत,' 'गरीब' आदि व्याख्या इसी पृष्ठ भूमि के आधार पर होतीं और ये शब्द यहाँ के लोक-साहित्य में प्रवेश कर चुके हैं।

ये उल्लेख इसलिये भी महत्व रखते हैं कि इनके आधारों पर विद्वान उन विभिन्न जातियों के संबंध में छानबीन करते हैं जिन्होंने प्रागैतिहासिक काल से यहाँ की लोक-संस्कृति का निर्माण किया। लोक-साहित्य में इन्हीं जातियों की विविध परंपराओं और विशेषताओं का सम्मिश्रण हुआ है।

मध्ययुग में कुमाऊँ के भावर तराई वाले भाग की स्थिति अनिश्चित रही। एक तो विद्रोहियों के कारण और दूसरे मुसलमानों के यथेष्ठ संख्या में आते रहने के कारण यहाँ जन-जीवन में उथल पुथल होती रही। कुमाऊँ का पर्वतीय भाग इन हलचलों से अवश्य अप्रभावित जैसा रहा। चंद लोग अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक शासन करते रहे। किन्तु यह मानना ठीक नहीं होगा कि राज्य शासन के पृथक होने के कारण कुमाउँनी विचार परंपरा भी अलग विकसित हुई होगी।

यहाँ अनेक जातियों का निरंतर आवागमन इतिहास द्वारा सिद्ध है। सीमावर्ती भाग जैसे भोट और भाबर तराई के इलाके क्रमश: तिब्बती और देशी प्रभाव सूचित करते हैं। इसी प्रकार मुगल दरबार के साथ सीधे संबंध होने से यह संकेत मिलता है कि उनके विचार, रीति, पद्धतियाँ यहाँ व्यापक हुई होंगी। कुमाऊँ में मुसलमान हैं, उनकी उपजातियां हैं और ईसाई धर्म को मानने वाले लोग भी हैं। मुसलमानों के अनेक पीर और औलिया दक्षिणी भागों में उतने ही पूजे जाते हैं जितने कि उत्तरी भागों में ठेठ गृह देवता महत्व रखते हैं।

उल्लेखों की व्याख्या—

इस प्रकार कुमाउँनी लोक-साहित्य की रूपरेखा निर्धारित करने में यहाँ दो तत्व स्पष्ट रूप से लक्षित होतेहैं। एक ओर तो उसकी स्थानीय विशेषताएँ हैं जो यहाँ की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि से स्पष्ट होती हैं और दूसरी ओर उस पर व्यापक हिन्दू संस्कृति का प्रभाव है। यह बात कुमाउँनी लोक-संस्कृति के विषय में उतनी सही है जितनी लोक-साहित्य के विषय में कही जाती है। पहली स्थिति का कारण मुख्यत: स्थानीय है जो यहाँ के विशेष वातावरण से संबंध रखता है जब कि दूसरी स्थिति की समुचित व्याख्या इन्हीं विभिन्न उल्लेखों के आधार पर की जा सकती है जिनकी चर्चा ऊपर हुई है।

कुमाऊँ के लोक-जीवन में हिन्दू संस्कारों, आचार-विचारों, सामान्य विश्वासों आदि के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों की एकाधिक कथाओं का लोक-जीवन पर व्यापक प्रभाव है। गोरखनाथ, कबीर, नानक, तुलसी जैसे भक्त साधकों की भावनाओं से परिपूर्ण रचनाएँ यहाँ व्याप्त है। इसके साथ 'दादरा, 'गजल' जैसी गायन शैलियों तथा अन्य राग रागनियों का प्रभाव दिखाई देता है जिनका विकास मुसलमानी शासन-काल में हुआ।

आधुनिक काल में यह प्रभाव अधिक व्यापक हुआ है जिसका प्रमाण यह है कि आज लोक-जीवन के साथ-साथ स्थानीय भाषा हिन्दी से उत्तरोत्तर प्रभावित होती जा रही है। इसी समानता और एकता का संकेत उपर्युक्त उल्लेखों से होता है। स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से कुमाऊँ में अनेक जातियों वंशों के लोग आते रहे जिन्होंने यहाँ की संस्कृति और साहित्य को प्रभावित किया।

मुगलकाल में तो बाहरी भागों से निरन्तर संपर्क बने रहने का विवरण प्राप्त होता है। कहा जाता है कि उस समय दिल्ली दरबार से पत्र-व्यवहार

करते समय फारसी भाषा प्रयुक्त होती थी यद्यपि इस विषय में प्रमाणों का अभाव होने के कारण निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि पत्र-व्यवहार होता होगा तो वह राज-दरबार तक सीमित रहा होगा अन्यथा लोक रचनाओं, हस्तलिखित ग्रंथों, या ताम्रपत्रों में इसके उदाहरण मिलने चाहिये थे। संभव है कि इस प्रकार के उदाहरण अभी तक अंधकार में हों। संस्कृत और कुमाउँनी में अवश्य शिलालेख और ताम्रपत्र पाए गए हैं।

इन प्राचीन उलेल्खों द्वारा एक अन्य तथ्य स्पष्ट होता है कि कुमाऊँ को हम सरलता से एक ऐतिहासिक जनपद के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। बौद्ध कालीन महाजनपदों में यद्यपि इस प्रदेश का कहीं उल्लेख नहीं है फिर भी इसकी विशिष्टता असंदिग्ध है। प्रागैतिहासिक काल में यह 'मेरु' प्रदेश का एक अंग था जिसमें हिमालय के कुछ अन्य निकटवर्ती भूभाग भी सम्मिलित थे। किरात जाति की प्रधानता होने पर इस भूभाग को 'किरात मंडल' कहा गया। कुमाउँनी क्षेत्र इसी मंडल के अंतर्गत था। तदुपरान्त किन्नर जाति की प्रधानता होने के कारण इसे 'किन्नर देश' कहा गया।

ऐतिहासिक काल में खस जाति द्वारा विजित होने पर यही भूभाग 'खस-मंडल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के पुराने ग्रंथों तथा अन्यत्र खस देश का बार-बार उल्लेख हुआ है। 'केदारे खस मंडले' की उक्ति के अनुसार केदारखंड खस देश का पर्याय है। किन्तु खसों की निवास भूमि बड़ी विशाल रही है जिसमें किसी समय काशगर से लेकर प्राय: संपूर्ण हिमालय सम्मिलित था। वर्तमान समय में भी यहाँ के स्थानीय समाज में खस लोग अपनी संख्या के कारण विशेष महत्व रखते हैं।

आर्य जनपदों की स्थापना के समय कुरु जनपद, पांचाल जनपद तथा उत्तर कोसल जनपद के साथ इस पर्वतीय भूभाग का घनिष्ठ संबंध मालूम होता है और संभव है कि मगध जनपद के साथ भी यह संबंध रहा हो। यदि बौद्ध काल में इसका उल्लेख नहीं मिलता तो इसके कई कारण हो सकते हैं। यह किसी अन्य महाजनपद जैसे कुरु या पांचाल का एक भाग रहा हो, प्रभाव शाली न होने के कारण और तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों से दूर रहने के कारण उत्तर भारत तत्कालीन जनपदों में इसकी गणना न की गई हो, इसे आर्यो से भिन्न जातियों द्वारा बसा हुआ माना गया हो, आदि। पावल प्राइस ने अपने भारत के इतिहास में यह विचार प्रकट किया है कि यह भूभाग मौर्य साम्राज्य के समय कुणिन्द राज्य का एक भाग रहा होगा। कुण्निन्दों के सिक्के कुमाऊँ और गढ़वाल में पाए गए हैं जो चाँदी के बने हुए हैं ('ए' हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'—पृष्ठ, ६९)

उत्तर कोसल की राजधानी हिमालय पहाड़ों की तलहटी में थी और इस राज्य की शक्ति पहाड़ी सेवाओं पर निर्भर थी। अत: संभव है कि रामायण काल में इस भूभाग के संवंध उत्तर कोसल के साथ हों। संभव है कि पांचाल जनपद के साथ भी इसके संवंध हों क्यों कि इसमें वर्त्तमान रुहेल खण्ड का भाग सम्मिलित था। गंगा नदी पांचाल कहा जाता था जिसकी राजधानी वर्तमान बरेली जिले के 'अहिक्षेत्र' नामक स्थान में थी। कुमाऊँ की दक्षिणी सीमा आज भी इस जिले का स्पर्श करती है।

किन्तु कुरु जनपद के साथ इस भूभाग के अधिक घनिष्ठ संबंध मालूम पड़ते हैं जिसके एकाधिक आधार हैं। यदि कभी इतिहास ने अर्जुन की दिग्विजय में कुमाऊं के भूभाग के सम्मिलित होने को प्रमाणित किया तो इसकी कुरु जनपद में होने की संभावना सरल हो जाएगी।

श्री बद्रीदत्त पांडेय ने लिखा है "राजा द्रुपद को द्रोणाचार्य ने महाभारत से पूर्व जीता था और उनके राज्य को कौरव—राज्य में मिला लिया था। उत्तरी भाग उन्होंने लिया, दक्षिणी भाग द्रुपद को लौटा दिया। इस राज्य की राजधानी अहिक्षेत्र थी जो काशी पुर से छियासठ मील पूर्व को है। काशीपुर का द्रोण सागर उसी समय बना था। कौरव लोग शायद कूर्मांचल के भी राजा थे जो उस समय उत्तर कुरु में शामिल था।' (कुमाऊँ का इतिहास पृ० १७८)।

इस धारणा के विषय में मतभेद हो सकते हैं किन्तु इतना निर्विवाद है कि पांडवों का विशेष रूप से इस भूभाग के साथ संवंध था। वे लोग द्रौपदी के साथ हिमालय के इन भागों में घूमते हुए मेरु पर्वत तक पहुँचे थे। हिमालय की तलहटी कुमाऊँ—गढ़वाल में पांडवों से संवंध रखने वाले अनेक आख्यान अभी तक लोक परंपरा में सुरक्षित हैं और इस परंपरा को प्रमाणित करते हैं।

इतिहासकारों ने कुरु जनपद का क्षेत्रफल लगभग दो हजार वर्ग मील माना है जिसके पूर्व में पांचाल जनपद तथा दक्षिण में मत्स्य प्राचीन जनपद था। यह स्मरण रखना चाहिये कि आर्यों का सर्व प्रमुख एवं प्राचीन जनपद कुरु जनपद ही था। विद्वानों के मतानुसार 'पांचाल, काशी तथा मगध जनपदों के शासक कदाचित मूल कुरु जनपद से संवंद्ध थे। अत: ये जनपद कुरु जनपद की शाखाएँ माने जा सकते हैं।' भाषा में, यज्ञ संवंधी नियमों में धर्मशील और आचार में कुरु जनपद दूसरे लोगों के लिये आदर्श बना रहा जिससे यह संकेत मिलता है कि कदाचित यह प्राचीनतम आर्य जनों का प्रतिनिधि जनपद था। कुमाऊँ का उसके साथ यह संबंध प्राचीनता और ऐतिहासिकता की दृष्टि से महत्व रखता है।

मध्यकाल में हिमालय का यही मध्यवर्ती भूभाग 'सपादलक्ष' के नाम से

प्रसिद्ध रहा जिसका एक अंग कुमाऊँ भी था। इस संबंध में हिन्दी के प्रसिद्ध भाषाविद डा०—धीरेन्द्र वर्मा का यह मंतव्य उल्लेखनीय है—

पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्वकाल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को ये लोग पूर्व राज-स्थान की ओर चले गए थे। मुसलमान काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में जा बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, उस समय खस विजेताओं के साथ यहाँ के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। ('हिन्दी भाषा का इतिहास'—पृ० ५६)

इस प्रकार कुमाउँनी भूभाग के लिये प्राचीन नाम की कल्पना भी की जा सकती है। पहाड़ी भाषाओं की जननी के रूप में खस अपभ्रंश की कल्पना की गई है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी पहाड़ी भाषाओं को पैशाची, दरद अथवा खस प्राकृत पर आधारित मानकर मध्य-काल में उन्हें राजस्थान की बोलियों से प्रभावित समझते हैं। इसी आधार पर, यदि इस पहाड़ी भूभाग के लिए कुमाऊँ शब्द के पूर्ववर्ती 'खस प्रदेश' अथवा 'खस जनपद' जैसे किसी नाम की संभावना प्रकट की जावे तो अनुपयुक्त नहीं होगा। क्योंकि जैसा कि हम देख चुके है वहाँ के लिये 'खस मंडल' शब्द का प्रयोग तो होता ही रहा था। 'मंडल' अथवा 'प्रदेश' सामान्यतः जनपद के दूसरे नाम हैं।

अतः क्षेत्रीय और जनपदीय रूप में कुमाऊँ की एक निश्चित स्थिति है जिसकी एक विशिष्ट परंपरा है और कुमाउँनी लोक-साहित्य का प्रयोग एक सुनिश्चित अर्थ रखता है। इस अर्थ के साथ उसकी लगभग दो हजार वर्ष की दीर्घकालीन ऐतिहासिक परंपरा जुड़ी हुई है। आधुनिक काल में कुमाउँनी जन-जीवन पर नवीन सभ्यता और विचार-धारा का उत्तरोत्तर प्रभाव पड़ रहा है, फिर भी यह पर्वतीय भूभाग अभी तक अपनी विशिष्टता बनाए हुए है।

---

३. भौगोलिक पृष्ठभूमि

पहाड़ और नदियाँ—

लोक साहित्य का निर्माण जिन परिस्थितियों में होता है उनमें भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ प्रमुख होती हैं। इसके निर्माण में लोक गायकों तथा श्रोता समूहों की मनस्थितियाँ भी महत्व रखती हैं किन्तु गहराई में जाने पर स्पष्ट होगा कि ये मनस्थितियाँ भी विशिष्ट वातावरण से जन्म लेती हैं। लोक साहित्य प्रकृति की खुली गोद में पल्लवित होता है, इसलिये स्थान विशेष का भूगोल, वहाँ के वन पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ आदि सभी उसके माध्यम से आकार ग्रहण करते रहते हैं। जैसे जैसे यह साहित्य नगरों के परिनिष्ठित धरातल की ओर बढ़ता है, उसमें व्यक्ति विशेष प्रमुख होने लगता है जिसके फलस्वरूप वह प्रकृति से दूर हट जाता है। यहाँ पर हम देखेंगे कि कुमाऊँनी लोक साहित्य जिस प्रकृति और भूगोल की पृष्ठभूमि में निर्मित हुआ है, उसकी क्या विशेषताएँ हैं।

विशिष्ट भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक वातावरण के कारण उत्तर भारत के मैदानी जनपदों की अपेक्षा कुमाऊँ में कुछ विषताएँ लक्षित होती हैं। यहाँ के जनजीवन पर भौगोलिक स्थिति का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उन्हें अलग से पहचाना जा सकता है। इस प्रदेश में एक ओर से लगभग छब्बीस हजार फीट तक ऊँचे से ऊँचे शिखर और घाटियाँ हैं, अत्यन्त दुर्गम पर्वत मालाएँ हैं जहाँ सालभर हिमराशि गलने का नाम नहीं लेती और दूसरी ओर नीचे तक उतरते हुए लंबे चौड़े मैदानी भाग हैं जो लगभग एक हजार फीट तक नीचे उतरते चले गए हैं।

कुमाऊँ में असंख्य पर्वत मालाओं ने विशाल उपत्यकाओं का निर्माण किया है जो एक दूसरे के ऊपर उठती गई हैं। इन उपत्यकाओं को पारकर यहाँ के निवासी तिब्बत आते जाते रहे हैं। कुमाऊँ से तिब्बत जाने के लिए अनेक दर्रे हैं जिनमें दारमा दर्रा, सलसल दर्रा, चिनचिन, लिपुलेख दर्रा और किङ्गरी, बिङ्गरी प्रसिद्ध हैं। दर्रा गढ़वाल के माना दर्रा और नीति दर्रा से भी यहाँ के निवासी आते जाते रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप सीमावर्ती लोक गीतों पर तिब्बती प्रभाव लक्षित होता है।

तीव्र गति से बहने वाली नदियों के दोनों ओर फैली हुई उपत्यकाओं में सीढ़ीदार खेत अपनी अलग विशेषता रखते हैं। कहीं उपजाऊ और रमणीय घाटियाँ हैं, जैसे गिवार, गरुड़, सोमेश्वर आदि स्थानों की, जहाँ सौ सौ तक मनुष्य एक साथ खेतों में काम कर सकते हैं। पहाड़ों के बीच में उठते हुए लम्बे पतले खेत यदि एक ओर कल्पना की उड़ान भरने की प्रेरणा देते हैं तो दूसरी ओर जनजीवन को आर्थिक आधार प्रदान करते हैं। ये खेत केवल वर्षा के जल से उर्वर बनते हैं। खेती करने योग्य भूमि कुमाऊँ में बहुत कम है।

इसके उत्तर में विशाल तिब्बती पनढाल (बाटूर रोड) ऊँची शिखर मालाओं के रूप में विस्तृत हैं जो मुख्य रूप से उत्तर की ओर उत्तर पश्चिम की सीमा रेखा निर्धारित करते हैं। इनकी औसतन ऊँचाई १८००० फीट है। कुमाऊँ की पर्वत चोटियों में नंदा देवी २६६४० फीट ऊँची है त्रिशूल चोटी २३३६० फीट ऊँची है; नंदा कोट २२५१० फीट ऊँची है, पंचचूली २२६५० फीट ऊँची है, तथा बण कट्टर की ऊँचाई लगभग २२६४० फीट है। इन चोटियों का कुमाऊँनी लोकगीतों में प्रायः उल्लेख हुआ है। पंचचूली के शिखर बड़े पवित्र कहे जाते हैं और नंदा देवी तो चन्द राजाओं की कुल देवी ही थी।

यहाँ घाटियों में हिम के तैरते हुए पहाड़, 'ग्लेशियर' मिलते हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में 'गलु' कहा जाता है। ये हिमगल सैकड़ों फीट मोटे और मीलों लम्बे होते हैं। यहाँ मिलम, पंपू और पिंडारी नामक स्थानों के ग्लेशियर अधिक प्रसिद्ध हैं। पिंडारी ग्लेशियर तो केवल भारत में ही नहीं, विदेशों तक विख्यात हैं जो लगभग दो मील लम्बा, ३००-४०० गज चौड़ा, और १२०००-१३००० फीट ऊँचा है। मिलम ग्लेशियर यद्यपि इतना प्रसिद्ध नहीं है फिर भी कुमाऊँ में सबसे बड़ा होने के कारण महत्व रखता है। इसकी लम्बाई प्रायः पच्चीस मील है।

नदियों की दृष्टि से कुमाऊँ का भूभाग उलेखनीय है क्योंकि इनके द्वारा एक ओर यातायात की व्यवस्था होती है, दूसरी ओर इनके किनारे गाँव और नगर बसते हैं। कुमाऊँ में नदियों के दोनों ओर कहीं-कहीं विशाल समतल खेत होते हैं जिन्हें 'सेरा' कहते हैं। ये खेत कुछ विशिष्ट लोकगीतों की जन्मभूमि होते हैं। पहाड़ों में नदियों के द्वारा यातायात का अधिक प्रश्न नहीं उठता यद्यपि लकड़ी के निर्यात में नदियाँ सहायक होती हैं। किन्तु इन नदियों के समीप जो

असकोट, कत्यूर, जोहार गंगोली, पाली पछाऊँ आदि विभिन्न स्थान शताब्दियों से बसे हुए हैं वे स्थानीय लोक संस्कृत के केन्द्र रहे हैं। रामगंगा, काली, सरयू, कोसी, गोमती यहाँ की प्रसिद्ध नदियाँ हैं जिनके किनारे धार्मिक और व्यापारिक मेले लगते हैं। ये नदियाँ तीव्र गति से नीचे उतरती हैं जिनमें बड़े बड़े पत्थर, चट्टानें और कभी आसपास की भूमि बह चलती है। अलमोड़ा की नदियाँ प्रायः सभी दक्षिणपूर्व की ओर बहती हैं और काली नदी में मिल जाती हैं केवल कोसी नदी और पश्चिमी रामगंगा स्वतंत्र रूप से मैदानों तक बहती हैं।

नैनीताल जिले में पहाड़ों की ऊँचाई अलमोड़ा के पहाड़ों से अपेक्षाकृत कम है। यहाँ सैंचोलिया धुरा ८.५०४ फीट ऊँचा है, बधाण धूरा ८४०८ फीट ऊँचा है, भूरा पाताल ८२४४ फुट ऊँचा है और विनायक धूरा की ऊँचाई ८१८६ फीट है। इसी तरह नदियों में शारदा, (जो अलमोड़ा के पूर्व में काली कहलाती है) तथा कोसी नदी अलमोड़ा से होती हुई आती हैं छोटी नदियाँ यहाँ बहुत हैं जिनमें गौला, ननधौर, बौर, बहगल, लछिया और दावका नदियाँ मुख्य हैं। तराई की छोटी नदियाँ दलदलों से उत्पन होकर फिर रामगंगा में मिल जाती हैं। नैनीताल जिले के व्यापारिक केन्द्र जैसे रामनगर, हलद्वानी और टनकपुर इन्हीं के किनारों पर बसे हुए हैं।

इस भौगोलिक स्थिति ने जहाँ कुमाऊं की जलवायु तथा ऋतुओं को प्रभावित किया है वहीं नाना प्रकार की पौराणिक और धार्मिक किंवदन्तियों को जन्म दिया है। शिव की क्रीड़ास्थली कैलाश पर्वत चूँकि इसी क्षेत्र में स्थित कही जाती है और भगवान विष्णु का निवास स्थान भी यहीं कहा जाता है इसलिये देवभूमि नाम देना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

यहाँ के जलाशयों की अलग महिमा है जिनके साथ ऋषि मुनियों की कथाएँ जुड़ी हैं। नैनीताल, भीमताल, सात ताल, नल दमयंती ताल, नौकुचिया ताल प्रत्येक की अपनी रोचक दंत कथाएँ हैं। त्रिशूल पर्वत के ऊपर रूप कुंड नामक जलाशय पुरातत्व के विद्वानों के लिए एक रहस्य बन गया है। यहाँ सैकड़ों लोगों के मृत शरीर और उनका सामान मिला है। अनुमान है कि ये शरीर लगभग चार सौ वर्ष पुराने हैं। कुछ लोग इन्हें सिख सेनापति जोरावर सिंह की सेना का अवशेष मानते हैं जिसने तिब्बत पर चढ़ाई की थी। कुछ लोग इन्हें मुहम्मद तुगलक के चीन-तिब्बत अभियान से सम्बद्ध करते हैं।

जलवायु एवं ऋतुएँ—

यहाँ जलवायु निरन्तर परिवर्तित होते हुए भी प्रखर धूप की अपेक्षा

ठंड अधिक पड़ती है। दो तीन हजार फीट की ऊंचाई पर गर्मी का अनुभव होता है किन्तु लू नहीं चलती। जब कि घाटियों का जलवायु विषम रहता है जहाँ अत्यधिक शीत अथवा अत्यधिक गर्मी होती है लोकगीतों में इस विषम जलवायु की झाँकी मिलती है। जाड़ों में ५००० फीट के ऊपर भूभाग में प्रायः हिम पात हो जाता है जबकि जोहार-दारमाँ के अनेक स्थान साल भर हिम से ढके रहते हैं। इसके विपरीत तराई में मलेरिया फैलता है।

प्राकृतिक स्थिति के अनुसार यहाँ के निवासी साल भर में सामन्यतः तीन ही ऋतुएँ मानते हैं।

१. 'रूड़ी'—मार्च १५ से लेकर जुलाई, १६ तक।
२. 'चौमास'—जुलाई, से लेकर नवंबर, १६ तक।
३. 'ह्यूंन'– नवंबर से लेकर मार्च १४ तक।

'रूड़ी' ग्रीष्म ऋतु है जो सामान्यतः मार्च के मध्य से आरंभ होकर जुलाई के मध्य तक विद्यमान रहती है। इस ऋतु में दक्षिणी भागों को चले गये निवासी अपने पर्वतीय स्थानों पर वापस आ जाते हैं और कृषि आरंभ करते हैं। 'चौमास' वर्षा ऋतु है जो जुलाई के मध्य से लेकर नवंबर के मध्य तक रहती है। इस समय जन समूह का प्रायः अन्यत्र आवागमन नहीं होता। लोग कृषि उद्योग तथा पशुपालन में व्यस्त रहते हैं। 'ह्यूंन' शीतकाल है जो प्रायः नवंबर के मध्य से लेकर मार्च के मध्य तक रहता है। इस समय जोहार उत्तरी क्षेत्र के भोटिया लोग दक्षिण के अपेक्षाकृत गरम स्थानों की ओर उतर आते हैं। चंपावत कुमाऊँ के किसान और पशुपालक टनक पुर के मैदानों की ओर गमन करते हैं और पाली पछाऊँ—दानपुर के लोग रामनगर की ओर चले जाते हैं।, भावर की ओर चले जाने वाले इन अस्थायी प्रवासियों को यहाँ 'घमतप्पा' अर्थात धूप सेकने वाले कहा जाता है। इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख यहाँ के लोक-साहित्य में हुआ है।

स्थानीय साहित्य में अधिकतर उक्त तीन ऋतुओं का ही वर्णन हुआ है। यहाँ एक कहावत प्रचलित है —'ह्यूं हिमाल चौमास माल' जिसका तात्पर्य है कि यहाँ मानसून की वर्षा मैदानी दिशा से और जाड़ों की वर्षा उत्तर दिशा अर्थात् हिमालय की ओर से आती है। इस असामयिक वर्षा का प्रभाव कृषि, वनस्पति, पशुपक्षी, फलफूल, जन जीवन आदि सभी पर पड़ता है। सुदूर उत्तर में जोहार, दारमा और दानपुर की ओर शीतकाल की अवधि बहुत लंबी होती है, ग्रीष्मकाल बहुत छोटा होता है। भूमि लगभग ऊसर है। उसके नीचे लंबे-लंबे चरागाह हैं जिन्हें 'बुग्याल' और 'पयार' कहते हैं। यहाँ निकटवर्ती गाँवों के पशुपालक अपने पशुओं सहित अस्थायी निवास बनाकर रहते हैं। ये

चरागाह नीचे की ओर घने जंगलों और ऊँचे-ऊँचे वृक्षों में परिणत हो जाते हैं। जहाँ तिलौंज, खरसू, बाँज, चीड़ और देवदार के वृक्ष अधिकता से पाए जाते हैं। और नीचे की ओर लगभग चार हजार फुट तक शाल, हलदू, तुण जैसे वृक्ष मिलते हैं।

व्यवसाय—

खेती मुख्यतः हल से होती है, जिसमें एक 'जिवु' (पहाड़ी गाय और याक की नस्ल) दो बैलों का काम देता है। गेहूँ और जौ यहाँ जून में बोए जाते हैं और सितंबर में काटे जाते हैं जब कि अन्य स्थानों में ये फसलें अक्टूबर और अप्रैल के मध्य में होती हैं साल भर में एक ही उपज हो पाती है। फसल कटाई का काम औरतें करती हैं। मई और जून में 'रोपाई' का काम भी मुख्यतः स्त्रियाँ ही करती हैं। 'रोपाई' का कार्य चूंकि अत्यन्त श्रम-साध्य होता है इसलिये उन्हें स्फूर्तिमय बनाए रखने के लिये मनोरंजन की आवश्कता पड़ती है जिसके लिये स्थानीय लोकगायक 'हुड़किया' आमंत्रित किए जाते हैं इस पद्धति का 'हुड़किया बौल कहते हैं।

यह गायक यद्यपि निम्नतम वर्ग का होता है किन्तु कोई भी पुरुष यदि वह अच्छा गायक है तो यह कार्य कर सकता है। इस प्रकार के गायन से स्त्रियाँ वंचित रक्खी जाती हैं। 'हुड़किया बौल के' अंतर्गत नाना प्रकार के ऐतिहासिक अथवा सामयिक लोकगीत सम्मिलित रहते हैं। निराई के समय यही स्थिति 'गुड़ैल' गीतों की है।

कुमाऊँ की प्रकृति ने यदि कुछ सीमित स्थानों पर निवासियों को कृषक बनाया है तो दूसरे स्थानों पर पशुपालक बनाया है। विस्तृत चरागाहों में गाय भैंसे, पशुपालकों की देखरेख में भेज दी जाती हैं। कुमाऊँ में दानपुर क्षेत्र का धाकुड़ी चरागाह सर्वोत्तम माना जाता है। यह चरागाह इतना प्रसिद्ध है कि कश्मीर के गूजर तक अपनी भैंसों के साथ यहाँ चले आए हैं (शिवदर्शनपंत 'दी सोशल इकॉनॉमी ऑफ दी हिमालयाज,' पृ० १६७) पशु-पालक अर्थात् ग्वाले प्रायः पुरुष होते हैं जो चरागाहों में अस्थायी झोपड़ियों 'खरक' बनाकर घुमन्तू जीवन व्यतीत करते हैं। झोपड़ियों के आस-पास गाय भैंसे रात भर रहती हैं। भोटिया लोग भेड़ बकरियों द्वारा व्यापार भी कर लेते हैं। उनके पास गाय भैंसें नहीं होतीं। उनमें स्त्री और पुरुष बराबर काम करते हैं जब कि कुमाऊँ के अन्य स्थानों पर स्त्रियाँ अधिक कार्यशील होती हैं।

गाँव में कृषि द्वारा जो अनाज उगाए जाते हैं उनमें मडुवा, झुँगरा, मादिरा, गेहूँ धान, भट्ट, गहीत आदि प्रमुख हैं। पशुओं में गाय, बैल, भैंस,

कुत्ता, बिल्ली, सियार, भालू के अतिरिक्त शौल और बाघ प्रमुख हैं। पहाड़ी बाघ बहुत छोटा होता हैं। पक्षियों में यहाँ घुघुता, मलया, हिलांस, कपुवा, कठफोरा, घिनौड़ा, सिटौला आदि की प्रधानता है। फूलों में जाई, गेंदा, बरूंश, शिलिंग, गुलर्बाक और सुनजाई की प्रधानता है। फलों में दाड़िम, अखरोट, आड़ू, केला, नारंगी, नाशपाती, बेड़ू, कुसम्यारू आदि की प्रधानता है। साग सब्जियों में तरुड़, गडेरी, वाकुला, लाई, ऊगल, कैरुवा, आलू, बेथुवा, पिनालू, गेठी आदि की प्रधानता है। वृक्षों में अयार, तुन, देवदार, पांगर, चीड़, काफल, खैर, मालू, भेकुल, शीशम आदि प्रमुख हैं। इन पदार्थों का चूंकि निवासियों के दैनंदिन जीवन के साथ निकटतम संबंध है, इसलिये यहाँ के लोक-साहित्य में इनका उल्लेख होते रहना स्वाभाविक है।

ऋतु परिवर्तन, अर्द्धघुमन्तू जीवन एवं स्थायी कृषक व्यवसाय ने कुमाऊं के जन जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। चूँकि खेती की पद्धतियाँ, पशुपालन की विधियों, यातायात और व्यापार के साधन यहाँ भिन्न हैं, जीवन कठोर और संघर्षपूर्ण है इसलिये, श्रमकार्यों में सामूहिक भावना स्वतः उत्पन्न हो जाती है। यहाँ के भौतिक वातावरण ने चारित्रिक निर्माण में बड़ा योग दिया है जैसा कि हम भोटियों में देखते हैं। पुरुषों के समान घुमन्तू जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी स्त्रियाँ भी उतनी ही संघर्षशील और समान अधिकार वाली होती है।

इस प्रकृति ने वहाँ के धार्मिक विश्वासों और पर्व त्योहारों को निरंतर प्रभावित किया है। उत्सवों की रूपरेखा वातावरण की आवश्यकता के अनुसार निर्धारित की जाती है। शीत-काल का प्रारंभ 'खतडुआ' त्यौहार से होता है जब चारों ओर शिखरों पर आग जलाई जाती है और ग्रीष्मऋतु का आरंभ 'फूलसंग्यान' (पुष्प संक्रांति) से माना जासा है जब गाँवो में 'ऋतुरेण' नामक लोक गीत सुनाई पड़ते हैं। ऋतुओं के अनुसार जैसे जैसे प्राकृतिक दृश्य बदलते हैं, मनुष्य के क्रियाकलाप और रुचियाँ भी तदनुसार परिवर्तित हो जाती हैं।

कुमाऊँ का मुख्य व्यवसाय कृषि है जैसा कि ऊपर कह चुके हैं। कृषि के लिये नदियों के अतिरिक्त नहरों और गूलों से काम लिया जाता है। पन-चक्कियाँ यहाँ 'घराट' या घट कही जाती हैं। जिनका लोक-साहित्य में प्रायः उल्लेख मिलता है। अधिकांश लोक गायक कृषक जीवन से ही संबंध रखते हैं। व्यापार, तिब्बत-नेपाल और मैदानी भागों के साथ होता है जिनमें गुड़, नमक सुहागा, ऊन आदि का लेन देन प्रमुख हैं। काली कुमाऊँ, द्वारस्यूं' महरूड़ी

और विसौत में आलू बहुत होता है। जौल जीवी, थल और बागेश्वर स्थानों में लगने वाले व्यापारिक मेले प्रसिद्ध हैं जहाँ नवीन शैली के लोक गीत सुने जा सकते हैं। इनकी चर्चा यथास्थान की जाएगी।

पशुपालक मुख्यरूप से घी बेचने का काम करते हैं और सौ सौ पशु तक रखते हैं। रामनगर, टनकपुर, हलद्वानी की मंडियों में वे अपना सामान बेचते हैं।

शिल्प उद्योग कुमाऊँ का नवीन व्यवसाय है जिसमें टोकरी चटाई बिनना, ऊन कातना, मौन पालन, फल उत्पादन प्रमुख हैं। मल्ला दानपुर में 'रिंगल' (पतला बांस) की चटाइयाँ प्रसिद्ध हैं। ऊन के लिये भोटिया लोग प्रति वर्ष ग्रीष्म काल में पहले मान सरोवर तक की यात्रा करते थे उनके यात्रा संबंधी मार्मिक चित्र स्थानीय लोक गीतों में मिलते हैं।

प्रकृति का प्रभाव—

इस भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक वातावरण में लोक जीवन को बहुत प्रभावित किया है उसने रहन सहन, विचार परंपरा आदि को निर्धारित किया है जिसके फलस्वरूप कुमाऊँ वासियों का दृष्टिकोण एक विशेष प्रकार के ढाँचे में ढल गया है। इन निवासियों ने यदि एक ओर गगनचुम्बी हिमाच्छादित शिखरों से सौन्दर्य और रहस्यात्मक अनुभूतियाँ ग्रहण की हैं तो दूसरी ओर उन्होंने अपने दैनिक जीवन में उद्योगों तथा कर्मठ होना सीखा है।

यहाँ की प्रकृति अत्यन्त उदार है किन्तु कठोर भी है। जलवायु कहीं अत्यधिक शीत प्रदान है तो कहीं अत्यधिक उष्ठा है। मिकिया सैंन मासी, चौखुटिया और बागेश्वर की घाटियाँ दिन में बड़ी गरम रहती हैं और रात में बड़ी ठंडी हो जाती हैं। इसी कारण प्रकृति का यह विरोधात्मक रूप निवासियों के जीवन में विरोधी स्वर लेकर उतरता है।

कुमाऊँ की भौगोलिक विशेषताओं ने थोड़ी थोड़ी दूर पर एक घाटी के दोनों ओर भिन्नताएँ उत्पन्न कर दी हैं। एक स्थान से दूसरा स्थान चाहे कितना निकट हो किन्तु स्थिति विशेष के कारण वह स्वतंत्र इकाई सा बन गया और उसकी परंपराएँ बहुत कुछ भिन्न हो गई। उदाहरणार्थ, कत्यूर घाटी (बैजनाथ) से बागेश्वर केवल बारह मील की दूरी पर है किन्तु दोनों स्थानों में भिन्न राजवंशों का प्रभुत्व होने के कारण परम्पराओं में पर्याप्त अन्तर उत्पन्न हो गया है। यातायात और आवागमन की कठिनाई के कारण एक घाटी के लोग दूसरी घाटी के लोगों से नित्य संपर्क नहीं रख सकते। इसलिये उनका अलग अलग स्वतन्त्र इकाइयों में विकसित हो जाना स्वाभाविक है।

इन्हीं इकाइयों में निवासियों का पालन पोषण हुआ, उनकी संतानों ने उन्हीं के अनुकरण में आचार व्यवहार किया और इस प्रकार एक पीढ़ी ने अपना जैसा ही दूसरी पीढ़ी के लिए मार्ग बनाया। कुछ अंतर्वर्ती भागों में तो यहाँ तक देखा गया है कि एक नदी के इस पार बसे हुए लोगों में कई प्रकार की भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं।

कुमाऊँनी भाषा का दस बारह से अधिक मुख्य रूपों में बोला जाना इस का प्रमाण है। दानपुर का निवासी कुमाऊँनी के जिस रूप का प्रयोग करता है वह गंगोली अथवा सोर वाले निवासी के उच्चारण से भिन्न है। एक ही गीत की लोकधुनें भिन्न भिन्न स्थानों पर रूप तथा अभिव्यक्ति में अलग हो गई हैं। कुमाऊँ की प्रसिद्ध लोकगाथा (फोक इपिक) मालेमा ही अलग अलग स्थानों में एक सुन्दर लयों में गाई जाती हैं। अलमोड़ा जिले के केन्द्रीय भाग बारी मंडल में इसकी जो लोक प्रचलित धुन है वह राग दुर्गा से साम्य रखती है जब कौसानी, बैजनाथ और बागेश्वर की ओर प्रचलित इसके रूपान्तरों में राग सोहनी की विशेषताएं लक्षित होती हैं। अन्य नृत्य गीतों और गाथाओं के विषय में भी यही बात लागू होती है।

ऐसे विशाल पर्वतीय क्षेत्र में किसी लोकप्रिय रचना के विभिन्न रूपान्तरों का प्रचलन आश्चर्य का विषय नहीं है। हम देखते हैं कि अत्यधिक लोकप्रिय 'झोड़ा' नामक नृत्यगीत ही यहाँ दस बारह प्रकार से गाया जाता है। 'छोलिया' और 'ढोल' नामक नृत्य, जो विशुद्ध लोकनृत्य हैं। विविध रूपान्तरों सहित प्रचलित हैं, जिनके लिये यही प्राकृतिक स्थिति उत्तरदायी है।

स्थानीय प्रकृति के सौन्दर्य मूलक पक्ष ने भले ही यहाँ के निवासी को प्रकृति का पुजारी नहीं बनाया हो किन्तु हिमालय की नैसर्गिक सुषमा प्रसिद्ध है। इस संदर्भ में जाय स्ट्रैची की ये पंक्तियाँ द्दष्टव्य हैं जिन्हें राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक हिमालय परिचय भाग १ में उद्धृत किया है—

'मैंने बहुतेरे यूरोपीय पहाड़ों को देखा है किन्तु अपनी विशालता तथा भाग्य सौन्दर्य में उनमें से कोई हिमालय की तुलना में नहीं आ सकता। कुमाऊँ की चोटियाँ में यद्यपि कोई उतनी ऊंची नहीं है जितनी कि हिमाल की श्रेणी के दूसरे भागों की कुछ चोटियाँ---यहाँ की केवल दो ही चोटियाँ पच्चीस हजार फुट से अधिक ऊंची हैं किन्तु गढ़वाल----कुमाऊं, हिमाल श्रेणी की औसत ऊँचाई सबसे बढ़ कर है। २० मील तक लगातार इसके कितने ही शिखर २२००० से २५००० फुट तक ऊँचे हैं।'' (पृष्ठ १०) महात्मा गांधी ने इस प्रदेश की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा था कि

संसार में संभवत: कोई देश इसकी बराबरी का नहीं है। जाने क्यों यहाँ के निवासी स्वास्थ्य लाभ के लिये यूरोप जाया करते हैं।

इतना अवश्य है कि इस प्राकृतिक सौन्दर्य ने निवासियों को कल्पना प्रधान और भावप्रवण बनाया है। इस प्रकृति ने निरन्तर प्रगति करने की उसे प्रेरणा दी है और ऋषि मुनियों की कथाओं द्वारा उनके मानस पर कलात्मक प्रभाव डाला है। प्रकृति पूजा के अवशेष यहाँ दैनिक जीवन में ही नहीं, लोक साहित्य में भी स्थान स्थान पर मिलते हैं। ऐसा अन्य क्षेत्रों में बहुत कम लक्षित होता है। यह स्थानीय लोक साहित्य की एक विशेषता है।

यहाँ का धर्म भीरू प्राणी प्रकृति की कन्दराओं में किसी रहस्यात्मक सत्ता के दर्शन करता है यहाँ के उत्तुंग शिखर और छलछलाती नदियाँ जिज्ञासा मूलक वातावरण का निर्माण करती हैं। प्रकृति के भिन्न उपादानों पर लोक-मानस देवी देवताओं, परियों तथा अन्य अतिमानवीय (सुपर ह्यूमन) सत्ताओं का आरोप करता आया है जिनके विविध आख्यान यहाँ के मौखिक परंपरा में अतीत काल से चले आ रहे हैं।

कुमाऊँ की प्रत्येक बड़ी नदी, प्रत्येक बड़ी घाटी किसी पौराणिक गाथा अथवा दन्तकथा से जुड़ी हुई है और इन्हें लोक परंपरा में देव दानवों से पूर्ण माना गया है। शायद ही कोई भूखण्ड अथवा पर्वत चोटी ऐसी होगी जहाँ किसी न किसी अलौकिक शक्ति का निवास न माना गया हो। ऐसे दृष्टिकोण का साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। यहाँ न केवल लोक साहित्य के विभिन्न रूपों में बल्कि चित्रकला, लोकनृत्य मूर्त्तिकला जैसी लोक कलाओं तक में एक गंभीरता और उदात्त कल्पना के दर्शन होते हैं, जिसका प्रमुख कारण यही विशेष वातावरण है।

किन्तु यह प्रकृति निवासियों की भावनाओं को उदात्त बनाने के अतिरिक्त उनके प्रति कठोर रही है। आजीविका की दृष्टि से उनका जीवन अत्यन्त श्रम-साध्य है। कृषि द्वारा सभी का समुचित निर्वाह नहीं हो पाता इसलिये उन्हें नौकरी की खोज में दूर-दूर भटकना पड़ता है। कृषि की दृष्टि से सारे कुमाऊँ का चौथाई भू भाग भी इतना नहीं है जो सबके लिये संपूर्ण साधन जुटा सके। इसलिये कुछ लोग गाँवों में खेती करते हैं और कुछ लोग सेना में, सरकारी नौकरियों में अथवा अन्य साधारण कारणों के लिये दीर्घ अवधि तक बाहर चले जाते हैं। जिन्हें वर्षों उपरान्त अपने प्रियजनों के साथ मिलने का अवसर प्राप्त होता है।

चौड़ी उपत्यकाओं में आवादी सबसे घनी है। पाली-पछाऊं और बारा-मंडल के दोनों परगनों में जिले के आधे आदमी बसे हुए हैं। बौरारी, स्यूनरा, कौसानी, गिंवाड़ और कत्यूर की घाटियाँ अपनी उर्वरता के लिये प्रसिद्ध हैं। किंतु इन दो चार स्थानों को छोड़कर कुमाऊँ के अन्य भू-भाग इतने प्रसिद्ध नहीं हैं। पिथौरागढ़ और सोर के इलाकों की यह स्थिति है कि उनमें प्रायः प्रत्येक घर का एक व्यक्ति सेना में नौकरी करता है।

चूँकि इन लोगों को अपनी मातृभूमि में आने का बहुत कम अवसर मिलता है, वे प्रकृति में अपने भावों के अनुरूप विषाद और खेद की अनुभूति करते हैं। हर्ष और उल्लास के साथ साथ उनकी वाणी में करुणा अंतर्निहित है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव लोक-साहित्य, लोक संगीत और जीवन के अन्यान्य पक्षों पर देखा जा सकता है।

आम धारणा के विपरीत कूर्मांचल में प्रकृति कभी भी जनता के निकट शुद्ध वरदान नहीं रही वरन् यहाँ प्रकृति एक विरोधात्मक शक्ति के रूप में रही है। एक ओर है इसका प्रेरणात्मक सौंदर्य, दूसरी ओर है मानव के प्रति निर्मम बर्बर व्यवहार। कुमाऊँ की लगभग सभी लोकधुनों में यह विरोधाभास अभिव्यक्त है। इस प्रदेश की इन सुन्दर लयों में उदास आलाप, लंबे खिंचे हुए दुखद चढ़ाव और आकस्मिक उतार का स्पष्टीकरण केवल इस नैसर्गिक वातावरण की कठोरता और निर्दयता में ही है। ऐसे कठोर सौंदर्य के बावजूद इनसे प्रेरणा पाकर कुमाऊँ का निवासी सौंदर्य का चिरंतन प्रेमी और पुजारी बन गया है चाहे इस सौंदर्य में अंततः उसे निराशा और खेद ही मिला है। उसकी सृजना में यही करुण स्वर व्याप्त है।'

(लोककला –२, पृ० १०)

सीमावर्ती प्रभाव —

कुमाऊँ की उपर्युक्त भौगोलिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करते समय इसकी चतुर्दिक सीमाओं का भी ध्यान रखना चाहिये क्योंकि न्यूनाधिक रूप से कुमाऊँ का लोक जीवन सीमाप्रान्तों की विशेषताओं द्वारा प्रभावित हुआ है। दक्षिण की ओर भाबर-तराई का प्रदेश घने जंगलों से घिरे रहने के कारण कभी उन डाकुओं और लड़ाकू जातियों का निवास बना रहा जिनका हिन्दू राज्य के उपरान्त उत्तर भारत में कभी कुमाऊँ तो कभी देशी राज्यों के अंतर्गत उत्थान-पतन होता रहा। थारू और बोकसा लोग इस दक्षिणी भू भाग में शताब्दियों से रहते आए हैं जिनके लोक विश्वास और रीतिरिवाज देशी राज्यों के रीति रिवाजों से समानता रखते हैं और कुमाऊँ के उत्तरी भाग में प्रचलित रीति रिवाजों से तो स्पष्टतः भिन्न हैं।

तराई भावर में राजनैतिक विद्रोहियों ने समय-समय पर शरण ली है। यह प्रदेश कभी कुमाउंनी शासन में रहा तो कभी मैदानी राज्यों के शासन में रहा। इस कारण पर्वतीय भागों की अपेक्षा इस प्रदेश की स्थिति कुछ भिन्न रही। किंतु इसका महत्व पहाड़ और मैदान के बीच एक मध्यवर्ती क्षेत्र होने की दृष्टि से है। बीच में एक सुरक्षित स्थान हो जाने के कारण कुमाऊँ का पर्वतीय भाग मैदानों के संपर्क में कम आया, इस कारण दीर्घकाल तक उसकी अपनी विशिष्टता बनी रही।

कुमाऊँ की पूर्वी सीमा पर स्थित असकोट, सोर व सीरा के निवासियों पर डोटी --नेपाल का प्रभाव पड़ा है क्योंकि काली नदी के आर पार दोनों स्थानों के निवासी मुक्त रूप से आते जाते रहे हैं; इन निवासियों के सम्मिलन का प्रमुख केन्द्र जोलजीवो नामक स्थान है जो असकोट से पाँच छह मील की दूरी पर गोरी और काली नदियों के संगम पर बसा है। यहाँ के व्यापारी मेले में तिब्बती सीमा तक के लोग आ पहुँचते हैं। यहाँ घोड़ों, ऊन, अनाज, घी और फलों की इतनी बिक्री होती है कि मेले में लगभग पन्द्रह हजार लोग एकत्र हो जाते हैं। यह मेला कार्तिक मास में लगता है। कुमाऊँ के 'न्योली' गीतों पर स्पष्टतः नैपाली प्रभाव देखा जा सकता है। इधर की सोर्याली, असकोटी और सीराली आदि बोलियों पर भी नैपाली भाषा का प्रभाव लक्षित होता है। इन बोलियों में नैपाली उदगम् के अनेक शुद्ध प्रचलित हैं।

कुमाऊँ में पश्चिम की ओर दानपुर के सीमावर्ती गाँवों से गढ़वाल का प्रभाव पड़ने लगता है। इस ओर कोई भौगोलिक सीमा न होने के कारण पाली पछाऊँ, सल्ट और दानपुर की बोलियों में गढ़वाली की 'सलाणी' उपबोली का स्पष्ट प्रभाव है। उधर गढ़वाल की सीमावर्ती भाषा भी कुमाउंनी प्रभाव सूचित करती है क्योंकि उत्तर-पूर्व की गढ़वाली 'मंझ कुमैयां' कहलाती है। 'मंझ कुमैयां' का तात्पर्य मध्य कुमांउनी है। इन बोलियों में गढ़वाली और कुमाउंनी के शब्द रूप एक जैसे हो जाते हैं। यहाँ रमौलों की प्रसिद्ध लोकगाथाएँ गाई जाती हैं जिनकी मुख्यता गढ़वाल में है। संभव है कि रमौल लोक गाथाओं का उद्‌गम् कहीं गढ़वाल में ही हो और कुमाऊँ में उनका विस्तार गाथा की लोकप्रियता का सूचक हो।

गढ़वाल, नैपाल और तिब्बत के साथ कुमाऊँ का व्यापारिक और धार्मिक दृष्टि से निकट संपर्क रहा है। अतः उत्तर की ओर जोहार-दारमाँ का प्रदेश निश्चित रूप से तिब्बती प्रभाव का द्योतक है। दारमां-जोहार को मिलाकर भोट प्रदेश के रूप में उल्लिखित किया जाता है क्योंकि यहां जो ऊनी व्यापारी रहते हैं उन्हें स्थानीय भाषा भोटिया कहते हैं। प्राचीनकाल से ही ये भोटिये

तिब्बत के साथ ऊन का व्यापार करते रहे हैं। विचार विनिमय तथा आवागमन के अधिक अवसर मिलने के कारण इन लोगों के गीतों और जीवन में तिब्बती विशेषताएं झलकती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ की 'ढुंरिंग' अथवा 'दुरिंग' नामक विशेष प्रथा जो किसी व्यक्ति के दाह संस्कार से सम्बन्ध रखती है, तिब्बती पुरोहित लामा की देख रेख से संपन्न कराई जाती है। लामा को इस अवसर पर विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता है।

कुछ लेखकों की यह धारणा है कि भोटिये लोग संभवतः तिब्बत निवासियों की एक शाखा है। उनका रहन-सहन विचार परम्पराएँ, सामाजिक मान्यताएँ हिन्दुओं से विशिष्ट हैं। वे भले ही आज बदलती जा रही हैं फिर भी तिब्बत वासियों की परम्पराओं से निकटता रखती हैं।

चार्ल्स शेरिंग ने अपनी पुस्तक वेस्टर्न तिब्बत एण्ड द ब्रिटिश बॉर्डर लैंड' में स्पष्ट रूप से इस तथ्य का खंडन किया है। उसका कथन है कि मंगोलियन होने के कारण उनमें तिब्बत वासियों से पर्याप्त निकटता होनी चाहिये, विशेषकर उनके धर्म में, किन्तु वस्तु स्थिति ठीक इसकी उलटी है। (पृष्ठ. ७४) किन्तु श्री वाल्टन ने अपने अलमोड़ा गजेटियर में इन्हें तिब्बत बर्मी परिवार का ही घोषित किया है। उनके मतानुसार कुछ भोटिये प्रायः एक दूसरे की बोली नहीं समझ पाते। (अलमोड़ा ए गजेटियर' (पृ. ६८)

इस प्रकार कुमाऊँ के लोक जीवन में प्राकृतिक स्थिति से उत्पन्न वे विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं जिनके कारण यहाँ की लोक संस्कृति और लोक साहित्य ने विशेष स्थानीय रूप ग्रहण कर लिया है।

४. जातीय पृष्ठभूमि

कुमाऊँ में आदिम निवासियों के अतिरिक्त वाहर से बहुविध जातियाँ समय समय पर आती हैं जिन्होंने अपने पूर्व निवासियों को अधीनस्थ कर स्थानीय लोक जीवन को प्रभावित किया है। यहाँ के लोक जीवन को देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ कितने ही जातीय संस्कारों की परतें एक दूसरे के ऊपर चढ़ी हुई हैं जिनका परिचय लोक संस्कृति को समझने के लिये आवश्यक है। यहाँ की मूल जातियों एवं वाहर से आने वाले लोगों के क्रमवद्ध विवरण नहीं मिलते। यद्यपि विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये हैं।

प्रागैतिहासिक काल में यहाँ गधर्व विद्याधर किन्नर और यक्ष जैसी जातियों का उल्लेख मिलता है जिनमें आर्य पूर्व युग के दस्यु दानव भी सम्मलित थे। ऐतिहासिक काल में राजी, खस, शक, हूण, यवन, थाड़ और बोकसे आदि जातियों का वर्णन मिलता है जिनके न्यूनाधिक रीति रिवाज वर्तमान समय तक प्रचलित हैं।

गंधर्व किन्नर किरात—

गंधर्व और 'किन्नर' जातियों के विषय में इस समय निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु संभव है कि स्थानीय भाषा के कुछ शाद्बिक प्रयोग मूलतः उनसे सम्बन्ध रखते हों। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'कुमाऊँ' के दूसरे अध्याय में 'कनौरी' (किन्नर) भाषा के कुछ उदाहरण देकर बताया है कि उसमें 'शू' शब्द (सू)' देवता वाचक है जिसे किन्नर-किरात शब्द मानना उचित है। गढ़वाल के बहुत से गाँवों के नाम 'सू' अथवा एयूं शद्बलगाकर बनते हैं जैसे 'धरासू', 'अस्वलस्यूं', 'इदवालस्यूं, 'कंदवास्यूँ' आदि पृष्ठ-२५)

उनके मतानुसार किन्नर और किरात एक ही मूल भाषा की शाखाएं हैं। कुनैत या कुलिन्द भी खश वंश के थे। खश और शक मूलतः एक ही जाति थी। इस सम्बन्ध में राहुल जी ने अपनी दूसरी पुस्तक 'हिमालय परिचय' भाग १ में विस्तार पूर्वक लिखा है जिसमें ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

'...कुमाऊँ, गढ़वाल और किन्नर के तिब्बती सीमान्तों पर जहे हमारे भोटान्तिक भाई आज मंगोल मुख मुद्रा में ही नहीं कितने ही भाषा मिश्रित या शुद्ध रूप में तिब्वती पाए जाते हैं। यह अवस्था वहाँ छठी शताब्दी तक नहीं

थी। सातवीं-आठवीं सदी में तिब्बती लोग पश्चिमी हिमालय में फैले, लदाख और बल्तिस्तान में भी तिब्बती भाषा का प्रसार इसी समय हुआ। यह प्रभाव भाषा और मुखाकृत पर इतना पड़ा कि आज इस भूभाग को छोटा तिब्बत माना जाता है।...तिब्बती (भोट) जाति के पश्चिमाभिमुख प्रसार के बहुत पहिले से गिलगित और कराकुरुम तक का प्रदेश खश, दरद लोगों का था जो दोनों एक ही वंश के थे। ईसा पूर्व द्वितीय संहसाही के प्रारम्भ में खश लोग पूर्वी मध्य एसिया (काशगर, खोतान) की ओर से हिमालय में पहुँचे। इन दोनों जातियों के आने से बहुत पहिले एक जाति हिमाचल में रहती थी जिसे हम किन्नर-किरात जाति कह सकते हैं। किन्नरों और किरातों के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक से बतलाना आसान नहीं है। किन्नरों का देश एक समय गंगा के पनढर से पश्चिम में सतलज और चंद्रभागा के पनढर तक फैला हुआ था। और किरात गंगा के पनढर के पूर्वी छोर को लिये सारे नेपाल तक थे। १८ वीं सदी में कोसी से पूर्व में बसने वाली जातियाँ राई, लिंबू, याखा, किरात कही जाती थीं। गोरखा जुमला के बीच के प्रधान निवासी मगर और गुरुंग जातियों को यद्यपि किरात में नहीं गिना जाता था किन्तु मानव तत्व की दृष्टि से ये भी उसी विशाल किरात जाति का अंग थीं। काली के पश्चिमी तट पर (असकोट में) अब भी राजी (राजकिरात) उसी किरात जाति के अवशेष हैं। (पृष्ठ-४२)

कुमाऊँ के मूल निवासियों में दस्युओं की गणना हो सकती है जिन्हें प्राचीन लेखकों ने डोम, चाण्डाल, श्वपच आदि नामों से सम्बोधित किया है। वर्तमान में कुशौत, खसिये नाकुरी, दनपुरिये, राजी आदि लोगों के साथ उन मूल निवासियों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न हुआ है। जैसा कि अठकिंसन ने अपने 'हिमालयन डिस्ट्रिक्टस' में लिखा है—

गंधर्व गांधार देश के रहने वाले हैं; किन्नर कुमाऊँ के पश्चिम जौनसार, बाबर तथा नाहन में रहने वाले कुनैतों को कहा गया है। पौराणिक यक्ष व अर्वाचीन खस एक ही जाति के हैं। सिंध व हिन्दुकुश के लोग विद्याधर माने गए हैं। नाग जाति तमाम भारत में फैली हैं। कुमाऊँ में नागपुर (नाकुरी) में रहती है। दानव यहाँ दानपुर में रहते हैं दैत्य पुराने दस्यु हुए। ('कुमाऊँ का इतिहास' में उद्धृत पृष्ठ-५१०)

हमारा विचार है कि गंधर्व, यक्ष आदि प्राचीन जातियों के वंशधर यहाँ संभवतः वर्तमान नायक और डोम नाम से विभूषित लोग हैं जो परवर्ती जातियों की क्रमिक दासता को झेलते हुए वर्तमान अधोगति को पहुँचे हैं। यह संभव है कि स्थानीय भाषा में अनेक देशज शब्द इन्हीं लोगों की भाषा के

अवशेष हों जो अन्य किसी भारतीय आर्यभाषा में नहीं पाए जाते। भाषा-विज्ञान के आधार पर यह तर्क समीचीन प्रतीत होता है संभावनाएँ खोजी जा चुकी हैं।

डा० गुणानंद जुयाल ने अपने शोध ग्रन्थ 'मध्य पहाड़ी भाषा का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध' में मध्य पहाड़ी और दरद भाषाओं में रूपात्मक साम्य खोजा है जो हिन्दी में नहीं पाया जाता। उनके मतानुसार स्थानीय बोली में प्रयुक्त 'खुट' (पैर), 'कैमि' (दास), 'जून' (चाँद), 'झंकारा' (बाल) छुं (छुं) कुछ इसी प्रकार के शब्द हैं (पृ०२६)

गंधर्व और किन्नरों के साथ यहाँ की मूल जातियों में किरातों का नाम लिया जाता है यद्यपि अठकिसन उन्हें विदेशी जाति मानते हैं। उनका कहना है कि किरात लोग उसी मार्ग से प्रविष्ट हुए जिससे कालान्तर में आर्य लोग आए। पहले किरात आए, तब नाग और खसों का प्रवेश हुआ। उन्हें यमुना के आसपास पहली शताब्दी में रहने वाला कहा गया है। अठकिसन ने इतिहासकार क्योर को उद्धत करते हुए रामायण में उन्हें और दस्युओं के साथ बतलाया है जो 'नुकीले ऊँचे केशगुच्छ वाले, स्वर्णरंग के व देखने में आकर्षक थे। रुद्र ने किरातवेश में अर्जुन को दर्शन दिये थे। इस समय वे नाटे, चौड़े मुँह वाले, गठित शरीर वाले बौद्ध हैं और नैपाली सरहद के लिंबू उन्हीं के वंशज समझे जाते हैं। दूध कोसी से अरुण तक का प्रदेश किरान्त देश कहलाता था तथा अरुण कोंकी के बीच लिंबू देश। उनकी मंगोल आकृति किरातों से मिलती जुलती है और अब उन्हें 'किरान्त' कहते हैं। ('हिमाजयन डिस्टिक्स' भाग २, पृष्ठ ३६५)।

हिमालय की उपत्यकाओं में किरातों का निवास प्राचीन उलेखों द्वारा प्रमाणित है। केदार खण्ड को किसी समय 'किरात मंडल' कहते ही थे महाभारत में इनका स्थान स्थान पर उल्लेख हुआ है। वे किसी समय नेपाल के शासक भी थे। कहा जाता है कि जब अशोक नेपाल गए तो वहाँ किरात राज्य था।

कुमाऊँ में ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास कुछ शासकों के बड़े विचित्र नाम मिलते हैं जो कहे तो खस जाते हैं किन्तु अठकिसन ने 'विष्णु पुराण' का प्रमाण देते हुए उन्हें किरात सम्बद्ध माना है। इन खस राजाओं में कुछ नाम हैं—बीजड़, जीजड़, कालू, कलसू, नागू, भागू, जयपाल सैनपाल आदि। इन्हीं के साथ 'राद्ध किरात' जाति का उल्लेख मिलता है। असकोट के राजी लोग और कुमाऊँ के रावत इन्हीं के वंशज कहे जाते हैं।

संभव है कि किरातों का वंशानुगत सम्बन्ध असकोट के जंगलवासी राजियों से हो। जिनकी संख्या अब उत्तरोत्तम घटती जा रही है। बन रैतों की भाषा का अध्ययन डा० शोभाराम शर्मा ने किया है कुमाऊंनी से प्रभावित होने पर भी कुमाउंनी से भिन्न हैं और आग्नेय परिवार की मुंडा शाखा से सम्बन्ध रखती है।

नाग और खस—

किरातों के उपरान्त आदिम निवासियों में नाग जाति की गणना होती है। पहाड़ों में नागों का विविध रूपों में व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। लोक कथाओं में इन्हें सर्प तथा मनुष्य दोनों रूपों में वर्णित किया गया है। नाग जाति चाहे यहाँ की मूल जाति हो, चाहे बाहर से आई हो, कुमाऊँ में वह बड़ी प्रभावशाली थी क्योंकि उनके नाम पर अनेक मंदिर प्रसिद्ध हैं। महर पट्टी में शेषनाग, पांडे गाँव-६ खाता में कर्कोटक नाग, दानपुर में बासुकि नाग, सालम में नाग देव के मंदिर प्रसिद्ध हैं। आर्यों के साथ इन लोगों के विवाह संबंध हुए जब कि मूलतः ये उनसे भिन्न थे।

श्री नित्यानन्द मिश्र ने नागों को यहाँ किरात पूर्वी माना है। उन्होंने महा भारत के उल्लेखों से सिद्ध किया, है कि ये लोग यमुना नदी के पश्चिमी किनारों पर रहते थे। जब पाण्डवों को यह प्रदेश दिया गया तो उन्हें जंगल साफ करने पड़े। उन्होंने नागों का दमन किया और अपना राज्य विस्तार किया। नागों को वहाँ से हटना पड़ा। संभवतः यही जाति पर्वत की ओर चली आयी। (उ० भा०—१९७३)

इतिहास कार अधिकतर नाग वंश को सीथियन जाति, का मानते हैं। इस समय तो नाग लोग नागा नाम से आसाम में रहते हैं और प्रायः जंगल-वासी हैं। कुमाऊँ में इस समय नाग वंश नामक कोई पृथक जाति तो नहीं है और न इनके राजाओं में किसी का नाम मिलता है। 'मानस खंड' द्वारा इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये लोग किसी समय पाताल भुवनेश्वर, तथा नाकुरी के बीच रहते थे। ये लोग पर्वतीय जातियों में घुल मिल गए। नागों के विषय में यह अनुमान कियां जा सकता है कि शायद ये लोग उस विशाल नाग जाति की शाखा हों जो आर्यपूर्व युग में उत्तर भारत के मैदानों में निवास करती थी। इनके प्रभाव की चर्चा अगले अध्याय में होगी।

कुमाऊँ की सर्वाधिक प्रसिद्ध जाति खसों की है जो आज तक पहाड़ों में अपनी संख्या के कारण शक्तिशाली हैं। यहाँ पर खस जाति का विवेचन कुछ विस्तार से करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि वर्त्तमान कुमाऊँनी समाज में सर्वाधिक संख्या इन्हीं की है। यहाँ के रहन-सहन, रीति रिवाजों और

व्यवहार पर इनकी स्पष्ट छाप पड़ने का एक मुख्य आधार यही देखा जा सकता है कि कुमाऊँ में खस राजपूत भी हैं और खस ब्राह्मण भी हैं।

खस जाति संभवतः ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारंभ में पूर्वी मध्य एशिया की ओर से आयी। खस और कश को राहुल सॉंकृत्यायन ने एक ही शब्द का रूपांतर माना है। तिब्बती भाषा में कश्मीर और कश्मीरियों को 'खछे' कहते है जो 'खश' का बिगड़ा रूप है। खश और शक दोनों जातियों को वे मूलतः एक जाति मानते हैं जिनमें मुर्दों को समाधि देने की प्रथा थी। (कुमाऊँ, पृष्ठ ३०)

खशों का संबंध प्राचीन यक्षों से भी जोड़ा जाता है किन्तु यह तर्क सम्मत नहीं है क्योंकि यक्ष शब्द का विकसित रूप 'जारव' शुद्ध अभी तक बोल चाल में विद्यमान है। अलमोड़ा में लाखन देवी के नाम पर एक मंदिर तक बना हुआ है जो इस यक्ष-खस धारणा का खंडन करता है।

खस जाति का विस्तार बड़े व्यापक क्षेत्र में रहा है इसमें कोई संदेह नहीं। ये लोग किसी समय पामीर के पठार, कश्मीर, पंजाब, गढ़वाल, कुमाऊँ और नैपाल से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी तक संपूर्ण हिमालय श्रेणी में फैले हुए थे। पश्चिम में काकेशस पर्वत से लेकर पूर्व में खसिया पहाड़ियों तक इसी जाति की विशेषताएँ मिलती हैं। ग्रियर्सन ने अपने 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण' में लिखा है कि कश्मीर से लेकर दार्जिलिंग तक हिमालय के निचले भाग में जो आर्य भाषा बोलने वाली जनसंख्या है, वह महाभारत में वर्णित प्राचीन खस जाति की वंशज ही है। इन लोगों के मूल निवास के बारे में अनेक विद्वानों ने विचार किया है इतना सभी मानते हैं कि ये लोग कम से कम कुमाऊँ के मूल निवासी नहीं थे। ये बाहर से प्रविष्ट हुए थे भले ही आज जातीय सम्मिश्रण होते रहने के कारण इन्हें परवर्ती जातियों में अलग करना संभव नहीं है।

कुछ विद्वान खसों को आर्य जाति के अंतर्गत स्थान देते हैं यद्यपि आर्यों से इनकी भिन्नताएँ स्पष्ट हैं। संभव है कि ये आर्यों की आने वाली पहली शाखा के लोग हों और यहाँ आकर बसने पर इन्हें पर्याप्त समय व्यतीत हो गया हो। इस बीच स्थानीय जातियों से इनके विचारों एवं रीति रिवाजों का मिश्रण होना स्वाभाविक था। कालांतर में आर्यों की जो दूसरी शाखा आई उसने इन्हें अपने स्तर से कुछ निम्नस्तर का पाया होगा। इस प्रकार एक ही आर्य जाति की पूर्वागत और नवागत शाखाओं में भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई और आज खसों तथा आर्यों में पर्याप्त भेद लक्षित होता है।

श्री पन्नालाल ने अपनी पुस्तक 'कुमाऊँ लोकल कस्टम्स' में लिखा है कि खसों के कुछ रीतिरिवाज वैदिक आर्यों के रीति रिवाजों के समान नहीं हैं जैसे खसों में बिना विवाह किये किसी व्यक्ति को दामाद बनाकर अपने घर में रख लेना, धन संपत्ति में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का अधिकार स्वीकार करना, विधवा द्वारा बिना किसी प्रथा के पर पुरुष को अपने घर में रख लेना आदि। इसी प्रकार उनकी झटेला, 'सौतिया बांट' 'टेकुवा', जैसी प्रथाएँ भी हैं। (पृ० २-५)

यदि कोई स्त्री पहले पति से पुत्र होने पर भी दूसरे घर चली जाती है तो पहले पति की संतान का अधिकार बराबर होता है। यहाँ ऐसी संतान को 'झटेला' कहते हैं। संपत्ति का विभाजन जब पुत्रों की संख्या के आधार पर न होकर पत्नियों की संख्या के आधार पर होता है तो इसे 'सौतिया बाँट' कहते हैं। 'टेकुवा' अथवा 'कठुआ' वह व्यक्ति हैं जिसे कोई विधवा अपना पति बनाकर रख लेती हैं। इसमें वंश परंपरा पूर्व पति से चलती है।

इसी प्रकार डा० लक्ष्मीदत्त जोशी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'खस फेमिली लॉ' में खसों तथा हिन्दू ब्राह्मणों में सात वैवाहिक अंतर बताए हैं जो इस प्रकार हैं —

खस पद्धति	हिन्दू पद्धति
१. उपपति रखा जा सकता है। भाई की विधवा से विवाह हो जाता है।	१. उपपति नहीं रक्खा जाता और विधवा विवाह की प्रथा भी नहीं है।
२. विवाह एक लेनदेन है। स्त्री खरीदी जाती है, उसका मूल्य लिया जाता है।	२. विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता है और स्त्री के बदले में धन नहीं लिया जाता।
३. विवाह के लिये कोई धार्मिक रीति का पालन आवश्यक नहीं है।	३. कन्यादान, आँचल प्रथा जैसी अनेक रीतियों का पालन आवश्यक है।
४. विवाह आपसी बातचीत से तोड़ा जा सकता है।	४. वैवाहिक संबंध अटूट होता है।
५. परस्त्री अथवा ढाँटीं रख नाले समाज में स्वीकृत है।	५. ढाँटी विवाह मान्य नहीं है।
६. यज्ञोपवीत आवश्यक नहीं, यद्यपि अब कुछ लोग धारण करने लगे हैं।	६. यज्ञोपवीत धारण करना अनिवार्य है।
७. स्वयं खेती करते हैं और अपने हाथ से हल चलाते हैं।	७. दूसरों से खेती कराते और अपने हाथों से हल नहीं चलाते।

(पृष्ठ ४६— ५०)

इस प्रकार के मूलभूत अंतर होते हुए भी डाक्टर जोशी ने अन्ततः यही सिद्ध किया है कि खस आर्य जाति के थे किंतु वे वेदों के या वैदिक रीति नीति बनने के बहुत पूर्व भारत में आ गए थे। वे स्वतंत्र धर्म का पालन करने वाले थे।

शेरिंग ने उन्हें आर्यों की शाखा का एक अंग माना है जो वैदिक काल में भारत में प्रविष्ट हुए। और गंगानदी के किनारे किनारे दूसरे स्थानों तक फैलते गए। (वेस्टर्न तिब्बत एन्ड द ब्रिटिश बार्डरलैंन्ड—पृ०-६०)

खस जाति के मूल तथा आगमन के संबंध में मतभेद होने पर भी इतना निश्चित है कि ये बाहर से प्रविष्ट हुये थे और प्राचीन उल्लेखों के आधार पर सिद्ध होता है कि ईसापूर्व व पाश्चात् की शताब्दियों में इतिहास-भूगोल के विद्वानों को खसों का अच्छा परिचय था। शक्तिशाली होने के कारण यह जाति किन्नर किरात भूमि में धीरे धीरे अपना विस्तार करती गई और कालांतर में इस प्रकार किरात मंडल को खस देश बनाने में सफल हुई। राहुल साँकृत्यायन ने लिखा है—

"इस प्रकार उस महाजाति का हमें पता लगाता है, जो किन्नर—किरात जाति की प्रधानता के बाद उनकी भूमि में फ़ैलकर धीरे धीरे सर्वे सर्वा बन गई। भारत के अन्यत्र के उदाहरणों से यह समझना मुश्किल नहीं है कि पहले आए खसों और उनके बाद आए वैदिक आर्यो ने किन्नर-किरातों को एक आत्म सम्मान युक्त स्वतंत्र जाति न रहने दे उन्हें डोम (शिल्पकार) जाति में परिणत कर दिया। अथवा जंगलों में भागने के लिये मजबूर किया। खसों और वैदिक आर्यों में आसानी से समझौता हो गया क्योंकि वह मूलतः एक ही जाति की शाखाएँ थीं। दोनों की संयुक्त शक्ति ही किरातों को पूरी तौर से दबा सकी होगी।" ('हिमालय—परिचय' भाग १—पृष्ठ ५८)

यूनानी, पौराणिक तथा ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि खस जाति ईसा की पहली शताब्दी से बहुत पूर्व यहाँ आकर बस चुकी थी। इस समय खस राजपूत वर्ग में आते हैं, किन्तु खस ब्राह्मण भी हैं जो हल जोतने के कारण वे ब्राह्मण अड़वा 'पितलिया ब्राह्मण भी कहे जाते हैं। यद्यपि स्थिति आज यह है आज कोई ब्राह्मण अपने को खसिया मानने को तैयार नहीं। इसके विपरीत वे खसिया कहने से नाराज होते हैं। खस राजपूतों का स्थानीय लोक-संस्कृति एवं लोक-साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है जिसका अनुमान इतने से किया जा सकता है कि स्थानीय लोक गायकों का अधिकांश वर्ग उन्हीं से जुड़ा हुआ है।

किरात और खसों के उपरान्त वैदिक आर्य कुमाऊँ में प्रविष्ट हुए। वैदिक साहित्य में आर्यों के हिमालय की ओर आने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इनके आगमन का ठीक ठीक ज्ञान न होने पर भी अनुमान है कि ये आर्य कुरु पांचाल युग में उत्तर-भारत के मैदानों से यहां पहुंचे होंगे। कुरु जनपद आर्यों का प्रमुख और प्राचीन जनपद रहा है अतः उससे संबंध रखने के कारण वैदिक आर्यों के आगमन का समय बहुत कुछ निर्दिष्ट किया जा सकता है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि आर्यों के रहते हुए इन पहाड़ों में अधिक संख्या खसों की ही रही जो यहाँ के समाज में आज तक शक्तिशाली हैं।

'जैन' अथवा 'यीन' नामों से युक्त कुछ स्थान होने के कारण एवं गढ़वाल-कुमाऊँ की कुछ देवमूर्तियों में बूटों का प्रयोग मिलने के कारण (बैजनाथ की मूर्ति) यहाँ यूनानी प्रभाव माना जाता है और यूनानी जाति की इधर आने की संभावना प्रगट की जाती है। किन्तु उनकी अपेक्षा 'शक' जाति का आगमन अधिक निश्चित है। ईसापूर्व पहली शताब्दी के आसपास यह जाति सिंध; पंजाब, अफगानिस्तान के साथ पश्चिमी भारत की शासक बन गई। कालान्तर में इनका एक भाग गूजर, अहीर, जाट तथा राजपूतों के रूप में मैदानी भूभागों की ओर चला आया, जिसकी सबसे बड़ी परिचायक यहाँ प्राप्त होने वाली इनकी सूर्य प्रतिमायें हैं। कत्यूरी राजा इसी जाति के माने जाते हैं।

सौक और भोटिया—

संभव है कि कुमाऊँ के उत्तरी भाग में रहने वाली वर्तमान शौक जाति इन्हीं शकों की वंशराज हो जो जोहार-दारमां में रहते हैं। इस जाति के लोग अब मुख्यतः ऊन का व्यापार करते हैं। वर्तमान समय में अन्य लोगों के साथ सम्मिश्रण होते रहने के कारण उन पर कुछ तिब्बती प्रभाव और कुछ हिन्दुओं के प्रभाव लक्षित होते हैं। कहा जाता है कि मौर्य वंश का अंतिम राजा रामपाल कुमाऊँ के राजा शकादित्य द्वारा मारा गया था।

श्री यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' शौक शब्द को शौल्क (शुल्क से व्युत्पन्न मानते हैं। उनका कहना है कि सीमांत में व्यापारी सदियों से स्थानीय अर्थ व्यवस्था के प्रमुख आधार स्तंभ रहे हैं। उस समय कैलास मानसरोवर का प्रदेश नाम मात्र को तिब्बत में था। प्रतिवर्ष सैकड़ों भारतीय वहाँ तक यात्रा करते थे। उनके आने जांने में न कोई बन्धन था न किसी प्रकार का प्रवेश पत्र आवश्यक था। शुल्क वसूल करने वाले ये सीमान्त वासी 'शौल्क' कहे जाते होंगे। राजुली मालूशाही–पृ० ४)

कुमाऊँ के तत्कालीन इतिहास में हूण जाति का उल्लेख मिलता है। तिब्बत के दक्षिण–पश्चिमी भाग को बोलचाल में 'हुण देश' कहते हैं। शायद इसीलिये कल्पना की जाती है कि इतिहास प्रसिद्ध हूण जाति इधर तक आई हो। किंतु हुण देश शब्द की व्युत्पत्ति 'ह्यू़ देश' अर्थात हिम देश और ऊन देश से भी सिद्ध की जा सकती है। यहाँ ऊन होता ही है और हिम साल भर जमा रहता है। इस अधार पर हूण जाति का आगमन प्रमाणित नहीं होता। यह प्रश्न विवादास्पद है कि हूण जाति यहाँ प्रविष्ट हुई अथवा नहीं। तिब्बत के लामाओं को हुणिया अवश्य कहा जाता है।

तिब्बती लोग अवश्य यहाँ प्रविष्ट हुए जैसा कि प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर प्राय: दो सौ वर्षों तक तिब्बत का राज्य संपूर्ण हिमालय में व्यापक रहा जिसकी छाप कुमाऊँ के उत्तरी सीमा प्रान्त पर अभी तक स्पष्ट है। दारमां निवासियों का रहन-सहन संस्कार-पद्धति आचार—विचार, भाषा आदि तिब्बत वासियों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। इसी कारण कुमाऊँ के अन्य लोगों से उनमें अंतर आ गया है।

उन लोगों को साधारण बोल चाल में 'भोटिया कहते हैं। भोटिया का तात्पर्य है। 'भोट' नामक स्थान का रहने वाला। उत्तरी सीमा पर हिमाच्छादित संपूर्ण भाग 'भोट' कहा जाता है। यह शब्द 'बोध' का परिवर्तित रूप है जो तिब्बत का स्थानीय नाम है। शौक और भोटिये वस्तुत: एक ही लोग हैं इसलिये कहा जा सकता है कि कुमाऊँ के उत्तर सीमावर्ति भाग में शक एवं तिब्बती दोनों ही जातियों के वंशज मिश्रित होकर अंततः एक हो गए। सात आठ सौ वर्षों का समय इस प्रकार के जनजातीय समिश्रण के लिये पर्याप्त है।

मध्यकाल के आरंभ में यहाँ भारत के अन्य स्थानों से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों का आगमन हुआ जिसका प्रमुख कारण धार्मिक और ऐतिहासिक रहा होगा। कुमाऊँ—गढ़वाल में बद्रीनाथ, केदार नाथ, हरिद्वार जैसे प्रसिद्ध तीर्थ हैं जिनकी यात्राओं पर आने वाले लोग यहीं बस गए। कत्यूरी और चन्द राजाओं के साथ बाहर से अनेक जातियाँ आईं जो स्थानीय शासको द्वारा सम्मान प्राप्त होने पर यहीं रहने लगीं। चन्द राजाओं ने मुख्य रूप से बाहर से आने वाले ब्राह्मणों को अपने यहाँ राजगुरु, पुरोहित, मंत्री, वैद्य, ज्योतिषी, पौराणिक, कर्मकाण्डी, धर्माध्यक्ष, सेनापति आदि के पदों पर नियुक्त किया। ब्राह्मणों के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्राय: भारत के सभी भागों से आकर यहाँ बसते गए।

ब्राह्मण और राजपूत--

श्री गंगा दत्त उप्रेती ने अपनी पुस्तक 'मार्शल कास्ट्स आफ दी अल्मोड़ा डिस्ट्रक्ट' में १६०७ ई० स्थानीय जातियों की एक विस्तृत सूची दी है जिससे स्थानीय जातीय विविधता पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण — समुदाय में पन्त, पाण्डे, जोशी, उप्रेती, त्रिपाठी, भट्ट, पाठक, पुनेठा, ओझा, वैष्णव आदि लोग प्रमुख हैं जो कम से कम भारत के सैंतिस स्थानों से आए हैं। पन्तों का दसवीं शताब्दी में कोंकण से आना कहा गया है जिनके अनेक गोत्र स्थानीय नामों से प्रसिद्ध हैं। पांडेय ब्राह्मण पंजाब, झूंसी, बांदा, कन्नौज आदि स्थानों से आये हुए माने जाते हैं जो सोमचन्द के साथ सर्वप्रथम काली कुमाऊँ में बसे। जोशी लोग कन्नौज, प्रयाग, नैपाल झाँसी और दक्षिण भारत से आए जिनमें कुछ चंद राज्य के आरंभ, में और कुछ राजा थौहरचंद के समय चौदहवीं शताब्दी में आकर बसे।

विभिन्न स्थानों के अनुसार पंत लोग पांच प्रकार के हैं। प्रायः, पान्डेय लोग प्रायः दस प्रकार के हैं और जोशी प्रायः चौदह प्रकार हैं प्रायः ये एक दूसरे से अपनी प्राचीनता सिद्ध करते हैं।

कुछ ब्राह्मण जातियों ने यहाँ के सामाजिक विकास में बड़ा योग दिया। प्रभुता संपन्न होने के कारण उन्होंने कई बार महत्वपूर्ण निर्णय किये। इनमें पंत, जोशी और पांडेय प्रमुख हैं जो चन्दों के यहाँ सेनानी, पुरोहित, परामर्श दाता, जैसे प्रमुख पदों पर रहे। इनमें एक पुरखू पन्त राजा रुद्रचन्द्र (१५-६५—१५६७) के सेनापति थे जो गढ़वाल से युद्ध करते समय मारे गए। उन्हीं के वंशज जयदेव पन्त हुए जिनकी परंपरा में भारत के गृहमंत्री स्व० पं० गोविन्द बल्लभ पंत थे।

जोशियों का प्रभुत्व चन्द राजवंश के अंतिम समय में बहुत बढ़ गया था। शिवदेव जोशी ने राजा दीपचंद को (१७४७—१७७७) अपनी मुट्ठी में कर लिया था और हर्षदेव जोशी तो स्थानीय इतिहास में चाणक्य के समान महान कूट नीतिज्ञ के रूप में विख्यात हैं (उन्नीसवीं शताब्दी)

बाल्टन ने अपने अल्मोड़ा गजेटियर में यहाँ के ब्राह्मणों की संख्या १११८-१० बतलाई है और राजपूतों की संख्या २२४३७० बतलाई है (पृ० ६३-६४)। नेविल ने अपने नैनीताल के गजेटियर में ब्राह्मणों की संख्या ३६४४४ दी है और क्षत्रिय राजपूतों की संख्या ५०५६०। (पृष्ठ १०३-१०४)। अर्थात् सारे कुमाऊँ में राजपूतों की संख्या ब्राह्मण जातियों की अपेक्षा अधिक है। गजेटियरों के ये आंकड़े लगभग ५५ वर्ष पुराने हैं, फिर भी जातीय विभाजन पर सम्यक् प्रकाश डालते हैं।

हमें यह अंतर ध्यान में रखना होगा क्योंकि इस जातीय स्थिति का सामाजिक परंपराओं के विकास पर, रीति-रिवाजों और लोक विश्वासों पर बहुत प्रभाव पड़ा है जो लोक-संस्कृति की पीठिका तैयार करते हैं। इन राजपूत क्षत्रियों ने ब्राह्मणों तक को आचार-विचार और रीति-रिवाज में प्रभावित किया है।

वर्त्तमान निवासियों का जातीय विश्लेषण करने पर यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय राजपूतों के अतिरिक्त वैश्य, शूद्र, मुसलमान, ईसाई जातियों तक के नाम मिलते हैं जो समय समय पर यहाँ आकर बसती गईं।

इतन स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है कि अत्यधिक जातीय समिश्रण होने पर भी यहाँ सर्वाधिक संख्या राजपूतों की है। गंगादत्त उप्रेती ने इन राजपूत क्षत्रियों को चार वर्गों में बाँटा है—

(१) चन्द्र रजवार, रौतेला, पड्यार, नेगी, शाही, मनराल आदि को प्रथम श्रेणी का राजपूत माना है जो तत्कालीन शासकों के निकट संबंधी होने के कारण शुद्ध राजपूत कहलाते थे।

(२) दूसरी श्रेणी के राजपूतों में महर, कठेंत, पँवार, मेहता, कारकी, बेलवाल, खाती, कड़त्याल, डंगवाल आदि लोग हैं।

(३) तीसरी श्रेणी में वे राजपूत हैं जिनका मूल स्थान ज्ञात नहीं है। इनमें सिराड़ी, बेलवाल, पिलख्वाल,ततराड़ी आदि लोग हैं।

(४) चौथा वर्ग उन लोगों का है जिन्हें भंडारी, आगरी, नयाल, लूल, नैक बाड़िया आदि कहते हैं। (पृष्ठ—६)

इनमें कुछ क्षत्रियों का आगमन और समय प्रायः अनुमानित है किन्तु अधिकांश संख्या उन लोगों की है जो व्यवसाय के आधार पर प्रसिद्ध हुए हैं।

श्री लक्ष्मण सिंह परमार ने कोटालगढ़ और लोहाघाट के परमारों पर विचार करते हुए कुमाऊँ में इनका आगमन छठीं शताब्दी तक का सिद्ध किया है। उनका कथन है कि राजस्थान में परमार साम्राज्य के समाप्त होने पर उस राजवंश की एक शाखा कुमाऊँ की ओर चली आई, जिसने कोटालगढ़ में किला बना कर शासन किया। कुमाऊँ के परमार शासक ने जब दिल्ली राज्य पर आक्रमण किया तो उसकी सेना में कुछ दूसरे वंश के लोग थे। यहीं सैन्यभेद आगे चल कर महर और फड़त्याल दो दलों के रूप में उभरा। परमार राजा अपने मंदिरों को सजाने के लिये सोने और चाँदी की मूर्तियाँ

बनवाते थे। (परामार्स आफ दी कोटालगढ़ प्रिंसिपैलिटी, लोहा घाट काली कुमाऊँ -पृष्ठ ९-१५)।

महर और फड़त्याल जातियों का आगमन चाहे जहाँ से हुआ हो किंतु अपने व्यापक प्रभाव के कारण ये कुमाऊँ के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण रहे हैं। चंदों के राज्यारंभ के समय में ही वे दो परस्पर विरोधी दलों के रूप में उभर आये थे। महरों का प्रधान ग्राम डँगरी था। ये दोनों स्थान पूर्वी कुमाऊँ के लोहा घाट नामक स्थान के आस-पास हैं। इन दोनों दलों की पारस्परिक प्रति द्वंदिता से चंद राज्य के उत्थान और पतन दोनों पर प्रभाव पड़ा।

सोमचन्द्र ने दोनों दलों को अपने अधीन कर चन्द राज्य प्रणाली की नींव डाली। चंद राज्य में महर--फड़त्याल दोनों ने अपने किले बनवाए जिन्हें बुंगा कहते हैं। दोनों दलों के नेताओं को बराबरी से तिलक लगाया जाता था। कुछ समय तक जब महर जाति के हाथ में राज्य की बागडोर रही तो फड़त्यालों ने उनसे असंतुष्ट होकर अपने व्यक्ति को प्रधानमंत्री बनाना चाहा राजा दीप-चंद के समय इनका अंतर्विरोध इता अधिक हुआ कि राजा को गढ़वाल से युद्ध में उलझना पड़ा। काली कुमाऊँ की ये दोनों जातियाँ अभी तक प्रसिद्ध हैं।

अठकिंसन ने संभवत: ठीक लिखा है कि इनके सदियों तक चलने वाले संघर्ष का ऐसा उदाहरण सारे इतिहास में कहीं नहीं मिलता। चंद राजा इनके हाथों में कठपुतली मात्र रह गए थे। उसकी ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

'परहैप्स इन द एन्टायर हिस्ट्री आफ इण्डिया देयर इज नो रिकार्ड आफ सच ए विटर एण्ड लांग कंटीन्यूड स्ट्राइफ एज हैज एक्जिस्टेड फ्रॉम टाइम इम्मेमोरियल बिटवीन दीज टू पार्टीज (हिमालयन ,डिस्ट्रिक्टस' भाग—२, पृष्ठ ५०७)

कुछ जातियों के नाम उनके काम धन्धों के आधार पर पड़े हैं जैसे टोकरी बनाने वालों को 'वड़िया कहते' कहते थे। राजा को दाड़िम देने वाले लोगों को 'दड़म्वाल' कहते थे। जिन लोगों का काम पानी गरम करना था उन्हें 'तातवानी' कहते थे। रानियों को मंत्र देने वाले 'गुरुरानी कहलाए। कुछ जातियों के नाम करन स्थानों की प्रसिद्धि पर आधारित है जैसे 'कपकोटी' कठेड़ (रुहेलखंड) 'कठेड़िया' (नगरकोट) से 'नगरकोटी' चौमूं से 'चौमवाल' सन से 'सनवाल आदि। आधुनिक काल में तथाकथित बहुत सी जातियों ने सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपना आस्पद बदल दिया है वैश्य और शूद्र उक्त जातियों के अतिरिक्त कुमाऊँ में वैश्य और शूद्र जातियों

भी है जिन्होंने लोक जीवन के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। वैश्य लोग यहाँ 'साह' अथवा 'शाह' कहलाते हैं जो सेठ या साहूकार का पर्याय है।कुमाऊँ का अधिकांश व्यापार शाह लोगों के हाथ में है। कुछ लोग नौकरी भी करते हैं। ये अधिकतर मैदानी भागों से आए हुए व्यापारियों के वंशज हैं। चौधरी गंगोला, जगाती आदि लोग इन्हीं की शाखा, प्रशाखाएं हैं जो सभी हिन्दू परंपराओं को मानते हैं। जिला नैनीताल में वे तराई भावर को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर बसे हुए हैं। पहाड़ी पट्टियों में ये अपने आचार व्यवहार में पूर्णतः पहाड़ी हो गए हैं।

कैप्टन नंदलाल साह ने कुमाऊँ का साह वंश शीर्षक एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने लखभग ग्यारह तर्क देकर कुमाउँनी साहवंश को क्षत्रिय वंशी सिद्ध करने की चेष्टा की हैं। उनके मतानुसार 'शाह' शब्द का अर्थ राजा है। जो शौर्य का द्योतक है। मध्यकालीन राजपूतों ने 'साह' और 'सिंह' जैसे शब्दों का प्रयोग उपाधि सूचक अर्थ में ग्रहण किया था। क्षत्रिय लोग सिंह के स्थान पर साह, शब्दों का प्रयोग करते थे, इसलिये कुमाऊँनी साह लोग क्षत्रिय हैं। उन्होंने लिखा है—

"साह वंश के क्षत्रिय होने का प्रमाण यह भी है कि मणिकोट के राजाओं के यहाँ ये लोग दीबान थे और उनके गुरू वही थे जो कि राजा के थे। इस प्रकार साह लोग राजा कुमाऊँ के गुरुभाई हुए। जो लोग इनके गुरु थे वे इतने उन्नत तथा दृढ़ विचार के थे कि उन्होंने सिवाय शुद्ध क्षत्रिय और राजघराने के अन्य किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया। इससे यह बात सिद्ध होती है कि साह लोग शुद्ध क्षत्रिय घराने के थे (पृ०२२—२३)

किन्तु श्री देवीदत्त तेवाड़ी ने उपर्युक्त मत का खंडन करते हुए लिखा है कि 'शाह' शब्द जो अन्यत्र मैदानों में वैश्यवर्ग के लिये प्रयुक्त होता है वह प्राचीन काल में न तो साह शब्द का अशुद्ध रूप था, न उसका संबंध फारसी शाह से है। भारत में प्राचीन काल से सोम रस का व्यवहार करने वाले 'सौ' कहे गए। चूंकि इन 'सौ' लोगों की वृत्ति अच्छी मानी जाती थी, अतः वे साह भी कहे जाने लगे, व्यापार करने के कारण साह लोग धनी होते थे। अतः वे साहू कहलाने लगे। तेवाड़ी जी ने इन शाहों को न केवल भिन्न वंश का बल्कि तीन प्रकार का सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—

"गणना और प्रभावानुसार पाहिला स्थान उस समूह का है जो चंद राज्यकाल से यहाँ आकर बसे हैं और जो समय समय पर राज्य के कई मान-

नीय पदों को प्राप्त करते रहे हैं जो साहू कहलाते थे और व्यापार को अपनाते थे। दूसरा स्थान उन थोड़े से राजपूत या क्षत्रिय वंशज साह लोगों का है जो बहुत ही थोड़ी सी संख्या में नैनीताल में बसते हैं और जिनके संबंध साह तथा क्षत्रिय दोनो से ही होते हैं। इनको साह कहे जाते हुए अभी थोड़ा समय हुआ है और उनके मूल पुरुष का नाम स्थान तथा जाति पूर्णतया विदित है। तीसरा स्थान उन अन्य लोगों का है जो राजपूत क्षत्रिय या खस बंशों में उत्पन्न हैं पर जो व्यापार करने से साह कहे जाने लगे हैं। यहाँ पर थोड़े से साह लोग ऐसे भी वैश्य हैं जो थोड़ी ही पीढ़ियों से यहाँ परदेशों से आ बसे हैं या बसते जा रहे हैं और यहाँ के रिवाज के अनुसार अर्थात् व्यापार के ही कारण कभी कभी साह कह या लिख दिये जाते हैं।" ('कूर्माचलीय साह समाज–' भूमिका पृष्ठ–५)

साह लोग किसी भी वंश से सम्बन्ध रखते हों किन्तु वे कुमाऊँ में बहुत प्राचीन काल से रहते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। कुमाऊँ में उनका उल्लेख चन्द राजाओं के कुछ ताम्रपत्रों में हुआ है जिनमें पहले ताम्रपत्र का समय १३५१ शाके अर्थात् १४२६ ईसवी है। इसके साथ तीसरे ताम्रपत्र में, जो कि बाद का है, 'कउलु साहु', 'रुद्र साउ' 'परि साउ' नाम आए हैं, कुमाऊँ में साह लोगों का मुख्य व्यवसाय व्यापार करना ही था।

यह साधु का अपभ्रंश रूप भी हो सकता है जैसी कि नित्यानन्द मिश्र ने संभावना प्रकट की है। इन ताम्रपत्रों से हमें ज्ञात होता है कि 'साहु' का मुख्य कर्त्तव्य सरकारी दस्तावेजों को संभालना था। तथा ताम्रपत्रों को उत्कीर्ण करना था। पहले ताम्रपत्र का लेखक 'रुद्र साउ' है और ताम्रपत्र का उत्कीर्णक 'परि साउ' है। कभी वे कोषाध्यक्ष का भी काम करते थे। (जर्नल यू० पी हिस्टॉरिकल सोसायटी खंड-१५-भाग २) १४२६ ईसवी में यहाँ धर्म चन्द का राज्य था।

अंत्यज मानी जाने वाली जातियों में शूद्र या तथा कथित डोम लोग हैं जिन्हें अब शिल्पकार कहा जाता है। इन जातियों में भी अब श्रेणी-विभाजन सा हो गया है। राजपूतों की सभी बस्तियों में ये लोग पाए जाते हैं और युगों से ऊँचे लोगों की सेवा करते आए हैं। इनके अपने खेत नहीं होते। ये मजदूरी अथवा शिल्प द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते हैं। आपस में ये लोग तल्ली जात, अथवा बाहर जात का प्रयोग करते हैं। 'डोम' नाम इन्हें बड़ी जाति वालों ने दिया है जो अब अपशब्द माना जाता है।

प्रचलित मान्यताओं के अनुसार इनकी प्रायः चार श्रेणियाँ हैं। शिल्पकारों की प्रथम श्रेणी में कोली, टमटा, ओड़, लोहार आते हैं। 'कोली' कपड़ा बनाते थे, अब खेती करते हैं और जानवर पालते हैं। 'टमटा' ताँबे के बरतन बनाने का व्यवसाय करते थे। 'ओड़' राज या मिस्त्री को कहते हैं। बोलचाल में 'ओड़ का अर्थ दीवार होता है। अर्थात् दीवाल या मकान की चुनाई करने वाले 'ओड़' लोग हैं।

शिल्पकारों की दूसरी श्रेणी में 'भूल', 'रूड़िया', 'चिनड़िया', 'पहरी' आदि लोग हैं। 'भूल' तेल निकालने वाले अथवा कोल्हू चलाने वाले थे। 'रूड़िया' बाँस की टोकरियाँ और चटाइयाँ बनाते हैं। 'चिनड़िया' लोग लकड़ी के बरतन बनाते हैं। 'पहरी' गाँव के प्रधान का दूत होता था।

तीसरी श्रेणी में चमार, मोची, बखरिया, धुना और 'हनकिया' सम्मिलित हैं। 'बखरिया' राजाओं के घोड़ों की देख भाल करते थे। 'धुना' लोग रूई धुनने का काम करते थे। 'हनकिया' कुम्हार, का काम करते थे।

चौथी श्रेणी में 'बादी', 'हुड़किया', 'दरजी,' 'ढोली', 'डुमजोगी', 'भांड़' और 'हलिया' आदि हैं। 'बादी' अधिकतर सपरिवार घूम घाम कर गायन वादन का काम करते हैं। 'हुड़किया' हुड़का बाजा बजा कर पुरानी गाथाओं को गाते हैं, इनकी स्त्रियाँ नाचती हैं। दरजी को 'औजी' भी कहते हैं। 'ढोली' लोग ढोलक बजाकर गाते हैं और देवता बुलाते हैं। इनका 'औजी' से साम्य है। 'डुमजोगी' मांगते खाते हैं और 'हलिया' हल चलाने वाले को कहते हैं। वह १८४० ई० तक जमीन के साथ बेचा जा सकता था। अब इनकी मान्यता शीघ्रता से बदल रही हैं।

शिल्पकारों के उक्त श्रेणी विभाजन में यह द्रष्टव्य है कि पहली और दूसरी श्रेणी के लोगों में विवाह हो सकते हैं। शिल्पकारों को अब हरिजन भी कहते हैं।

उनमें चौथी श्रेणी के लोग अर्थात् ढोली बादी आदि हमारे लिये विशेष महत्व के हैं क्योंकि कुमाऊँ के लोक संगीत, लोकनृत्य, लोकगीत, लोकगाथा और लोकधर्म आदि से इनका जीवन घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। यही लोग कथा कहानी और पहेली कहने सुनने का कार्य करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कुमाऊँ की सांस्कृतिक विरासत मुख्य रूप से इन्हीं लोगों के हाथ में है जिन्हें सामाजिक पदमर्यादा में निम्नतम स्थान दिया गया है। हिन्दू समाज में सबसे निचला स्तर शिल्पकारों का है उसमें भी सबसे निम्न स्थान इन लोक

गायकों का है। अधिकांश ग्राम देवी देवताओं की पूजा यही लोग करते हैं। इन्हीं के शरीर में गंगानाथ ,कलविष्ट, क्षेत्रपाल, जैसे लोक देवता अवतरित होते हैं। तब ये उछल, कूद कर, जोर से चिल्लाकर भविष्य कथन करते हैं। अब धीरे-धीरे इनमें जागृति उत्पन्न हो रही है।

मिश्रित जातियों में 'नायक', 'आगरिया', 'बैंड़ी', 'बागुरी' आदि हैं जिनकी संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है।'नायक' लोगों की कटारमल, पिथौरागढ़, रामगढ़ नामक स्थानों में बस्तियाँ थीं जिनकी उत्पत्ति संभवतः चंद राजाओं के समय देवदासियों से हुई थी। इनका प्रमुख कार्य नाचना गाना था। इनका सर्वप्रथम उल्लेख पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतीचन्द के समय हुआ है 'आगरिया' जाति का मुख्य व्यवसाय लोहे और तांबे की खानों से धातु निकालना था। आगर नामक स्थान इनका केन्द्र होने के कारण इनका यही नाम पड़ गया। 'बैंड़ी' को बाँसफोड़ भी कहते हैं जिनका काम बाँस फोड़ना ,चटाई आदि बनाना था 'बाँगुर' जाल को कहते हैं ये लोग बहेलिया थे जिनका काम पशु-पक्षी पकड़ना था। अब ये लोग अपने समकक्ष दूसरी जातियों में घुल मिल गये हैं। ये पेशेवर जातियाँ हैं जिनका उदय चन्द राजाओं के समय हुआ।

थारू और बोक्सा—

नैनीताल जिले की तराई में 'थारू' और 'बोक्सा' जाति के लोग रहते हैं जिनकी विस्तृत चर्चा आगे की जायगी। इन लोगों की परम्पराएँ और प्रथाएँ हिन्दुओं से कुछ भिन्न हैं, फिर भी ये हिन्दू ही हैं। तराई किछा तहसील में और नैपाल की तराई में 'थारू' लोगों की अधिक संख्या है। तराई के पश्चिमी भाग में 'बोक्सा' जाति रहती है जिनके केन्द्र गूलरबोज और बाजपुर नामक स्थान हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी तक यही लोग तराई भाबर के मुख्य निवासी थे क्योंकि मलेरिया के कारण दूसरे लोग वहाँ जाने में डरते थे।

'थारू' समाज में स्त्रियों का दरजा पुरुषों की अपेक्षा ऊँचा है। वे अपने पतियों को चौके के बाहर भोजन कराती हैं। 'बोक्सा' लोग अपने को पैवार राजपूत कहते हैं। तराई-भावर में इनके अतिरिक्त गूजर, अहीर, गड़ेरिये, खटिक, कोरी, पासी, नट और कंजर आदि लोग रहते हैं। इनमें मुख्यतः नट और कंजर नाच गाकर मनोरंजन करते हैं। पहाड़ी भागों में यह काम बादी और हुड़कियों का होता है।

कुमाऊँ में उपर्युक्त बड़ी छोटी जातियों के अतिरिक्त जोगी जंगम बहुत संख्या में रहते हैं। इनकी अनेक शाखा उपशाखाएँ कनफटे, उदासी, बैरागी,

अघोरी, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें कनफटे 'नाथ' बहुत प्रसिद्ध हैं जो अपने को गोरखनाथ का अनुयायी कहते हैं। नाथ पंथ की व्यापकता का प्रमाण यहाँ स्थानों एवं व्यक्तियों के नामों से मिलता है। इनकी शिष्य परम्परा और रक्त परम्परा कुमाऊँ भर में फैली हुई है। इस पंथ के साधु ऊपर से नीचे तक एक गेरुआ वस्त्र पहनते हैं और कानों में सींग या स्फटिक की मुद्राएँ धारण करते हैं। 'जागर' नामक धार्मिक लोक गाथाओं में इनका मुख्य रूप से उल्लेख होता है। कुछ जोगी लोग इकतारा बजा कर पारम्परिक और धार्मिक गाथाएँ सुना सुना कर गाँव गाँव में भीख माँगते हैं।

उपर्युक्त जातियों का विश्लेषण करने से जो कि सभी हिन्दू हैं, यह निष्कर्ष निकलता है कि कुमाऊँ में हिन्दू समाज का संगठन चार प्रकार के स्तरों से हुआ है। एक स्तर खस राजपूत, खस ब्राह्मण और हरिजन शिल्पकारों का है जो यहाँ के मूल निवासियों के वंशज हैं अथवा अत्यन्त प्राचीन काल में लगभग दसवीं शताब्दी तक जिनके पूर्वज कहीं से यहाँ आकर बस गए थे। दूसरा स्तर उन ब्राह्मणों, राजपूतों तथा अन्य जातियों का है जो दसवीं शताब्दी के उपरान्त विभिन्न राजाओं के समय में भारतीय मैदानों से यहाँ आकर रहने लगे हैं। तीसरा स्तर तिब्बत प्रभावित भोट प्रदेश के लोगों का है जो अब संस्कार, रीति-रिवाज आदि में हिन्दू हो गए हैं, यद्यपि उनकी कुछ प्रथाएँ स्वतंत्र हैं। चौथा स्तर नायक, थाड़ू, बोक्सा जैसी मिश्रित और अल्प संख्यक जातियों का है।

कुमाऊँनी लोक-साहित्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए इस स्थानीय सामाजिक संगठन को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

कुमाऊँ में १७वीं शताब्दी से मुसलमान, ईसाई आदि जातियाँ भी आती रही हैं किन्तु लोक संस्कृति को प्रभावित करने की दृष्टि से उनका महत्त्व विशेष नहीं है। मुसलमान जाति यहाँ बाजबहादुरचन्द (१६३८-१६७८ इसवीं) के समय से आई। रुहेलों की चढ़ाई के उपरान्त इनका आगमन बढ़ता गया। नैनीताल की तराई में काशीपुर किछा और हलद्वानी की तहसीलों में इनकी अधिक संख्या है। शेख, सैयद, पठान, तुर्क इनकी अनेक शाखाएँ हैं, ये लोग मुख्यत: व्यापारी हैं। स्थानीय लोक जीवन पर इनका इतना ही प्रभाव है कि ये ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और कहीं लोकगीतों में इनकी चर्चा हो जाती है।

ईसाई लोग अँगरेजी राज्य की स्थापना के साथ कुमाऊँ में प्रविष्ट हुए। इन्होंने यहाँ के निवासियों को ईसाई बनाने का कार्य सन् १८५० से आरम्भ

किया। अल्मोड़ा, नैनीताल, द्वाराहाट और पिथौरागढ़ में ईसाई मिशनरियों के कार्यालय खुलते गए। सन् १८५६ में मिशन हाल नामक पहला गिरजा नैनीताल में बना। धीरे-धीरे धारचूला, चौदाँस और जोहार तक इनके केन्द्र खुल गए। ईसाई लोगों ने कुमाऊँ के निम्नवर्ग को शिक्षित बनाने में तो पर्याप्त योग दिया है किन्तु यहाँ के लोक जीवन अथवा लोक संस्कृति पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता।

जातीय प्रभाव—

उक्त जातीय पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण यहाँ के समाज में जहाँ आचार विचार की भिन्नता सूचित करता है, वहीं पर एक विराट समन्वय की ओर भी संकेत करता है। एक ओर यदि हिन्दुओं के रीति-रिवाज, पर्व तथा संस्कार दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर सीमावर्ती प्रांत में भोटियों के अलग रीति रिवाज हैं। तीसरी ओर तराई भाबर की ओर थाड़ू, बोक्सों के अलग रीति रिवाज हैं।

इनकी भिन्नताएँ ही मिलकर कुमाउँनी संस्कृति का निर्माण करती हैं। भोटियों के जन्म, विवाह मृत्यु आदि सम्बन्धी जो संस्कार हैं उनमें अनेक हिन्दुओं और थाड़ू बोक्सों के समाज में प्रचलित नहीं हैं। दारमा में 'रांग बांग' जैसी प्रथा आजतक प्रचलित है। हिन्दू लोग उसे पिछड़ी जाति की विशेषता समझते हैं ओर थारू लोग उसे जानते तक नहीं।

हिन्दुओं के ही न जाने कितने पर्व और त्यौहार अब घुलमिल जाने के कारण उन्हीं के प्रतीत होते हैं। नारी जीवन यहाँ अधिक स्वतन्त्र रहा है। पर्दा प्रथा न होने के कारण तथा खेती और घर का अधिकांश कार्य स्वयं करने के कारण उनका जीवन पुरुषों के समान विकसित हुआ है। यहाँ की ग्रामीण स्त्री अकेले जंगलों से लकड़ी घास काट लाती हैं, नदी नालों से पानी भर लाती है और खेती के कार्य में हाथ बँटाती है। पुरुष के साथ उसके वैयक्तिक सम्बन्ध अधिक स्वतन्त्र हैं। इसी कारण यहाँ यौन वर्जना उतनी कठोर नहीं है जितनी अन्यत्र दिखाई देती है। सामूहिक त्योहारों और उत्सवों में स्त्री पुरुष की भाँति खुल कर भाग लेती हैं।

अनेक सामूहिक गीतों में वह सक्रिय योग देती हैं। 'चाँचरी नामक नृत्य-गीत में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ अधिक संख्या में सम्मिलित' होकर अपनी उल्लासमयी भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। यही कारण है कि कुमाऊँनी

लोक-साहित्य में नारी जीवन सम्बन्धी भावनाएँ विशेष रूप से मुखरित हुई हैं।

सामाजिक दृष्टि से कुमाऊँ में धोबी, अहीर, कुम्हार जैसी अलग जातियों का स्पष्ट विभाजन नहीं है यद्यपि ये व्यवसाय अवश्य प्रचलित हैं। वैसे कुम्हार मनिहार, मछुए आदि कहे जाने वाले लोग इस प्रदेश में कहीं न कहीं अवश्य मिल जाते हैं लेकिन उनकी संख्या नगण्य है सामाजिक दृष्टि से उनका अलग महत्त्व नहीं है, इसलिए गीत साहित्य में उनका उल्लेख नहीं हुआ। अन्य जन-पदों की भाँति यहाँ धोबी, अहीर, मछुए, चमारों आदि के गीत अथवा उनकी लोक कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

इस जातीय विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगा कि कुमाउँनी लोक समाज अनेक जातीय तत्वों के सम्मिश्रण से मिलकर बना है। यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ के संगीत, साहित्य अथवा कला आदि में किसी एक ही जाति का अधिकार अथवा प्रभाव था। विभिन्न जातियों के आगमन ने यहाँ सामाजिक परम्पराओं को न जाने कितनी बार उलटा-पलटा होगा और इन सामाजिक परम्पराओं ने न जाने कितनी बार यहाँ के लोक-साहित्य की दिशाएं निर्दिष्ट की होंगी, इसे कौन बता सकता है।

इस समय यही कहा जा सकता है कि कुमाऊँनी लोक-साहित्य अनेक स्थानीय परम्पराओं का उत्तराधिकारी है। अनेक प्रकार की विचार धाराएँ कहीं पर मिला कर एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म देती हैं और किसी जनपद का साहित्य उसके इसी सामाजिक विकास का विभिन्न जातियों की अंततः एक रूपता का दर्पण जैसे होता है।

कुमाउँनी लोक-साहित्य का विश्लेषण करते समय उसकी भिन्न-भिन्न विशेषताओं को लक्षित करते हुए इस जातीय विविधता को निश्चयपूर्वक ध्यान में रखना होगा।

५. धार्मिक पृष्ठभूमि

लोक धर्म का स्वरूप—

किसी क्षेत्र के निवासियों की जो धार्मिक दृष्टि विशिष्ट प्राकृतिक वातावरण के अनुसार निर्धारित होती है, वह कालान्तर में जीवन के विविध पक्षों सहित साहित्य को प्रभावित करती है। कुमाऊँ के निवासी प्राय: धर्म भीरू हैं और अनादि काल से प्रकृति के उपासक रहे हैं। हिन्दु के प्रसिद्ध देवता राम तथा कृष्ण की उपासना तो यहाँ बहुत बाद में आरम्भ हुई। हिमालय की घाटियों में शायद कोई नदी, घाटी ऐसी नहीं होगी जहाँ किसी न किसी देवी-देवता की स्थापना न हुई हो। हिन्दू देवताओं की अपेक्षा यहाँ का निवासी स्थानीय देवी-देवताओं से अधिक प्रभावित है। इन देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ उसमें भय के साथ पूज्य बुद्धि उत्पन्न करती हैं।

भारतीय लोक संस्कृति का सबसे विचित्र और विविध अंग उसकी धार्मिक परम्परा है। यहाँ विभिन्न धार्मिक मान्यताओं का ऐसा अद्‌भुत समन्वय हुआ है तथा लगभग पाँच हजार वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में चली आ रही उनकी कुछ ऐसी अक्षुण्ण धारा है कि जिज्ञासु अध्येता बड़े आश्चर्य में पड़ जाता है।

अत्यन्त प्राचीन काल से इस विशाल भारतीय भूखंड के विविध जनपदों में अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले तथा विभिन्न धर्मों को मानने वाले जनों का उल्लेख मिलने लगता है। 'अथर्ववेद' में स्पष्ट उल्लेख है –

'जनं विभ्रती बहुधा विवम्वसम नाना धर्माणं पृथिवी यद्योकसम्
(१२।१।४५)

इससे स्पष्ट होता है कि रूढ़िगत वैदिक धर्म के अतिरिक्त सामान्य जनता का अपना एक अलग धर्म था। उसके अपने देवी-देवता थे जिनकी पूजा-उपासना वह अपने ढंग से किया करती थी। विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले इन देवताओं की सबसे वड़ी विशेषता यह थी कि वे एक वर्ग विशेष अथवा जाति विशेष तक सीमित रहते थे। यह दूसरी बात है कि कभी इनमें से कोई देवता अत्यधिक ख्याति पा जाए और देश काल की परिधि को लाँघकर अन्य स्थानों पर भी पूजा जाने लगे।

यहाँ पर कुमाऊँ जनपद को ही ध्यान में रखकर हम उदाहरण स्वरूप यक्षपूजा को ले सकते हैं। प्राचीन काल में यक्ष पूजा नाम से प्रसिद्ध या लोक पूजा आज तक वीर ब्रह्म के नाम से प्रचलित है। कुमाऊँ में भिन्न नामान्तरों से यह पूजा होती है। अलमोड़ा में जाखन देवी का मंदिर यक्षपूजा का ही प्रमाण है। यक्ष शब्द घिसता हुआ 'जाखन' हो गया है।

नाग पूजा भारतीय लोक धर्म का एक बहुत प्राचीन रूप है। समस्त कुमाऊँ में फैले हुए नाग मंदिर और वेनीनाग, ककेटिक नाग जैसे नाम इसी वीर ब्रह्म पूजा के परिचायक हैं। अकेले वेनीनाग पुंगराऊँ में आठ नाग हैं—वेनी नाग, काली नाग, फेनी नाग, धौल नाग, ककेटिक नाग, पिंगल नाग, खरहरी नाग और अठगुली नाग। क्षेत्रीय रक्षक के रूप में किसी देवता की पूजा करना भी लोक धर्म का एक अंग है जिसके बीसियों उदाहरण कुमाऊँ में मिलेंगे। इनकी चर्चा यथास्थान की जाएगी।

पीपल, बरगद, तुलसी, आँवला आदि पेड़ पौधों की पूजा भी इसी विशाल लोक धर्म का निरूपण करती है। कुमाऊँ के लोक धर्म का स्वरूप जानने के पूर्व यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि जन समाज की धार्मिक दृष्टि उसकी समस्त वैचारिक अभिव्यक्तियों को प्रभावित करती है। जन-साधारण की आस्थाएँ और नैतिकताएँ धार्मिक मान्यताओं के चतुर्दिक घूमती हैं और धार्मिक मान्यताओं की रूपरेखा स्थान विशेष के परिवेश से निर्मित होती है।

कुमाऊँ के लोक धर्म का स्वरूप निश्चित करने में हिमालय का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। अतीत काल से यह प्रदेश देवी देवताओं की क्रीड़ा भूमि माना गया है। पौराणिक काल में यह ऋषियों की तपोभूमि रहा। शिव की आद्यः-शक्ति उमा या पार्वतीय हिमालय राज की पुत्री थीं। हिमालय के इसी धार्मिक महत्व को देखकर चार्ल्स शेरिंग ने अपनी पुस्तक 'वेस्टर्न तिब्बती एण्ड ब्रिटिश बॉर्डर लैंड में लिखा था कि एक हिन्दू के लिये कुमाऊँ का वही महत्व है जो एक ईसाई के लिये फिलीस्तीन का है (पृष्ठ ३)

कुमाऊँ के निवासी मुख्य रूप से शैव और शाक्त धर्मों के अनुयायी हैं। वैष्णव धर्म का प्रचार यहाँ अपेक्षाकृत कम है जिसे विभिन्न मन्दिरों की स्थिति स्पष्ट कर देती है। या उसकी शक्तियों से सम्बन्ध जितने मन्दिर हैं उनके आधे से कम विष्णु हैं। कुमाऊँ में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के स्पष्टतः दो धरातल माने जा सकते हैं। जन साधारण का एक वर्ग हिन्दू धर्म के महान देवी देवताओं का उपासक है, दूसरा वर्ग स्थानीय देवी देवताओं को मानता

है । इसी वर्ग के लोगों की संख्या कुमाऊँ में अधिक है । इस दूसरे वर्ग के देवताओं में छोटे-मोटे कुल देवता, भूमि देवता तथा कुछ अलौकिक वीर पुरुष पूजे जाते हैं । इन दोनों धार्मिक धरातलों की चर्चा अलग अलग करना उपयुक्त होगा ।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में कुमाऊँ का उत्तरपूर्वी भाग बौद्ध धर्म मानने वालों के लिये अत्यन्त पवित्र था । राहुल सांकृत्यायन की मान्यता है कि उस के अधिकांश खस बौद्ध धर्मी थे और आज डोम कहलाने वाली जातियाँ तो निश्चय ही बौद्ध धर्मी रही होंगी । इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि उस समय इस अंचल में ब्राह्मण धर्म का अभाव था — (कुमाऊँ —पृष्ठ १७४) ।

तेरहवीं शताब्दी के अंत तक ब्राह्मण धर्म यहाँ पूरी तरह फैल गया जिसने क्रमशः खसों को राजपूत और शिल्पकारों को अछूत बनाते हुए सारे मध्य हिमालय पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। लगभग इसी समय भारत के अन्य भागों से ब्राह्मण यहाँ पहुँचे थे । हिन्दुओं के स्थानीय संप्रदायों में नाथ, जोगी, जंगम, सन्यासी, शैव, वैष्णव, आदि की गणना होती है । आधुनिक काल में आर्य समाज का भी प्रभाव पड़ा है यद्यपि इन्होंने लोक जीवन को अधिक प्रभावित नहीं किया है । निम्नवर्ग के कुछ लोगों ने यद्यपि ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है, तथापि उनके घरों में हिन्दू धर्म के रीति रिवाज अभी तक प्रचलित हैं ।

दशनामी संन्यासियों के यहाँ कितने ही मठ हैं । बैजनाथ की उपत्यका में घरबारी सन्यासियों के कितने ही गाँव हैं । नाथ अथवा कनुफटे अपने को गोरखनाथ का अनुयायी मानते हैं । जागेश्वर और कत्यूर घाटी में इनके कई गांव बसे हुए हैं । बद्रीनाथ, केदारनाथ जगनाथ, तागनाथ, गणानाथ और पी नाथ जैसे स्थानों का नामकरण इनके व्यापक प्रभाव का द्योतक है । कुमाऊँ में वैष्णव धर्म की अपेक्षा शैव-शाक्त धर्म की प्रधानता है जो यहाँ मंदिरों की संख्या से प्रमाणित होती है । कुमाऊँ में लगभग ३५० मंदिर हैं जिनमें शैव मंदिर हैं और ३५ वैष्णव मंदिर हैं । शैव मंदिरों में भी लगभग ६० मंदिर शाक्तियों के हैं । कुछ मंदिर काली, नंदा, दुर्गा, चंडिका आदि देवियों के हैं जो प्रकारान्तर से शाक्त धर्म का अंग हैं । कुछ मंदिर कार्तिकेय, गणेश, सूर्य और हनुमान के हैं । कुमाऊँ के धार्मिक जीवन में ब्राह्मण पुरोहितों का बड़ा महत्व हैं जो कर्म काण्ड एवं पूजा-अनुष्ठानों की प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हैं ।

प्रसिद्ध मंदिर—

कुमाऊँ की पौराणिक-धार्मिक पृष्ठभूमि का परिचय यहाँ के प्रसिद्ध मंदिरों से मिलता है। शिव, महारुद्र, त्रिनेत्र, नीलेश्वर, भीमेश्वर, पिनाकेश्वर आदि कई नामों से पूजे जाते हैं। इनके मंदिर, दानपुर, लखनपुर, बौरारो, भीमताल, द्वाराहाट आदि स्थानों में हैं। अलमोड़ा में ही नाग नाथ, राजेश्वर, भैरव, दीपचन्देश्वर, क्षेत्रपाल, पाताल भैरव ? विश्वनाथ नामक मन्दिर शिव से संबद्ध हैं ।

शिव का सबसे बड़ा मन्दिर जागेश्वर स्थान में है जो अलमोड़ा से लगभग सत्रह मील है। इस स्थान की पवित्रता के विषय में एक लोकोक्ति प्रचलित है—'देवता देखण जागेश्वर, गंगा नाणी बागेश्वर' अर्थात् देवताओं के दर्शन करने हों तो बागेश्वर जाओ और गंगा स्नान करना हो तो बागेश्वर जाओ। जागेश्वर का मन्दिर कत्यूरी राजाओं के समय में बड़ा प्रसिद्ध था। मानस खंड में दारुका वन के नाम से इस स्थान का उल्लेख हुआ है। यहाँ मृत्युंजय तथा दंडेश्वर के मन्दिर सबसे बड़े हैं। जागेश्वर के लोग इस शिव मन्दिर को द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक मानते हैं। चंद राजाओं ने इस मन्दिर को सर्वाधिक गूंठे चढ़ाई थीं। लोक मान्यता है कि इस मन्दिर में रात भर जलता हुआ दिया हाथ में लेकर खड़े रहने से निसंतान स्त्रियों को संतान प्राप्त होती है।

बागेश्वर में शिव का दूसरा प्रसिद्ध मंदिर है जहां कत्यूरी व चन्द राजाओं की गूंठें चढ़ाई गई हैं। गोमती और सरयू के संगम पर यह ऐतिहासिक स्थान है जहाँ शिवरात्रि और उत्तरायणी (मकर संक्रान्ति) के अवसर पर सबसे बड़े मेले लगते हैं। भीमताल में भीमेश्वर महादेव को भीमसेन पांडव द्वारा स्थापित बताया जाता है। यहाँ स्थानीय मेले लगते हैं। कुमाऊँ में शैव पूजा की व्यापकता का अनुमान श्रावण मास में होने वाले पार्थिव पूजन नामक विधान से होता है। मिट्टी के शिव-पार्वती बनाकर महीने भर तक उनका नित्यपूजन और अभिषेक होता है। शिव-पार्वती की इन मृण्मूर्त्तियों को 'डिकारे' कहते हैं।

शक्तिपूजा कई नामों से होती है जैसे नन्दा, पार्वती, गौरी, दुर्गा, चंडिका आदि। इस संबंध में देवियों के नाम दुर्गा सप्तशती में गिनाए गए नामों के अनुसार हैं यथा—

"जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी।
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तुते ॥"

नंदा देवी के प्रसिद्ध मंदिर नैनीताल और अल्मोड़ा में हैं जहाँ नंदाष्टमी

के (भाद्र पद) अवसर पर अत्यन्त प्रसिद्ध मेले लगते हैं। नंदा कुमाऊँ की रणचंडी मानी जाती है और हिमालय की पुत्री कही जाती हैं। इसे नैना देवी भी कहते हैं। इसके विषय में एक दन्तकथा प्रचलित है कि अलमोड़ा की नन्दादेवी को कमिश्नर ट्रैल ने किले से हटा दिया। देवी ने उन्हें हिमान्ध कर दिया। अलमोड़ा लौट कर जब उन्होंने नंदा देवी का मंदिर बनवाया तब उनकी आँखें ठीक हुईं।

अलमोड़ा और बेनीनाग में त्रिपुर-सुंदरी के प्रसिद्ध मंदिर है। काली के अनेक मंदिर असकोट, छखाता, तिखून, नामक स्थानों में हैं। गंगोली हाट की महाकाली बड़ी उग्र बताई जाती है। शीतला देवी के कुछ मंदिर अलमोड़ा, जागेश्वर और द्वाराहाट में हैं। द्वारा हाट में शीतला देवी के नाम पर स्याल दे का प्रसिद्ध मेला लगता है जिसमें अभी तक पत्थरों की 'बगवाल' खेली जाती है। इसमें ग्रामीण जन-समुदाय दो दलों में विभक्त होकर एक दूसरे पर पत्थरों की वर्षा करते हैं। प्रति वर्ष दुहराई जाने वाली यह प्रथा किसी जातीय वैमनस्य का अवशेष प्रतीत होती है। देवी धुरा नामक स्थान में वाराही देवी के मंदिर में सावन की पूर्णमासी को इसी प्रकार का एक दूसरा मेला लगता है।

विष्णु के मंदिर, जैसा कि हम कह चुके हैं, यहाँ बहुत कम हैं मुरली मनोहर का एक मंदिर अलमोड़ा में है, मूल नारायण का एक मंदिर पुंगराउं में है। बागेश्वर में एक बेणीमाधव का मंदिर है और राम का एक मंदिर गिवाड़ में है। नारायणी देवी का एक मंदिर छखाते में है और वाराही देवी का मंदिर देवीधुरा में है। सीताबनी, लखनपुर, रामनगर जैसे कुछ स्थान कोटा भावर में हैं जहाँ लोक श्रुति के अनुसार सीता ने तपस्या की थी। सीताबनी नामक स्थान, वाल्मीकि आश्रम भी कहलाता है। लखनपुर और रामपुर नामक स्थानों को राम लक्ष्मण के नाम पर बसा हुआ कहा जाता है। कुमाऊँ में सूर्य का प्रसिद्ध मंदिर कटारमल में है जिसे किसी कत्यूरी राजा ने बनवाया था। इनके अतिरिक्त बानणी देवी, चंद्रघंटा देवी, अखिलतारिणी देवी, स्याही देवी जैसे कुछ स्थानीय देवियों का उल्लेख भी मिलता है।

लोक देवता—

कुमाऊँ की धार्मिक पृष्ठभूमि जिन स्थानीय देवी देवताओं से निर्मित हुई है उन्हें कुल देवता अथवा ग्राम देवता कहते हैं। सामान्य रूप से उन्हें कुमाऊँ के लोक देवता कह सकते हैं जो पौराणिक देवी देवताओं से भिन्न वर्ग के हैं।

जन जीवन पर इनका अधिक प्रभाव लक्षित होता है। इसलिये कुमाऊँनी लोक-साहित्य की पृष्ठ भूमि बनाने में इनका महत्त्व स्वयंसिद्ध है।

यहाँ के स्थानीय जन जीवन में लोग उन्हीं व्यक्तियों या वस्तुओं की अधिक पूजा आराधना करते हैं जिनसे या तो वे डरते हैं अथवा जिनसे किसी न किसी रूप में उनका कुशल क्षेम प्रभावित रहता है। उनके द्वारा पूज्य देवताओं की प्रमुख दो श्रेणियाँ हैं। एक तो सदाचार युक्त दयालु देवताओं की श्रेणी है और दूसरी श्रेणी डराने वाले देवताओं की हैं जिन्हें पूजा भेंट चढ़ाकर संतुष्ट रक्खा जाता है ताकि वे किसी को नहीं सताएं। इसी कारण कुमाऊँ, में ओझा और तांत्रिकों का बड़ा सम्मान किया जाता है जो 'जगरिये', 'डंगरिये' जैसे नामों से संबोधित किये जाते हैं। ये लोक देवताओं के विशेषज्ञ होते हैं जिन्हें बुलाना अथवा दूर भगाना इन्हीं का काम है। इनमें कोई एक लोक देवता का आवाहन करता है तो कोई एकाधिक देवताओं को अवतरित करने की क्षमता रखता है। ग्रामीण जनता पर इनका बड़ा प्रभाव है।

सभ्यता के साथ ग्रामीण मान्यताएं शीघ्रता से बदल रही हैं किंतु यहाँ का समाज किसी व्यक्ति के अचानक बीमार पड़ने पर यही कहता है कि इसे 'छल' लग गया है। अथवा यह उस पर किसी भूत प्रेत की छाया पड़ना मान लेता है जिसकी संतुष्टि के लिये खिचड़ी चढ़ानी पड़ती है। हरू सैंम, एड़ी, ग्वाल्ला, गंगनाथ, भोलानाथ, छुरमल्ल, कलविष्ट आदि अनेक प्रकार के इसी श्रेणी के लोक देवता हैं जो गाँव गाँव में पूज्य हैं। इन सभी लोक देवताओं से कोई न कोई दन्तकथा जुड़ी हुई है जो इनकी असामान्य शक्तियों या अलौकिक गुणों का समर्थन करती है। इनके धार्मिक प्रभाव को समझने के लिये कुछ लोक देवताओं का वर्णन यहां रोचक होगा।

'भोलानाथ' कुमाऊँ का सर्वाधिक पूज्य और लोकप्रिय देवता है यह अनेक कुलों का इष्ट देवता है। इसकी पुत्री का नाम बरमी है। घरों में कोई शुभ कार्य आरंभ करते समय इसे रोट-भेट अवश्य चढ़ाया जाता है। कुछ लोग भोलानाथ को शिव का एक रूप मानकर बरमी को उनकी आद्याशक्ति का एक अंश समझते हैं। किंतु गांवों में इसकी जो दंतकथा प्रचलित है उससे ज्ञात होता है कि भोलानाथ शिवशक्ति के अंश न होकर विशुद्ध ग्राम देवता हैं। वह उदय चन्द का बड़ा पुत्र था जो अपने हत्यारे से बदला लेने के लिये पहले भूत बना और पूजा भेट अधिक बढ़ जाने के कारण लोक देवता के रूप

में प्रतिष्ठित हुआ। उसकी शांति के लिये आठ भैरव मंदिर बनवाए गए जो आजकल विद्यमान हैं।

भोलानाथ से मिलता जुलता वृत्तान्त 'गंगनाथ' का है। इसके चार-पाँच स्थानों पर मंदिर हैं। शूद्र वर्ग में वह विशेष रूप से लोकप्रिय है। यह अन्याय पीड़ितों और शरणागतों की सहायता करता है। कहा जाता है कि वह प्रायः सुन्दर स्त्रियों और बच्चों पर अधिक चिपटता है। उसके मंदिर में खूब भेंट पूजा चढ़ती है। गंगनाथ का जागर बड़ी धूम-धाम से लगाया जाता है जिसमें जागरिये गंगनाथ और भाना ब्राह्मणी के अवैध प्रेम की चर्चा बड़ी रुचि से सुनाते हैं।

कुमाऊँ का अत्यन्त लोकप्रिय देवता 'ग्वाल्ल' है जिसे गोरिल्ल, गोल भी कहते हैं। इसके मंदिर कुमाऊँ के स्थान स्थान पर बने हुए हैं जिनके ऊपर चीरें फहराई जाती हैं। अलमोड़ा से पाँच-छै मील दूर चितइ नामक स्थान पर उसका प्रसिद्ध मंदिर है जो बड़ा जाग्रत माना जाता है। नवरात्रि के अवसर पर यहाँ बड़ी भीड़ लगती है और भक्त लोग दूर दूर से आकर बलि चढ़ाते हैं।

'ग्वाल्ल' देवता के विषय में जो दन्तकथाऐं प्रचलित हैं उनसे मिलती जुलती कथाऐं भारतीय लोक-साहित्य में राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश तक सुनी जाती हैं। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वह विशुद्ध लोक देवता है। ग्वाल्ल देवता की पूजा के साथ वे लोक विश्वास जुड़े हुए हैं जो जन साधारण के धर्म में सम्मिलित हैं। किसी के बीमार पड़ जाने पर देवता को नचाना, बीमारी का कारण जान कर भेंट पूजा द्वारा उसे दूर करने का प्रयत्न करना जैसे विश्वास कुमऊँनी लोक धर्म की अच्छी झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

जिस प्रकार वैदिक-पौराणिक साहित्य में शनि महाराज की ख्याति इस रूप में है कि वे लोगों का भला तो कम, बुरा अधिक करते हैं उसी प्रकार कुमाऊँ के लोक देवताओं में 'ऐड़ी' का नाम इसलिये प्रसिद्ध है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही आदमी मर जाता है। संभवतः 'ऐड़ी' या ऐरी कुमाऊँ की स्थानीय परम्परा में किसी जाति का नाम रहा है। इस जाति का कोई व्यक्ति मर कर भूत योनि को प्राप्त हो गया। उसकी सवारी एक पालकी पर चलती है जिसके साथ गले में घंटी बाँधे हुए कुत्ते चलते हैं और आंचरी-कींचनी नामक चुड़ैलें उसके दाँएँ बाएँ रहती हैं। ऐड़ी की आँखें सिर के ऊपर बतलाई जाती हैं।

'कलविष्ट' नामक लोक देवता का वृत्तान्त कल्लू कोल्यूड़ी नामक एक राजपूत युवक से जुड़ा हुआ है जिसे छलपूर्वक मारा गया। वह केवल अपने संबंधियों से बदला लेता है अन्य व्यक्तियों के प्रति बड़ा दयालु है, उसके मन्दिर भी अनेक स्थानों पर बने हैं। वह बड़ा अच्छा वंशीवादक कहा जाता है जिसके मधुर स्वर बिनसर की घाटियों में गूंजते हैं।

सच्चरित्र और परोपकारी पुरुष किस प्रकार अपने सत्कर्मों द्वारा पूजा के अधिकारी बनते हैं इसका उदाहरण लोक देवता 'हरू' है जिसकी पूजा गाँव-गाँव में होती है। कहते हैं कि वह पहले हरिश्चन्द्र नामक राजा था जो राजपाट छोड़कर तपस्वी हो गया। वह धार्मिक व्यक्ति था, मरने के बाद अच्छे देवताओं में उसकी गणना होने लगी। उसकी सदाशयता के कारण ही पहाड़ों में एक लोकोक्ति चल पड़ी--"आँन हरू हरपट्ट, जौन हरू खरपट्ट"। अर्थात् हरू देवता के आने पर सब हराभरा हो जाता है किन्तु उसके जाते ही सब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

उक्त लोकदेवताओं के अतिरिक्त "चौमूं" जानवरों की रक्षा करने वाला तथा विनाश करने वाला लोक देवता है। इसकी तुलना वैदिक देवता पूषन् से की जा सकती है जिसने वैदिक आदि यह प्रार्थना करते थे कि वे उनके पशुओं पर दयालु हो और उनके खोए हुए पशुओं को ढूंढ़ने में सहायता करें। 'चौमूं' संभवतः चतुर्मुख शब्द का अपभ्रंश है जिसका तात्पर्य है चारों ओर देखने वाला। पशुधन का ग्रामीण जीवन में कितना महत्त्व है—इसे सभी जानते हैं। चौमूं के मंदिर में सैकड़ों घड़े चढ़ाए जाते हैं और दूध से उसका अभिषेक किया। जाता है। जो उसे बुरा दूध चढ़ाते हैं उनके जानवर मर जाते हैं। कहते हैं कि द्वार सौं नामक स्थान से गाय खरीदने वालों को चौमूं की अवश्य पूजा करनी चाहिए। उसे चढ़ाई हुई गाय का दूध शाम को नहीं पिया जाता।

कुमाऊँ में ग्रामीण सीमाओं का रक्षक देवता 'भूमियाँ' या 'खितरपाल' नाम मे प्रसिद्ध है। प्रत्येक गाँव में उसका मंदिर होता है। अनाज बोने पर अथवा नवान्न उत्पन्न होने पर उसकी पूजा होती है। वह फलफूल से संतुष्ट हो जाता है। जागेश्वर का खेतरपाल 'झौकर सेम' कहलाता है।

इन प्रसिद्ध लोकदेवताओं के अतिरिक्त अनेक छोटे छोटे देवता हैं जिनकी पूजा किसी स्थान विशेष में की जाती है। इनमें बालचन, नौलू, छुरमल्ल, छड़ौंज देव, नागनाथ आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

कुमाऊँ की सामान्य जनता का भूत प्रेतों पर कितना विश्वास है कि उन्होंने

मसान, और 'खबीस' नामक श्मशान के भूतों की कल्पना की है जो प्रायः नदियों के संगम पर रहते हैं। 'मसान' के चिपटने पर 'जागर' लगाकर उसका शमन किया जाता है। 'खबीस' अधिकतर अँधेरी गुफाओं और जंगलों में पाया जाता है और रात को चिपकता है। अविवाहित पुरुष की प्रेतात्मा 'टोले' कहलाती है जो रात में घूमती है। तरुण तरुणियों की प्रेतात्मा आँचरी कीचँरी कहलाती है। कभी कभी लोगों को इनकी बारात दिखाई देती है।

कुमाऊँ के इन देवताओं का अध्ययन करते समय एक विचित्र तनय सामने आता है कि इनमें किसी देवी का नाम नगण्य है। बंगाल में जैसे मनसा देवी की प्रधानता है, अथवा मध्य प्रदेश में जैसी खैर माई की प्रधानता है, उस प्रकार कुमाऊँ में किसी लोक देवी के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इसे स्थानीय लोक धर्म की एक विशेषता समझना चाहिये।

प्रमुख मेले—

कुमाऊँ के मेलों और त्योहारों से यहाँ की धार्मिक परम्पराओं का विशद परिचय मिलता है। छोटे बड़े सभी प्रकार के मेलों की संख्या पचास से अधिक होगी जिन्हें धार्मिक और व्यापारिक दो प्रकार का माना जा सकता है। यहाँ धार्मिक मेलों से मुख्य प्रयोजन है जो बागेश्व-जागेश्वर, रुद्रपुर, रानीपुर और अन्य स्थानों पर शिवरात्रि के अवसर पर लगाए जाते हैं। मेलों को बोल चाल में 'कौतिक' कहते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से इन सभी मेलों को चार भागों में बाँट सकते हैं––

(१) उत्तर में जोहार-दारमाँ के मेले,

(२) पूर्व में काली कुमाऊँ के मेले,

(३) पश्चिम में पाली पछाऊँ की ओर लगने वाले मेले तथा,

(४) नैनीताल के पर्वतीय भागों एवं भावर-तराई की ओर लगने वाले मेले।

जोहार परगने में दरकोट और जलथ देवी के उपलक्ष में जो मेले लगते हैं वहाँ एक डेढ़ हजार तक आदमी एकत्र होते हैं। जलथ के मेले की पूजा 'छुरमल्ल पुजाई' कही जाती है जो यहाँ का ग्राम देवता है। मुंन्स्यारी में भादों के महीने में मिल कुटिया देवी के समारोह में दो बड़े मेले लगते हैं। काली-कुमाऊँ की ओर देवी धुरा और चैतुला नाम के स्थानों पर प्रसिद्ध मेले लगते हैं। इनके अतिरिक्त मानेश्वर, लोहाघाट, चंपावत और चालसी पट्टी के कुछ उल्लेखनीय मेले हैं। मानेश्वर, चंपावत और मायावती के बीच बसा हुआ है जहाँ हरियाले के अवसर पर एक छोटा मेला लगता है।

कहते हैं यहाँ एक शिला है जिसपर प्राचीन काल में जब गाय भैंसे चरती हुई चली जाती थीं तो उनका दूध अपने आप झरने लगता था। एक बार गाँव वालों ने अपने पशुओं को वहाँ नहीं जाने दिया, फलस्वरूप आसपास के सारे इलाके में पशुओं की महामारी फैल गई तब से उस शिला की पूजा होने लगी। हरियाले के दिन उस पर दूध चढ़ाया जाने लगा और यह मेला चल पड़ा।

देवीधुरा में वाराही देवी के मंदिर में लगने वाला कुमाऊँ का प्रसिद्ध मेला है जो श्रावण पूर्णिमा के दिन बड़ी धूमधाम से आरम्भ होता है। यहाँ मैदान में पत्थरों की बगवाल होती है जिसमें भाग लेने वाले दो दलों के लोग द्योक कहें जाते हैं। पहले 'कोरी बगवाल' होती है जिसमें दोनों दल एक दूसरे पर पत्थर बरसाते हैं फिर वास्तविक बगवाल होती है जिसमें दर्शकों तक को चोट लग जाती है। तीन चार घंटों के उपरान्त पुजारी इसे बन्द करवाता है। कहते हैं कि ये दोनों दल महर फड़त्याल लोग के होते हैं। इसी ओर एक अन्य मेला गुमदेश नामक स्थान में चैत्राष्टमी के दिन होता है जिसे चैतोगा का मेला कहते हैं। यह स्थान लोहाघाट से पूर्व की ओर लगभग नौ दस मील है।

पश्चिम में पाली पछाऊँ की ओर लगने वाले मेलों में भिकिया सैन और मानिला के मेलों के अतिरिक्त शिलिंग, विभाण्डेश्वर, दूनागिरि आदि स्थानों पर कुछ मेले लगते हैं जो स्थानीय विशेषताओं के कारण आकर्षक हैं। भिकिया सैन में शिवरात्रि का कौतिक बड़ा प्रसिद्ध है जिसमें रामनगर और काशीपुर तक से व्यापारी सम्मिलित होते हैं। मानिला तथा द्वाराहाट में स्यालदे देवी के उपलक्ष में वैशाख में बड़े मेले लगते हैं। मानिला में महिषासुर मर्दिनी देवी का मंदिर है जिसकी परिक्रमा नगारे, खसिंग बाजों के साथ होती है। गाँव गाँव के दल अपने वाद्यों सहित आते हैं। कुछ वर्ष पूर्व देवी की पहले परिक्रमा कौन करे, इस बात को लेकर डंगवाल-मनराल दो 'थोकों' (दल) में फौजदारी तक हो जाया करती थी।

तल्ला चौकोट में शीतकाल में बुढ़ केदार का मेला लगता है यहाँ निःसंतान स्त्रियाँ सन्तान प्राप्ति की तलाश से रातभर हाथ में दीपक लेकर शिवपूजन करती हैं (जागेश्वर की भाँति)। रात्रि भर जागरण के पश्चात् प्रातः काल दीपक राम- गंगा में बहा दिया जाता है। यदि जलता हुआ दीपक धारा में बहने लगा तो संतान प्राप्ति निश्चित समझी जाती है। यदि दीपक धारा में उलट पुलट कर डूब गया तो माना जाता है कि स्त्री बाँझ रहेगी।

तल्ला सल्ट में उत्तरायणी के समय गिर का कौतिक भी दर्शनीय होता है जहाँ घिघारू लकड़ी की लाठी लिये हुए एक ओर चनुली गाँव के लोग, दूसरी ओर सपंट गाँव के लोग आमने सामने उपस्थित होकर लकड़ी की गिर (बॉल) से खेलते हैं। अन्य गाँव वाले दर्शक के रूप में उपस्थित होते हैं।

गंगोली परगने में कालिका देवी, पाताल भुवनेश्वर, चित्रेश्वर और रामेश्वर के मेले प्रसिद्ध हैं। सरयू–रामगंगा नदियों के बीच बसे होने के कारण इस स्थान को गंगावली गंगोली कहते हैं। दसवीं शताब्दी के उपरान्त मैदानी भागों से आने वाले ब्राह्मण लोग पहले यहीं बसे थे। उन्नीसवीं शताब्दी में गुमानी कवि ने यहाँ की समृद्धि का सुन्दर वर्णन इन शब्दों में किया था–

"बन बन काफल किल्मोड़ो छ, बाड़ा मुंणि दाणिम काकड़ो छ।
गोठन में गोरू लैणा बाखड़ो छ, थाँतिन में उत्तम उप्रोड़ो छ ।।

(जंगल जंगल में काफल किलमोड़े नामक फल है, घर के बाड़ों में दाड़िम ककड़ियां लगी हुई हैं, गोशाला में बछड़े वाली दुधारू गाय हैं, स्थानों में उत्तम स्थान उपराड़ा गाँव है।)

देवियों के नाम पर लगने वाले मेलों में नंदा देवी मेले के अतिरिक्त स्यालदे के मेले और वाराही देवी के मेले की चर्चा ऊपर हो चुकी है। नंदा देवी का मेला अल्मोड़ा और नैनीताल में एक साथ भाद्रपद अष्टमी को लगता है। धार्मिक मेलों में यह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

नंदा देवी नामक हिमालय की एक प्रसिद्ध चोटी है। इस देवी के विषय में कई जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि वह चंदवंश की राजकुमारी थी। उसके निसंतान पिता पार्वती के अनन्य भक्त थे। एक बार उन्होंने स्वप्न में साक्षात पार्वती देवी की अत्यन्त रूपवान कन्या के रूप में देखा। उसने कहा कि हे राजा तुम सन्यास लेने का निश्चय छोड़ दो। मैं तुम्हारे घर कन्या बनकर जन्म लूंगी। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। एक दिन उसने देखा कि प्रधान रानी ने भाद्रपद की शुक्ला अष्टमी के दिन प्रातःकाल एक कन्या को जन्म दिया। तब से इस उपलक्ष में उसने उत्सव मनाने का निश्चय किया और इस अष्टमी का नाम नंदाष्टमी रख दिया। अल्मोड़े में नंदा देवी का मेला तीन दिनों तक चलता है इसमें 'झोड़ा' लोकगीत बहुत प्रसिद्ध है।

कुमाऊँ के दक्षिणी भाग में लगने वाले मेलों को देखने पर एक रोचक तथ्य यह सामने आता है कि यहाँ मुसलमान सन्तों के नाम पर भी कुछ मेले

लगते हैं जो सांस्कृतिक समन्वय के द्योतक हैं। किलपुरी में लगने वाला वाले मियाँ का मेला, गदर पुर में लगने वाला सखरपीर का मेला, जसपुर की ओर लगने वाला जाहर औलिया का मेला इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

ये मेले जेठ और कुआर में होते हैं और इनमें तीन चार हजार तक मनुष्य एकत्र हो जाते हैं मुसलमानों के अतिरिक्त हिन्दू, थाड़, बोक्सा इनमें सभी सम्मिलित होते हैं। विभिन्न जातियों की मान्यताएँ यहाँ के लोक जीवन में किस प्रकार घुल मिल रही है ये मेले इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यदि तराई भाबर के संत जाहर औलिया तथा ब्रजमंडल के संत जाहर पीर गुरु गुग्गा एक ही हैं तब तो इस मेले का और संत का व्यापक क्षेत्र मालूम होता है जो पंजाब और राजस्थान से लेकर आगरा, मथुरा और कुमाऊँ के दक्षिण में जसपुर तक फैला हुआ है।

यहाँ प्रचलित जाहर दीवान की लोकगाथा से ज्ञात होता है कि यह संत पहले हिन्दू था जिसका नाम जाहर दीवान था। इस प्रकार जाहर औलिया के नाम पर प्रतिवर्ष लगने वाला यह मेला अत्यंत महत्वपूर्ण मालूम होता है।

संपूर्ण भाबर का सबसे बड़ा मेला संभवतः काशीपुर का चैती मेला है जो चैत्र मास में शुक्ल पक्ष की अष्टमी से लेकर दस दिनों तक बड़े समारोह से सपन्न होता है। मेला बालासुंदरी देवी के नाम पर लगता है जिसमें बीस–पच्चीस हजार तक लोग एकत्र होते हैं। इस मंदिर के चारों ओर शिव मंदिर वने हैं। बोकसा जाति अभी तक यह मानती है कि जब तक उन्हें इस देवी का वरदान नहीं मिलता तब तक नवविवाहित दंपति का विवाह संपूर्ण नहीं होगा, इसलिये वे लोग चैती के मेले में उपस्थित होकर देवी की छाप लगाना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझते हैं।

प्रमुख त्योहार––

मेलों की भाँति कुमाऊँ के स्थानीय त्योहार लोक धर्म को समझने के लिये आवश्यक हैं। इन त्योहारों की संख्या चालीस से कम नहीं, यद्यपि इनमें कुछ केवल स्थान विशेष से संबंध रखते हैं। कुछ राष्ट्रीय त्योहार हैं जिनमें कहीं स्थानीय वातावरण का पुट दे दिया गया है। प्रायः सभी त्योहारों में स्त्री पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं। वैसे कुछ त्योहार स्त्रियों के अपने कहे जा सकते हैं। एक वर्ग उन त्योहारों का है जो किसी प्राचीन प्रथा से संबंध रखते हैं अथवा ऋतुओं, कृषिकार्य आदि से जुड़े हुए हैं। ये सभी त्योहार प्रायः चैत्र मास से आरंभ होकर फाल्गुन में समाप्त होते हैं।

इस प्रकार कुमाऊँ का पहला त्योहार संवत्सर प्रतिपदा है जो चैत्रमास में मनाया जाता है और अंतिम त्योहार होली है जो फाल्गुन में बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है।

बैसाख के महीने में विषुवत संक्रान्ति के अवसर पर मनाया जाने वाला 'विखौती' नामक त्योहार बड़े आमोद-प्रमोद का उत्सव है। पहले इस अवसर पर नृत्य-गीत के आयोजन हुआ करते थे किंतु अब यह केवल एक पारिवारिक उत्सव के रूप में अवशिष्ट रह गया है। जनश्रुति के अनुसार कुछ वर्ष पहले इस त्योहार के अवसर पर लोहे की गरम छड़ों से शरीर के भिन्न भिन्न अंगो को गोदने की प्रथा प्रचलित थी। कुमाऊँ का एक प्रचलि मुहावरा 'ताला डालना' संभवतः इसी प्रथा का संकेत करता है। आज भी लोहे की गरम सलाख से दागने की प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित है।

सावन के महीने में हरियाले का त्योहार सभी जातियों द्वारा व्यापक रूप से मनाया जाता है। कुछ स्थानों पर कुल देवता हरू-सैम आदि की पूजा की जाती है। पंडित लोग व्रत रखते हैं और त्रिकाल स्नान कर केवल एक बार अन्न ग्रहण करते हैं। इस प्रकार की कुलदेव पूजा अन्य स्थानों में नहीं दिखाई देती। त्योहार समाप्त होने तक ये पंडित मंदिरों में ही रहते हैं। अब आर्थिक कारणों से स्थिति बदल रही है।

ग्राम देवताओं की धूनियाँ यहाँ 'जागा' कहलाती हैं, ये लोग वहीं निवास करते हैं। इस त्योहार के दस दिन पूर्व किसी छोटी टोकरी अथवा बर्त्तन में साफ मिट्टी भर कर मक्का, गेहूँ, जौ आदि पाँच अनाज बोए जाते हैं जिसे अंधेरे में रखते हैं। दसवें दिन इस अनाज की लम्बी पीली पत्तियाँ निकल आती हैं जिन्हें हरियाला कहते हैं। पूजा-पाठ के उपरान्त इन पत्तियों को सिर पर धारण करते हैं। हरियाला एक शुभ त्यौहार है जिसका अनादर करने से अनिष्ट की आशंका होती है।

ओलगिया नामक एक अन्य त्योहार कुमाऊँ में बड़ा प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में जब चन्द राजा राज्य करते थे तब अधीनस्थ लोग इस अवसर पर उन्हें फल, दूध, दही आदि की भेंट देते थे। इसी प्रकार की भेंट देने जन-साधारण द्वारा अन्य श्रेष्ठ पुरुषों को पहुंचाई जाती थी। भेंट देने की यही प्रथा बोलचाल में 'ओलग' कही जातो है। संभव है कि इस प्रकार की भेंटों के बदले भेंटकर्त्ता को कुछ पुरस्कार अथवा सुविधाएँ आदि मिल जाती हों। यह प्रथा यद्यपि समाप्त हो चली है किन्तु उसका प्रतीक त्योहार विद्यमान है जिसे 'घ्यू

संक्रन्ति' अर्थात् वृत संक्रांति कहते हैं। कारण यह है कि इस दिन उड़द की बेड़ुवा रोटियों के साथ खूब घी खाने का चलन है।

आश्विन में 'खतड़ुआ' त्यौहार मनाया जाता है जिसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक घटना पर आधारित कही जाती है। सत्रहवीं शताब्दी में राजा लक्ष्मीचन्द ने गढ़वाल पर आक्रमण करके सफलता पाई थी। उसी दिन की स्मृति में लोग फूलदार झंडियाँ बनाकर पहाड़ों की चोटियों पर आग जलाते हैं और उसके चारों ओर ''भेलों जी भेलों खतड़ुवा'' अर्थात् अच्छा हुआ, अच्छा हुआ कहते हुए नाचते फिरते हैं।

स्थानीय त्योहारों में मकर संक्रांत्ति के दिन मनाया जाने वाला 'घुघुतिया' त्योहार उल्लेखनीय है क्योंकि यह प्रथा कुमाऊँ से बाहर देखने में नहीं आती। इस त्योहार की पूर्व रात्रि को चिड़या के आकार के आटे के बने मीठे शकरपारे तैयार किये जाते हैं जिन्हें बोलचाल में 'घुघुतिया' कहते हैं। घुघुता एक पहाड़ी पक्षी है जो कबूतर से मिलता-जुलता भूरे रंग का होता है। इन पके हुए घुघुतों में फूल, नारंगी आदि गूँथ कर मालाएँ बनाई जाती हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल घर के छोटे बड़े बच्चे उठकर इन मालाओं को हाथ में लिये हुये ''काले कौवा काले काले'' चिल्लाते हैं। इस दिन सवेरे कौवे का दर्शन शुभ लक्षण माना जाता है।

कुछ त्योहार ऐसे हैं जिनमें मुख्य रूप से स्त्रियाँ भाग लेती हैं—जैसे हरताल, गणेश चतुर्थी, ऋषि पंचमी, दूर्वाष्टमी, अनंत चतुर्दशी, बट सावित्री आदि। इन त्योहारों में स्त्रियां विशेष रूप से सौभाग्य और सन्तान के लिये व्रत धारण करती हैं। हरतालिक व्रत भाद्रपद कृष्ण तृतीया को होता है। भाद्र शुक्ल पंचमी को स्त्रियाँ ऋषि पंचमी का व्रत करती हैं जिसे पहाड़ों में 'बिरुड़ पंचमी' कहते हैं। इस दिन स्त्रियाँ हल से उत्पन्न अन्न नहीं खातीं।

गणेश चतुर्थी का व्रत पूजन भाद्र शुक्ल चतुर्थी को होता है। इस दिन चन्द्र दर्शन का निषेध है। दूर्वाष्टमी का व्रत भाद्रशुक्ल अष्टमी को होता है जब सोने, चाँदी, रेशम इत्यादि का 'दुवड़ा' बनाकर स्त्रियाँ धारण करती हैं। चतुर्दशी का व्रत भाद्र शुक्ल चतुर्दशी को होता है। बट सावित्री का व्रत ज्येष्ठ मास में होता है। ये व्रतोत्सव स्पष्टतः पौराणिक परंपरा के हैं किंतु अब लोक परंपरा में घुल मिल गए हैं।

राष्ट्रीय त्योहार वे हैं जो कुमाऊँ के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी मनाए

जाते हैं वे अपनी लोक प्रियता के कारण यहाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें गंगा दशहरा, विजया दशमी, दीपावली, वसंत पंचमी, शिवरात्रि और होली जैसे त्योहार प्रमुख हैं। गंगा दशहरा विजया दशमी से भिन्न है। यह त्योहार जेठ के महीने में मनाया जाता है। ब्राह्मण लोग एक चित्रित कागज में जिसमें प्रायः गणेश की मूर्त्ति बनी रहती है, पवित्र मंत्र लिख कर घरों के मुख्य-मुख्य द्वारों पर चिपकाते हैं। कागज के गोलाकार चित्र तांत्रिक महत्त्व रखते हैं। यह मान्यता है कि इस प्रकार वह घर बिजली, तूफान जैसी प्राकृतिक बाधाओं से तथा देवताओं के कोप से सुरक्षित रहता है। इस मंत्र की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

अगस्त्यश्च पुलस्त्यश्च यैशंपायन एव च।
जैमिनिश्च सुमंतुश्च पंचैते बज्रकारकाः॥
मुनेः कल्याण मित्रस्य जैमिनिश्चानु कीर्त्तनात्।
विद्युद्यग्नि भयं नाऽस्ति लिख्यते च गृहो दरे॥

विजयादशमी का त्योहार मुख्यतः राजपूत क्षत्रियों का त्योहार है। यह आश्विन शुक्ल की दशमी को मनाया जाता है जिसे बोलचाल में दसाईं कहते हैं। इस दिन नवदुर्गाओं का विसर्जन किया जाता है। शस्त्रास्त्र, छत्र, चँवर, मुकुट आदि की पूजा होती है। प्राचीन काल में चंद राजा तथा अन्य राजपूत योद्धा इस त्योहार के बाद अपनी विजय यात्राओं पर चल पड़ते थे। अब यह रामलीला के रूप में सर्वत्र मनाया जाता है। कुमाऊँ में यद्यपि कोई रामलीला मंडली नहीं है किंतु गाँवों में एकाध महीने पूर्व इसकी तैयारियाँ होने लगती हैं।

दीपावली त्योहार अन्य भागों की भाँति मनाया जाता है। धन की देवी लक्ष्मीं की पूजा की जाती है। यह वैश्यों का मुख्य त्योहार माना जाता है। इसके पश्चात् प्रमुख त्योहार वसंत पंचमी है जो माघ शुक्ल पंचमी को होता है। इसे श्री पंचमी भी कहते हैं। जो कि पत्तियाँ लेकर देवी देवताओं को चढ़ाई जाती हैं। फागुन कृष्ण चतुर्दशी को शिवरात्रि का त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

तदुपरान्त सर्वप्रिय होली का त्योहार आरंभ होता है। फाल्गुन शुक्ल एकादशी को इसका चीर बाँध दिया जाता है। तीन चार दिनों तक लोग रात रात भर बैठकर होलियाँ गाते हैं। किसी समय कुमाऊँ की खड़ी होलियाँ बड़ी प्रसिद्ध थीं। अंतिम दिन, जिसे छलड़ी कहते हैं लोग प्रातःकाल से ही

रंग गुलाल बिखेरते हुए गाँव के घर घर में जाकर गृहपति को ढोलक बजा बजा कर आशीर्वाद देते थे। परिस्थिति बदल जाने के कारण अब इन त्योहारों में बहुत कम उत्साह रह गया है।

इनके अतिरिक्त फूल संक्रान, अथवा 'फूल देइ' तथा 'रग्यो' जैसे छोटे छोटे त्योहार प्रचलित हैं जो संभवतः कभी महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। 'फूलदेई', त्योहार अब बालिकाओं तक सीमित रह गया जो टोकरियों में फूल सजाकर 'फूल देई, छम्मा देई' गाती हुई नववर्ष के आगमन पर द्वार पूजा करती हुई घूमती हैं। यह ऋतु संबंधी त्योहार है।

बीज बोने का कृषि संबंधी एक दूसरा त्योहार पाली पछाऊं की ओर 'रण्यो' कहलाता है। प्रातःकाल ग्राम ज्योतिषी से कोई शुभ मुहुर्त्त पूछकर बीज बोने का कार्य आरंभ होता है। तदुपरान्त आषाढ़ में धान रोपाई का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर गाए जाने वाले 'हुड़की बौल' गीत स्त्री पुरुषों को कृषि कार्य में प्रोत्साहित करते हैं। खेती पक जाने पर नये धान्य की बालियाँ घर में लाकर सर्वप्रथम गृह-देवता को चढ़ाई जाती हैं। यह भी कृषि संबंधी त्योहार है जिसे 'कलाई' कहते हैं। कुमाऊँनी कृषि गीतों में इसका सजीव चित्रण प्राप्त होता है।

लोक धर्म का प्रभाव—

उपर्युक्त मेलों, त्योहारों को देखने पर दो बातें स्पष्ट होंगी। एक तो हिन्दू धर्म के मान्य पूजा-उत्सवों, व्रत-कथाओं का यहाँ के जन समाज में व्यापक प्रभाव गीत का होगा जिन्हें हम स्थानीय लोक धर्म का शास्त्रोक्त विधि विधान कह सकते हैं। इनकी भारत के अन्य व्रत त्यौहारों के साथ समानता स्वयं सिद्ध है। दूसरी ओर यहाँ की ठेठ प्राचीन धार्मिक परम्पराओं के द्योतक 'ओलगिया' और 'घुघुतिया' जैसे त्यौहार हैं जिनका महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है ?

दक्षिण कुमाऊँ में थारू और बोक्सा जातियों के कुछ अपने मेले और त्योहार हैं जिनकी चर्चा यथा स्थान की जावेगी। धार्मिक दृष्टि से ये कुमाऊँ के अन्य निवासियों की अपेक्षा अधिक अंध-विश्वासी प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त धार्मिक पृष्ठभूमि से ज्ञात होगा कि हिन्दू देवी देवताओं के साथ कुमाऊँ में प्राचीन मान्यताओं के अवशेष अधिक मिलते हैं। यद्यपि बौद्ध और नानक पंथी धर्मों के प्रभाव तक इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। किंतु मुख्यता ग्राम्य

देवी देवताओं के प्रभाव की है। यहाँ के लोक-साहित्य में जितनी कथाएँ इन देवी देवताओं से संबद्ध हैं, यदि उनका संग्रह कराया जाय तो निश्चित रूप से शैव, शाक्त अथवा वैष्णव धर्म सबंधी कथानकों से उनकी संख्या अधिक होगी।

आधुनिक काल में धार्मिक मान्यताएं बड़ी तेजी से बदल रही हैं। फिर भी भौगोलिक कारणों से, पहाड़ों से घिरे रहने के कारण यहाँ के धार्मिक विश्वासों में अत्यधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अठकिसन का यह कथन आज तक सत्य है कि कुमाऊँ की प्रत्येक पाषाण शिला और नदी किसी न किसी देवता या ऋषि के नाम पर आधारित मानी जाती है और उसकी अपनी कथाएँ बन चुकी हैं। यहाँ की कठोर प्रकृति इस लोक विश्वास का प्रमाण है कि सर्वात्मा ईश्वर का निवास यहीं पर है। ये वाक्य आज से लगभग नव्वे वर्ष पूर्व कहे गए थे जिन्हें शोरिंग ने उद्धृत किया है—

"ईच रॉक ऑर रिवूलेट इज डेडीकेटेड टु सम डेटी ऑर सेंट, एण्ड हैज इट्स ओन एप्रोप्रियेट लीजेंड। नेचर इन हर वाइल्डेस्ट एण्ड मोस्ट रगेड फॉर्म्स बीयर्स विटनेस टु द करेक्टनेस ऑफ द विलीफ दैट हीयर इज दी होम ऑफ दी ग्रेट गॉड।" (वेस्टर्न तिव्वत एण्ड ब्रिटिश बॉर्डर लैंड-पृ० ४)

कुमाऊँ की उक्त धार्मिक पृष्ठभूमि विशेष कर उन धार्मिक लोक-गाथाओं (फोक इपिक्स) की व्याख्या करने में सहायक होती है जो कुमाऊँ भर में 'जागर' नाम से प्रचलित हैं। ये घर के भीतर और बाहर दोनों स्थानों में गाए जाते हैं। इनमें देवी देवताओं की अवतरण प्रक्रिया जितनी जटिल है उतनी ही रोचक भी है। रात रात भर जाग कर जो विशेष लोक गायक इनका गाथा गायन करते हैं उन्हें 'जगरिये' कहते हैं। हर कोई इन्हें नहीं गा सकता। नाचने वाला व्यक्ति, जिस पर आहूत देवता की आत्मा अवतरित होती है यहाँ 'डंगरिया' कहलाता है।

धार्मिक दृष्टि से ये गाथाएँ तीन प्रकार की हैं—(१) देवी देवताओं की जागर गाथाएँ, (२) सहायक शक्तियों की जागर गाथाएं और (३) स्थानीय शासकों की जागर गाथाएँ।

कुमाऊँ में इस प्रकार के 'जागरों' की संख्या पचास से अधिक होगी और ये शैव धर्म का व्यापक प्रभाव सूचित करते हैं। यथा स्थान इनमें तांत्रिक परंपराएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं। जिन सहायक शक्तिओं का आवाहन किया जाता है उनकी गाथाएँ प्रायः कथातत्व से रहित हो चली हैं। केवल

उनकी स्तुति अथवा माहात्म्य वर्णन शेष रह गया है । इनमें शक्तियों का स्वरूप निर्धारित किया गया है जैसे गर देवी के जागर में उसका अवतार लेना। दैत्यों का संहार करना, चतुर्भुज रूप धारण करना एवं हाथ में खप्पर लेकर सब दिशाओं में विद्यमान रहना आदि वर्णन मिलते हैं। जो प्रकारान्तर से अन्य देवियों के लिये भी प्रयुक्त हो सकते हैं। कहीं पर इन शक्तियों की गाथाएँ भूत-प्रेतों और अप्सराओं की गाथाओं से अभिन्न प्रतीत होने लगती है।

तात्पर्य यह है कि कुमाऊँनी लोक-साहित्य का अध्ययन, विशेषकर 'जागर' गाथाओं का अध्ययन बिना स्थानीय धार्मिक पृष्ठभूमि को समझे किया ही नहीं जा सकता।

६. ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

कुमाउँनी लोक-साहित्य में नाना प्रकार की जातीय परंपराओं के अवशेषों के साथ प्राचीन राजवंशों के उल्लेख मिलते हैं इसलिये स्थानीय इतिहास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। स्थानीय राजवंशों ने यहाँ के सामाजिक संगठन को दूर तक प्रभावित किया जिसकी झलक लोक रचनाओं में मिलती है।

इस इतिहास को प्रकाश में लाने के लिये अनेक ताम्रपत्र, मंदिरों के शिलालेख, राजाओं की वंशावलियाँ, गूंठ और दान पत्र, बंदोबस्ती कागज, तथा अन्य लोगों के विवरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि स्थानीय इतिहास कम से कम दो हजार वर्ष पुराना तो है ही। इस सुदीर्घ काल में यहाँ अनेक राजवंश बने और बिगड़े, अनेक राजाओं ने सुप्रबंध किया हो अनेक दलों ने राजसत्ता पर अपना प्रभुत्व जमाया। आज अनेक लोग उन्हीं शासकों के वंशज होने का गर्व करते हैं।

कत्यूरी शासन—

(८५०—१०५०) कुमाऊँ का सर्व प्राचीन राजवंश कत्यूरी वंश माना जाता है। (श्री बद्रीदत्त पांडेय ने प्राचीन पुस्तकों के आधार पर कत्यूरी शासन काल ईसा पूर्व २५०० वर्ष से लेकर ७०० ईसवी तक निर्धारित किया है। किन्तु राहुल सांकृत्यायन कत्यूरी वंश का समय सन् ८५० से लेकर १०५० ई० तक मानते हैं। यही अधिक उपयुक्त मालूम होता है।

इसके पूर्व यहाँ शकों, हूणों और तिब्बती शासन के प्रभाव की चर्चा की जाती है। धर्मपाल और उसके प्रतापी पुत्र देवपाल, जो मगध राजा थे, (८१५—८५४ ई०) दोनों हिमालय विजय का दावा करते हैं। ('कुमाऊँ'—पृष्ठ ३६)। इसके पूर्व प्रागैतिहासिक काल में किन्नर-किरात और खसों के राज्य का स्थानीय वर्णन मुख्यतः जनश्रुतियों पर आधारित है।

इधर जे० सी० पावेल, प्राइस ने अपने 'भारत के इतिहास' में पांचवीं-छठीं ईसा पूर्व शताब्दियों में कुमाऊँ को जिस हिमालय श्रेणी में रक्खा है वह

या तो कुरु राज्य से संबद्ध था या पांचाल राज्य से। अशोक के समय उनके दिये गए मानचित्र में मौर्य-साम्राज्य की उत्तरी सीमा गढ़वाल तक की भूमि का स्पर्श करती है किंतु उसमें कुमाऊँ का पृथक उल्लेख नहीं है। पहली-दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में भारतीय मानचित्र में 'कुणिद' राज्य स्पष्टतः प्रदर्शित है जिसकी दक्षिणी सीमा गुप्त राज्य सीमा का स्पर्श करती थी। इसके पश्चिम दक्षिण में मृदक व यौधेय राज्य थे, पूर्व में नैपाल राज्य था। ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक कुणिद राज्य का उल्लेख है, तदुपरान्त सातवीं शताब्दी में उन्होंने कुणिदों के स्थान पर कत्यूर राज्य प्रदर्शित किया है। ('ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,' पृ० ४५, ६६, ६६)। तत्कालीन कुणिदों के वंशज वर्त्तमान 'कुणैत' हैं।

कत्यूरी वंश के संबंध में किंवदंतियों के आधार पर पता चलता है कि पहले उनका केन्द्र गढ़वाल में जोशीमठ नामक स्थान था। उन्हें सूर्यवंशी मानकर अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं से संबद्ध किया जाता है। सम्राट शालिवाहन को उनका मूलपुरुष कहा जाता है जो अयोध्या के सूर्यवंशी राजपूत थे। कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि कत्यूरी राजा हिमालय के उस पार से आए हुये शक लोग थे जिनका संबंध बलख गांधार की ओर कटोरमान या कन्तोर लोगों से जोड़ा जाता है। गढ़वाल कुमाऊँ की वंशावलियों में मूल पुरुष का नाम कंकु (कंख) बताया जाता है जो मूलतः कनिष्क हो सकता है। समुद्रगुप्त ने कत्यूरी राजाओं के साथ युद्ध किया था।

कत्यूरियों के पाँच ताम्र पत्र और एक शिलालेख मिले हैं जो पांडुकेश्वर, बागेश्वर, और बालेश्वर नामक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनसे उनकी वंश परंपरा का ज्ञान होता है जिनका प्रथम व्यक्ति वसन्तन था।

ललितशूर संभवतः कत्यूरी वंश का सबसे प्रतापी राजा था जैसा कि उसके ताम्रलेख से ज्ञात होता है। उसके समय तक कत्यूरी वंश गढ़वाल के जोशीमठ से हटकर अलमोड़ा जिले की कत्यूरी घाटी में चला आया था क्योंकि यह ताम्रलेख कार्तिकेयपुर से जारी किया गया है और इसमें यहाँ आए हुये आज्ञानुवर्तियों को संबोधित किया गया है। जोशीमठ से कार्त्तिकेयपुर अथवा कत्यूर आने की जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं उनसे उनके स्थान परिवर्तन के धार्मिक अथवा राजनैतिक कारणों पर प्रकाश पड़ता है। शंकराचार्य के समय तक वे अलकनंदा घाटी में जोशीमठ में रहते थे। अतः नवीं शताब्दी के उपरान्त ही वे कत्यूर घाटी में आए होंगे।

कार्त्तिकेयपुर गोमती नदी के किनारे बसा था जहाँ पर आजकल बैजनाथ है। कत्यूरियों के खंडहर चारों ओर फैले हुए हैं। कत्यूरी रज्य की शासन-व्यवस्था और राजनीति पर प्रकाश डालने के लिये उनके शिलालेख और ताम्र-पत्र पर्याप्त हैं।

कत्यूरी राजाओं के लेखों और ताम्रपत्रों से उनकी दानशीलता, युद्ध एवं तत्कालीन जन समाज की स्थिति पर यत्किंचित प्रकाश पड़ता है। विवरणों से ज्ञात होता है कि ये राजा धर्मात्मा थे। मंदिर और जलाशय बनाने की ओर उनकी रुचि थी। मन्दिरों की प्रतिष्ठा करने के उपरान्त वहाँ पर यज्ञ स्तंभ गाड़ने की प्रथा थी। उनके ताम्रपत्रों में जिन अधिकारियों के नाम आए हैं जैसे 'विषय पति', 'अश्वपति', 'कोट्टपाल', घट्टपाल 'क्षेत्रपाल' आदि, उनसे उनके व्यापक राज्य का अनुमान होता है।

ताम्रपत्रों में उनकी स्त्रियों का पतिव्रता और हिन्दू धर्म का पालन करने वाली कहा गया है। उनके दरबार में विद्वानों का आदर किया जाता था। एक स्थान पर उन्हें गरुड़ाश्रम के विद्वानों द्वारा पूजित कहा गया है। सम्राट भूदेव देव को, जो ललितशूर के पुत्र थे (६६० ई०) बौद्ध धर्म के विरुद्ध एवं परम ब्राह्मण भक्त कहा गया है। ये लोग शिवोपासक थे किन्तु बलिदान तथा कालीपूजा के पक्ष में प्रतीत नहीं होते।

कत्यूरी राजा वीर अवश्य थे क्योंकि इन ताम्रपत्रों में 'अपनी भुजा से उपार्जित किया है शूरता से शत्रुओं को जीत कर,' जैसे वाक्य मिलते हैं। इनके भूमिदान और दिग्विजय पर इन लेखों से प्रकाश पड़ता है। इन्हीं की तरह के मिलते-जुलते शिलालेख बिहार राज्य में भागलपुर और मुँगेर स्थानों में मिले हैं। पालवंशी राजाओं के ताम्रलेखों की भाषालिपि, अधिकारियों की सूची, इनसे इतनी अधिक समानता रखती है कि यह आकस्मिक नहीं होनी चाहिये।

धर्मपाल ने नवीं शताब्दी के अन्त में केदारनाथ की यात्रा की थी जब पांडुकेश्वर का दानपत्र लिखा गया। नैपाल के इतिहास में मगध राजाओं का आगमन वर्णित है। इस स्थिति में कत्यूरी वंश और मगध के पाल वंश में कुछ सम्बन्ध होना चाहिये। इन शिलालेखों और ताम्रपत्रों की भाषा, लंबे समासों से युक्त आलंकारिक और भाव-प्रधान संस्कृत है।

कत्यूरी राजाओं में ब्रह्मदेव, धर्मपालदेव, असंतिदेव, बसंतिदेव, धामदेव

अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं जिनका उल्लेख लोक परम्परा में हुआ है। अंतिम राजा विरदेव का नाम यद्यपि किसी वंशावली में नहीं मिलता, किन्तु परम्परा इसे कत्यूरी वंश का अंतिम राजा मानती है। वह बड़ा अत्याचारी था। इसके अत्याचार की कई कहावतें प्रचलित हैं और लोक गाथाओं में भी इसकी चर्चा हुई है कहते हैं—

'बाजा घट की भाग उघौनी, बाँजी गैकी दूद छीनी,
उलटी नाली भरी दीनीं, कणक बलै लीनी ।।'

अर्थात् ये राजा उन पनचक्कियों से कर वसूल करते थे जहाँ अनाज पिसता ही नहीं था। बांझ गाय का दूध मांगते थे। कटने के लिये नाली (दो सेर अन्न का नाप) के उलटे भाग को भरकर अन्न देते और सीधे भाग से भर कर वापस माँगते थे। यह एक प्रकार की बेगार थी जो प्रत्येक व्यक्ति से वसूल की जाती थी।

विरदेव के बाद कत्यूरी राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसकी पाँच छै शाखाएँ अलग-अलग स्थानों पर राज्य करने लगीं। दूसरे कत्यूरी ब्रह्मदेव ने काली कुमाऊँ का शासन सँभाला। एक शाखा डोटी में शासन करने लगी, शाखा असकोट में स्थापित हुई। एक बारा मण्डल अर्थात् वर्त्तमान अलमोड़ा के आस पास राज्य करने लगी। एक शाखा कत्यूर, दानपुर की ओर पूर्ववत् अधिपत्य जमाए रही और एक शाखा द्वाराहाट तथा लखनपुर में शासन करती थी। प्रायः दो सौ वर्षों तक अर्थात् बारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक कत्यूरी वंश की यही शाखाएँ यत्र-तत्र फैली हुई थीं जिनमें परस्पर कोई विशेष संपर्क नहीं था।

कत्यूरी वंश के अलावा उक्त शताब्दियों में यहाँ कुछ अन्य वंश राज्य करते थे जिनका इतिहास स्पष्ट नहीं है। फलदा कोट—धनियाँ कोट में काठी राजपूतों का प्रभुत्व था जो अपने को सूर्यवंशी मूल का कहते थे। पड्यार राजपूत चौगर्खा में विराजमान थे जिनका केन्द्र पडियार कोट था। अपने को चन्द्रवंशी कहने वाले कुछ लोग जो डोटी से आए थे, गंगोली के मणकोट में बस गए थे। दक्षिण की ओर छखाता, कुटौली, कोटा आदि स्थानों में खसिया लोगों ने सत्ता हथिया ली थी और सोरशीरा, दरमा, असकोट, जोहार के भूभाग डोटी राज्य के अधीन हो गए थे। यह एक प्रकार की बहुराजकता थी।

यह कहना उचित होगा कि वस्तुतः चन्दों के आगमन तक यहाँ का इतिहास संभावनाओं पर अधिक आधारित है। किसी केन्द्रीय शक्ति के अभाव

में पारस्परिक संघर्ष अनिश्चय और आशंका का वातावरण उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अलमोड़ा गजेटियर के लेखक बाल्टन इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस समय के इतिहास के आधार भूत प्रमाण लुप्त हो गए हैं। केवल इतना कहा जा सकता है कि अतीत काल में कुमाऊँ अन्यान्य छोटी मोटी जातियों में विभक्त था तथा उन्हीं से शासित था। यह सैकड़ों वर्षों के आपसी संघर्षों के उपरांत चन्द राजाओं के समय ही एक स्थिर रूप ग्रहण कर सका

'इट इज सेफ टु एज्यूम दैट ड्यूरिंग द डार्क एजेज, दी कंट्री नाउ नोन एज कुमाऊँ कंसिस्टेड ऑफ ए मल्टीट्यूड ऑफ पेटी प्रिंसिपैलिटीज, कन्सॉलिडेटेड आफ्टर सेंचुरीज ऑफ वार फेयर इन टु वन स्टेट अंडर द चन्द राजाज।' (पृ. १६६)

चन्द्र शासन—

(१४००-१७९०) चन्द राज्य का आरम्भ सोमचन्द से माना जाता है। श्री बद्रीदत्त पांडेय ने अपने इतिहास में सन् ७०० से सन् १७९० तक चन्द शासन काल माना है किन्तु इसकी आरम्भिक तिथि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। राहुल सांकृत्यायन सन् १४००-१७९० ई० को चन्द वंश का शासन काल मानते हैं। चन्द राज्य का आरम्भ परम्परा सोमचन्द से मानती है जिसका तिथि-काल अनिर्णीत है।

कहते हैं कि सोमचन्द कुमाऊँ की ओर प्रयाग के भूंसी नामक स्थान से आए। लक्ष्मणसिंह परमार ने इस मत का खंडन करते हुए यह तथ्य प्रतिपादित किया है कि चन्द, मल्ल और.सेन जो बाद में मिलकर सिंह कहे जाने लगे, पहाड़ के वैश्य ठाकुरों के अतिरिक्त दूसरे नहीं हो सकते।

तीसरे मत के अनुसार चन्दों को कन्नौज के राजवंश से सम्बद्ध किया जाता है जिन्हें राजकार्य चलाने के लिए साग्रह बुलाया गया।

चौथा मत यह है कि सोमचन्द्रवंशीय राजपूत था जो साहसिक यात्री के रूप में आकर सुई के राजा ब्रह्मदेव की कन्या से विवाह करने पर यहाँ बस गया था। उसने पन्द्रह एकड़ भूमि में एक 'राजबुंगा' अर्थात् राज दुर्ग बनाया जो बाद में चम्पावत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चन्दों की प्रारम्भिक राजधानी यही थी। चन्दों के मूल निवास स्थान का प्रश्न यद्यपि विवादास्पद है किन्तु शोधकर्ताओं का अनुमान है कि वे कन्नौज के प्रतिहारों की एक शाखा थे, जो महमूद गजनवी के आक्रमण के पश्चात् कन्नौज अथवा प्रयाग से इधर चले आए। उनका गुर्जरों के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध था। गुर्जर देव

का एक मन्दिर द्वाराहाट में है जिससे कुमाऊँ में उनके अस्तित्व का पता चलता है।

अठकिंसन ने चन्द राजाओं की तीन वंशावलियों की तुलना करके सोमचन्द के राज्यारोहण की तिथि ६५३ ई० निर्धारित की है। ये वंशावलियाँ उन्हें कुछ ब्राह्मणों से और सरकारी साधनों से प्राप्त हुई थीं। ('हिमालयन डिक्ट्रिक्टस,, खंड २, पृष्ठ ५०१)।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुमाऊँ में प्रायः चौदहवीं शताब्दी तक कोई सार्वभौम राज्य स्थापित नहीं हो पाया था। भिन्न स्थानों में भिन्न लोगों का प्रभुत्व था। कत्यूरी लोग ८५० ई० से लेकर अनेक शाखाओं में विभक्त होकर प्रायः १४० ईसवी तक प्रभुत्व जमाए रहे। खसों ने भी ८६६-१०६५ ई० के बीच सिर उठाया जिनमें 'बीजड़', 'जीजड़', 'कलसू', 'नागू', 'भागू' जैसे विचित्र नाम मिलते हैं।

चन्दों का आरम्भ यदि किसी प्रकार आठवीं शताब्दी से मान लिया जाय तो भी वे १४५० ई० तक एक ओर डोटी, कत्यूरों का प्रभुत्व मानते रहे, और दूसरी ओर अपना विस्तार करते रहे। थोहर चन्द (१२६१-१२७५) के समय से चन्द राजाओं की १७६० ई० तक एक सुनिश्चित परम्परा मिलती है। वैसे चन्दों का चरम उत्कर्ष रुद्रचन्द्र के समय तक (१५६८-१५६७ ई०) हो पाया।

सोमचन्द ने चम्पावत के राज बुंगा से अपने राज्य का विस्तार किया। उस समय 'कुमाऊँ' नाम की व्यापकता 'काली कुमाऊँ' तक सीमित थी। महर और फड़त्याल दोनों दलों की सहायता से उसने काली कुमाऊँ के दक्षिण में ध्यानीरौ, चौंभैंसी तथा सालम और रंगोड़ पट्टियाँ अपने अधीन कर ली थीं। वह स्वतन्त्र राजा न होकर केवल मॉडलीक था और डोटी के महाराज को कर देता था। उसके मन्त्रियों, में जोशी, विष्ट और मंडलिया पांडे थे। उनके सैनिक शासन की देखरेख जोशी लोग करते रहे।

सोमचन्द के उपरान्त आत्मचन्द, पूर्णचन्द, संसारचन्द, हरीचन्द और वीणाचन्द के नाम मिलते हैं जिनके विषय में अधिक ज्ञान नहीं है। तदुपरान्त वीरचन्द ने राज्य किया जिस समय जोहार-दारमाँ की ओर भोटिया लोग, गंगोली के आसपास मणकोटी लोग, सोर-शीरा और असकोट में डोटी लोग राज्य करते थे। त्रिलोकचन्द ने छखाता जीतकर भीमताल में एक किला बनाया। यहाँ तक लगभग उन्नीस-बीस राजाओं की केवल सूची मात्र है।

गरुड़ ज्ञानचन्द (१३७४-१४१९ ई०) ने देहली के सम्राट से मैदानी भाग को प्राप्त किया। उसके दक्षिण में 'कठेहर' (रुहेल खंड) का राज्य था। तदुपरान्त उद्यानचन्द और विक्रमचन्द ने राज्य किया। उद्यानचन्द के समय में (१४२०ई०) मोहम्मद तुगलक के चीनी अभियान की बात कही जाती है जो संभवत: काली नदी से होकर गए होंगे। इस राजा ने बालेश्वर का मंदिर बनवाया और चौगर्खा तथा महरूड़ी पर अधिकार किया।

चन्दों का उत्कर्ष भारतीचन्द के समय हुआ (१४३७-१४५० ई०) जो विक्रमचन्द का भतीजा था। उसने डोटी के राजा को कर देना बंद किया और अपने राज्य की स्वतन्त्रता घोषित की। इस कार्य में उसने कठेहर की सेना से सहायता ली। इसका उल्लेख लोकगाथाओं में हुआ है। उसके पुत्र रतनचन्द ने सोर पर अधिकार जमाया। उसके वंशज कीर्तिचन्द (१४८८-१५०३ ई०) ने डोटी राजा को हराकर बारामंडल, पाली, फल्दाकोट, कोटा और जसपुर तक आधिपत्य कर लिया। अभी अक अल्मोड़ा चन्दों के हाथ नहीं आया था और वे चम्पावत से ही शासन चलाते थे।

बालो कल्याणचन्द (१५६०-१५६५ ई०) ने अलमोड़ा के खगमराकोट को राजधानी बनाया। तब से चन्दराज्य का केन्द्र अल्मोड़ा हो गया। उसने गंगोली और दानपुर को अपने राज्य में मिलाकर राज्य विस्तार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। तदुपरान्त रूपचन्द (१५६५-१५९७ ई०) ने भावर-तराई को बसाया जो उस समय 'चौरासीमाल' तथा 'नौलखिया' नामों से विख्यात था। उसका विस्तार चौरासी कोस तक होने के कारण 'चौरासी माल' नाम दिया गया। मुसलमान इतिहासकार फरिश्ता ने उसके राज्य में सोना,चाँदी और अपरमित खजाने का उल्लेख किया है उसकी सेना में अस्सी हजार पैदल और सवार सिपाही बताए हैं। ('राहुल सांकृत्यायन' 'कुमाऊँ' पृष्ठ ८२)।

रूद्रचन्द अकबर बादशाह के दरबार में एक चँवर गाय तथा एक कस्तूरी मृग लेकर गया था। उसके समय से कुमाऊँ का मुगल दरबार से संबंध स्थापित हो गया। उसी के समय गढ़वाल से संघर्ष आरम्भ हुआ और पुरखूपन्त के सेनापतित्व में एक सेना भेजी गई।

रुद्रचन्द के बाद लक्ष्मीचन्द गद्दी पर बैठा (१५९७-१६२१ ई०) जिसने गढ़वाल पर सात आक्रमण किये। उसने तिब्बत के साथ व्यापार की व्यवस्था की और अलमोड़ा के पास फलोद्यान लगवाए। वह जहाँगीर के दरबार में भी गया था। तदुपरांत दलीपचन्द, विमलचन्द, और त्रिमलचन्द का राज्य हुआ जिनके समय कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

बाजबहादुर चन्द (१६३८-१६७८) ने तराई में अच्छा प्रबन्ध किया और गढ़वाल में जूनियागढ़ तथा तिब्बत में ताकलाकोट पर अधिकार किया। १६५६ ई० में वह शाहजहाँ के दरबार में गया। वृद्धावस्था में वह अत्यधिक संदेही प्रकृति का हो गया था। उसके सम्बन्ध में यह कहावत चली—"वर्ष गया अस्सी, बुद्धि गई नस्सी।"

औरंगजेब द्वारा दारा का वध करा दिये जाने पर उसके पुत्र सुलेमान शिकोह ने कुमाऊँ में शरण ली। राजा ने उसका खूब आदर-सत्कार किया फिर बादशाह को उसके विरुद्ध देखकर गढ़वाल की ओर भेज दिया। उसके समय में लगभग अट्ठारह ताम्रपत्र दिये गए।

बाजबहादुर चन्द के पुत्र उद्योत चन्द को (१६७८-१६९८ ई०) गढ़वाल के राजा मेदिनीशाह तथा डोटी के रैंका देवपाल से युद्धों में उलझना पड़ा। इसने कहते हैं कि ब्रजभाषा के कवि मतिराम और मदनकवि का सत्कार किया था। इसने दूर दूर से विद्वानों को आमंत्रित कर अपने विद्यानुराग का परिचय दिया। अपने पिता की भाँति इसने लगभग सत्रह मंदिरों को जागीरें प्रदान कीं। उसने अपने जीवन काल में पुत्र ज्ञानचन्द को राज्य सौंप दिया था।

देवीचन्द के समय से (१७२०-१७२६) चन्द राज्य का ह्रास होने लगा। कहा जाता है कि उसके राजकोष में साढ़े तीन करोड़ रुपये थे, जिसमें से अपने नाम का संवत् चलाने के लिये उसने एक करोड़ रुपया खर्च कर दिया। उसने अफगान सेनापति दाउद खां को अपनी देशी सेना का सेनापति बनाया और दिल्ली सम्राट मुहम्मदशाह के विरुद्ध झंडा उठाकर रुहेल खंड को छीनने का प्रयत्न किया। मंत्रियों ने उसे षड़यंत्र करके मरवा डाला।

तदुपरान्त महर और फड़त्याल दलों की बन आई। बिष्ट और गैंड़ा लोग चंदो के ऐसे वंशज की खोज़ में थे जो उनके हाथ में कठपुतली बना रहे। गैंड़ा लोगों ने शक्ति प्राप्त करके अजीत चन्द को राजा घोषित किया जो कि स्पष्टत: नाम मात्र के राजा थे। तीन वर्ष बाद उसके मरने पर महर फड़त्याल दोनों दलों ने कल्याण चन्द को राजा घोषित कर दिया। (१७३०-१७४७ ई०)।

उसके समय की प्रसिद्ध घटना रुहेलों की कुमाऊँ पर चढ़ाई है (१७४३ ई०)। उसके विश्वास पात्र मंत्री शिवदेव जोशी थे जो तराई का राजकाज देखते थे। रुहेलों ने शिवदेव जोशी को हरा कर कुमाऊँनी सेना का पीछा

करते हुए अलमोड़ा तक चढ़ाई की और वहाँ मंदिरों की मूर्त्तियाँ तोड़ डालीं। इसी कारण कुमाऊँ में १७४३ ई० से पहले का कोई मंदिर सुरक्षित नहीं मिलता, केवल जागेश्वर के मंदिर इसका अपवाद है। भीमताल, कटारमल, अलमोड़ा और द्वाराहाट के मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट मूर्त्तियाँ आजतक उनकी क्रूरता का परिचय देती है। इस समय रुहेलों का नेता हाफिज रहमत खाँ था।

कल्याणचन्द का पुत्र दीपचन्द (१७४७,१७६७ ई०) शिवदेव जोशी के हाथ में खिलौना मात्र था। शिवदेव जोशी महरा दल के प्रधान थे। फड़त्यालों ने उन्हें हटाने के लिये एक दूसरे व्यक्ति को दावेदार बनाया। इस प्रकार चंद दरबार में जो आपसी विग्रह उत्पन्न हुए उन्होंने चन्दों के अपकर्ष में योग दिया।

मोहनचन्द, प्रद्युम्नचंद और शिवचन्द इन्हीं आंतरिक संघर्षों में मंत्रियों के हाथों की कठपुतली बने रहे। हर्षदेव जोशी ने उद्योतचन्द के वंशज एक एक रौतेला शिवसिंह को शिवचन्द के नाम से राजा बनाया। गढ़वाल के शासक पराक्रम शाह ने उसके विरोधी की सहायता की और अपने द्वारा समर्पित मोहनचन्द के पुत्र महेन्द्र चन्द को राजगद्दी पर बिठा दिया।

महेन्द्र चन्द ने केवल दो वर्ष (१७८८-१७९० ई०) नाममात्र का राज्य किया। उसे १७९० में नैपाल के गोरखों ने हरा दिया और अलमोड़ा तथा गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार कुमाऊँ में दीर्घकालीन चन्दवंश का राज्य समाप्त हुआ।

चन्द शासन कुमाऊँ के राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। अंग्रेज लेखकों ने यद्यपि उनकी राज्य-प्रणाली को निरंकुश राजतंत्र के अंतर्गत माना है किंतु ये राजा अपने मंत्रियों की मंत्रणा पर चलते थे। मंत्री उसी दल का होता था जिसकी दरबार में प्रमुखता होती थी। महर और फड़त्याल दोनों दलों में अदल-बदल कर राजसत्ता आई। ये दल अधिकतर कुमाऊँ के 'किंग मेकर्स' थे। परवर्ती चन्द राजाओं के दरबार में षड़यंत्र बढ़ने लगे थे जिन्हें 'चाला' कहते थे। इन चालों का शिकार राजाओं तक को होना पड़ता था। राजा देवीचन्द (१७२०-१७२६) की मृत्यु इसका उदाहरण है। पलंग में सोते हुए गला घोंटकर उसे मार डाला गया और घोषित यह किया गया कि उसे साँप ने काटा है।

चंद राजाओं की भोजन संबंधी नियमावली को पढ़ने से ज्ञात होता है कि

महलों के भीतर किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता था। स्वयं रसोइया तक दारोगा की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता था। राजा विजयचन्द को सन् १६२५ में रसोई के दारोगा और राजचेलियों ने खाना खाने के बाद धोखा देकर मरवा डाला।

नृशंसता के भी चन्द राज्य में अनेक उदाहरण मिलते हैं। विरोधियों को मौत के घाट उतारना साधारण वात थी। कभी विरोधी व्यक्ति की आँखें निकलवा कर अथवा अंग भंग करके उसे पीड़ित किया जाता था। कभी उसके जीवित शरीर को बोरे में भरकर नदी में फेंक दिया जाता था। सन् १७२६-१७२६ के बीच 'गैंडा गर्दी' स्थानीय इतिहास में प्रसिद्ध है जब राजा बिना छान बीन किये लोगों को पकड़वा कर उनकी आँखें निकलवा देते थे। राजा कल्याणचन्द ने भांग के नशे में कहते हैं कि ब्राह्मणों की जो आँखें निकलवाईं उनसे लोहे के सात बर्तन 'भदेले' भर गए थे। (बद्रीदत्त पांडेय—'कुमाऊँ का इतिहास', पृष्ठ ३२०)

पड़ोसी राज्यों के साथ संबंधों की दृष्टि से भी चन्द राज्य उल्लेखनीय है। डोटी राज्य और गढ़वाल के साथ उनके संबंध तनाव पूर्ण ही बने रहे। तराई भावर की ओर मुसलमानों का प्रभाव अधिक था जो रुहेलों के आक्रमण के बाद बढ़ता गया। बाज बहादुर चन्द ने दरबारी शिष्टाचार के कुछ नियम बनाए जिनमें नक्कारची, चोपदार, मिरासी, और बहुरूपिया की अलग व्यवस्था थी। कहा जाता है कि मुगल दरबार से इस समय पत्र व्यवहार फारसी में होता था। रुहेलों का आक्रमण इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से नगण्य है।

चंदों के दानपत्रों द्वारा उनकी उदारता, धर्म परायणता, एवं वीरता पर समुचित प्रकाश पड़ता है। जलाशय, मंदिर और धर्मशाला बनवाना वे अपना प्रमुख कर्त्तव्य ससझते थे। प्रायः प्रत्येक राजा ने मंदिरों को गूँठें दी थीं। ज्योतिष और साहित्य में उनकी रुचि थी। स्वयं राजा जगतचन्द की बनाई हुई (१७०८-१७२० ई०) दो टीकाएँ कही जाती हैं जिनके नाम 'टीका जगत चंद्रिका' और 'टीका दुर्गा' है।

चंदो के दरबार में प्रचलित भाषा संस्कृत थी। केवल राजा दीप चन्द (१७४८-१७७७) की एक सनद शिवदेव जोशी को दी गई थी जिसकी भाषा कुमाऊँनी थी। कुमाऊँ में कम से कम छत्तीस जागीरें इसी राजा ने दीं। कुमाऊँनी का सर्व प्रथम प्रयोग १४२ ईसवी में धर्मचन्द के एक ताम्रपात्र में हुआ

हैं जिसे शिवराज कठस, वीरु पाठक और शर्मपंक को प्रदान किया गया था। ('जर्नल ऑफ यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी') खंड १५, भाग २)।

वीरता और निर्भीकता का एक सुन्दर उदाहरण राजा मानिकचन्द (१५३३-१५४२ ई०) के समय मिलता है जब दिल्ली में सूरी वंश का राज्य था। इस्लाम शाह के प्रतिद्वंदी खवास खाँ ने भाग कर कुमाऊँ की तराई में शरण ली। इस्लाम शाह ने मानिकचन्द को भय और प्रलोभन देकर उसे बाँध कर भेजने को कहा। मानिक चन्द ने स्पष्ट लिख भेजा कि मैं शरणार्थी को कैद नहीं कर सकता। जब तक शरीर में दम है मैं ऐसे नीच कर्म का अपराधी नहीं हो सकता। अठकिंसन के अनुसार मुसलमान इतिहासकारों ने इस उदारता की प्रशंसा की है।

व्यक्तिगत वीरता के लिये इन राजाओं के मंत्री और सरदार जैसे नीलू कठायत, पुरखू पन्त, हर्ष देव जोशी आदि भी प्रसिद्ध हैं जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में बड़ी सूझ-बूझ का परिचय देते थे।

चन्द शासन का जन साधारण की जीवन पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा होगा— इसका अनुमान करना तो कठिन है किंतु जमीन की नाप जोख, लगान निर्धारण, तत्संबंधी अनेक शब्दों का प्रचलन चन्दों की नीति पर प्रकाश डालते हैं।

चंद काल में छत्तीस प्रकार के राजकरों का उल्लेख मिलता है जिनमें सिरती, बैकर, झूलिया, जूलिया, कूट, खैनी कपीनी, आदि प्रमुख हैं। 'सिरती' कर नकद दिया जाता था। बैकर अनाज के रूप में दिया जाता था। नकद के बदले दिये जाने वाले अनाज को 'कूट' कहते थे। झूलों अथवा नदी के पुलों पर 'झूलिया' कर लिया जाता था। कुली बेगार को 'खैनी कपीनी' कहते थे। नजराने के तौर पर भेंट ली जाती थी और आवश्यकता पड़ने पर राजा 'माँगा' कर द्वारा धन वसूल करता था। श्री बद्रीदत्त पांडेय ने अपने 'कुमाऊँ' के इतिहास में इस प्रकार के करों की एक लंबी सूची दी है जिससे चंदों की आर्थिक नीति का ज्ञान होता है। (पृ० ३७०)।

आज तक प्रचलित उस व्यवस्था के अनेक शब्द जैसे खायकर, सिरतान, कैनी, छोड़ा, बूढ़ा, सयाना, थोकदार, पधान, कोटाल आदि उसी समय से चले आ रहे हैं जो कुमाऊँ की प्रचीन अर्थनीति को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

गोरखा शासन—

(१७६०-१८१५) सन् १७६० से लेकर १८१५ ई० तक कुमाऊँ में गोरखा

शासन रहा। नैपाल में पहले कुमाऊँ की भाँति छोटे छोटे राज्य थे जहाँ प्रत्येक उपत्यका के ठाकुर अपने को स्वतंत्र मानते थे। गोरखों ने उन्हें एकीकृत किया जिसका प्राथमिक श्रेय रामशाह (१६०५-१६३३ ई०) को दिया जाता है। इसके वंशजों में पृथ्वी नारायण शाह, रण बहादुर शाह आदि ने अपनी सीमाओं को बढ़ा कर पश्चिम में काली नदी तक पहुँचा दिया।

इस समय १७६० ई० के आसपास कुमाऊँ का चंदवंश संघर्षों में जर्जर हो चुका था। हर्षदेव जोशी अपनी प्रभुसत्ता को बढ़ाने के लिए गोरखों की सहायता करना चाहते थे फल-स्वरूप जब गोरखा सेना ने चौतरिया बहादुर शाह, अमरसिंह थापा और सूरवीर थापा के नेतृत्व में चढ़ाई की तो अल्मोड़ा पर उनका अधिकार हो गया। अगले वर्ष उन्होंने गढ़वाल पर चढ़ाई की किन्तु बहुत आगे नहीं बढ़ सके। १८०४ तक उन्होंने न केवल गढ़वाल को अधिकृत कर लिया बल्कि काँगड़ तक विजय यात्रा की।

कुमाऊँ का शासन पहले वर्ष जोगामल्ल के हाथ में रहा, जिसने प्रत्येक बीस नाली जमीन पर एक रुपया कर लगाया। हरेक गाँव से 'सुवाँगी' दस्तूर लेने का प्रबन्ध किया। तदुपरांत काजी नरशाह ने शासन किया जिसने नगर-कोट के उन सारे सिपाहियों को मरवा डाला जो पाली-पछाऊँ, बारामंडल और सोर में बस गए थे। नर शाही का मंगल नाम से यह घटना लोक प्रसिद्ध है।

१७६७ में चौंतरिया ब्रमशाह और उसके भाई कुमाऊँ के शासक हुए। इस समय ब्राह्मण किसानों पर 'कुशही' नामक एक कर लगाया। अभी तक ब्राह्मण करों से मुक्त थे। १८०६ से लेकर १८१५ तक बम शाह चौंतरिया यहाँ के शासक हुए जिन्होंने अपनी सेना को तनख्वाह के बदले प्रांत बाँट दिये। बमशाह ने कुमाऊँ वासियों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें सेना में भर्ती करना आरम्भ किया, फिर भी गोरखा काल का शोषण बंद नहीं हुआ।

गोरखा शासकों की आमदनी कुमाऊँनी-गढ़वाली दास दासियों के क्रय-विक्रय से होती थी। उन्होंने हरिद्वार में एक बाजार बना रक्खा था जहाँ तीन से तीस वर्ष तक के स्त्री पुरुष प्रतिवर्ष सैकड़ों की संख्या में बेच दिये जाते थे। इनका मूल्य दस से डेढ़ सौ रुपये तक होता था। अनुमान लगाया गया है कि गोरखा काल में लगभग दो लाख दास बेचे गए। (राहुल सांकृत्यायन-'कुमाऊँ' पृष्ठ ११५)।

गोरखा सरदार ब्राह्मणों से भी साधारण मजदूरों की भांति बेगार लेते थे। उन्हें जबर्दस्ती मार-पीट कर सिर पर बोझ रख देते थे। वे कभी सारे

कुटुंब को बेच दिया करते थे। तत्कालीन रिपोर्टों से पता चलता है कि अपने शासन के चौबीस वर्षों में उन्होंने विश्वासघात के लिए न जाने कितनों को प्राणदन्ड दिया, न जाने कितनों के साथ जलते हुए कड़ाह में हाथ डलवा कर न्याय किया।

कमिश्नर ट्रैल ने अपनी रिपोर्टों में गोरखा राज्य की अत्याचारी प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। उसके अनुसार छोटी चोरी करने में अपराधी को कुछ जुरमाने सहित नुकसान पूरा करना पड़ता था। अपराध बड़ा होने पर हाथ या नाक काटी जाती थी। छोटे दर्जे के लोगों को व्यभिचार के लिए केवल अर्थ दण्ड दिया जाता था, ऊँचे दर्जे के लोगों में व्यभिचार के लिए पुरुष को प्राण दण्ड मिलता था तथा स्त्री की नाक काटी जाती थी। यदि स्त्री व्यभिचार करे और पुरुष उसे उपपतिसहित मार डाले तो कोई सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता था। कैद की सजा पाने वाले राजा के 'कैनी' (नौकर) हो जाते थे जो राजा की जमीन पर काम करते थे। तराई के गढ़-राजसी गाँव में बसने वाले अपराधियों को माफी मिल जाती थी। यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करले तो उसके सम्बन्धियों को भारी दण्ड देना पड़ता था। गोरखा राज्य में बड़ी विचित्र राजाज्ञाएँ दी जाती थीं। गढ़वाल में एक आज्ञा जारी हुई थी कि कोई स्त्री छत पर न चढ़े······।

सन् १८१५ ई० में गोरखा अँग्रेज युद्ध हुआ और कुमाऊँ पर अँग्रेजी शासन स्थापित हो गया। इस समय से १९४७ ई० तक अँग्रेजी राज्य के अंतर्गत कुमाऊँ में अनेक राजनैतिक और सामाजिक प्रकार के परिवर्तन हुए। अन्य भागों की विचारधारा के निकट संपर्क में लोग आए। उनका पाश्चात्य रीति नीतियों से संपर्क हुआ। १८५७ के विलय में कुमाऊँ वासियों ने अँगरेजों की प्राणपण से सहायता की, किन्तु देशव्यापी राष्ट्रीय आंदोलन की लहर फैलने पर धीरे धीरे यहाँ के निवासियों ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय योग दिया। सन् १९१२ के उपरान्त यहाँ देशव्यापी आंदोलनों में तीव्रता आने लगी जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

अंग्रेजी शासन—

(१८१५-१८४७) अँगरेजी शासन में सर्वप्रथम कमिश्नर को कुमाऊँ का शासन सौंपा गया जो लगान, शासन और न्याय सब कर्मों के लिए उत्तरदायी होता था। सन् १८१५ से यहाँ उन्नीस कमिश्नरों के नाम मिलते हैं जिनके

आधार पर स्थूल रूप से अँगरेजी शासन को चार भागों में बाँट सकते हैं। पहला भाग मिस्टर ट्रैल का शासन काल है जो सन् १८१५-१८३० तक यहाँ के प्रशासक थे। उन्होंने कुमाऊँ में अँगरेजी शासन की जड़ें जमाईं। चन्दों के कई ताम्रपत्रों को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने कोर्ट फीस जारी की और जन्म-मृत्यु तथा विवाह को रजिस्टर में दर्ज करने की प्रथा चलाई। ट्रैल ने यहाँ की भूमि के लिए अस्सी साल का बंदोबस्त कराया।

दूसरा मुख्य शासन श्री वैटन का है (१८४८-१८५६) जो योग्य व्यक्ति बतलाए जाते हैं। सन् १८५२ के 'कलकत्ता रिव्यू' में अँगरेजी शासन के संबंध में यह टिप्पड़ी प्रकाशित हुई थी जिसे देवीदत्त तिवाड़ी ने अपनी पुस्तक 'हिस्टॉरिकल एण्ड पौलिटिकल नोट्स ऑफ कुमाऊँ,' में प्रकाशित किया है— "फॉर नियरली फॉर्टी इयर्स ब्रिटिश गवर्नमेंट हैज बीन एस्टैब्लिश्ड इन कुमाऊँ। कैन वी गिव ए गुड एकाउंट ऑफ अवर स्टीवार्ड शिप ? वी फीयर दैट दिस क्वेश्चन कैन नॉट बी आंसर्ड वेरी डिसाइडेडली इन एफर्मेटिव... कॉस्टली ब्रिजेज दैट आर नेवर क्रॉस्ड एण्ड सिचुएटेड ऑन रोड्स दैट लीड नो व्हेयर।" (पृ० ५०)।

तीसरा प्रमुख शासन हेनरी रामजे का है (१८५६-१८८४ ई०) जो अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे और रामजी साहब के नाम से पुकारे जाते थे। ये घर घर के व्यक्ति से इतने घुलमिल गए थे कि पहाड़ी भाषा बोल लेते थे। उनकी आज्ञा ही यहाँ कानून थी। उनका महत्त्वपूर्ण कार्य तराई भावर को आबाद कराने का था। उन्होंने स्थान-स्थान पर नहरें खुदाईं। लोगों को बसाया और उन्हें खेती करने की सुविधाएँ दीं। उन्हीं के शासन काल में सन् ५७ का गदर हुआ जिसका पहाड़ी भूभाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सुरक्षा के लिए रामजे ने यहाँ मार्शल लॉ जारी कर दिया था। नैनीताल का फाँसीगधेरा उसी समय से प्रसिद्ध है जहाँ विद्रोहियों को फाँसी दी गई। १८५७ में विद्रोहियों ने हल्द्वानी पर अधिकार कर लिया था जिसे अँगरेजों ने मुश्किल से छुड़ाया।

रामजे के बाद अँगरेजी शासन का चौथा चरण आरम्भ हुआ जिनमें फिशर 'कैपंबेल' स्टाइफ जैसे कमिश्नर हुए। इस चरण की मुख्य घटना राज-नैतिक जागरण की थी।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जब भारत के अन्य भागों में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ हुआ तो राष्ट्रीयता की लहर कुमाऊँ तक फैली। अलबर्ट बिल बन रहा था जिसके अनुसार गोरे अपराधियों के मुकदमों को काले अफसरों

द्वारा निर्णीत करने का अधिकार दिये जाने की बात थी। गोरों ने इसका विरोध किया। किन्तु इसके समर्थन में देश भर में सभाएं हुईं। इसी संदर्भ में सन् १६१२ में यहाँ राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई जिसमें श्री ज्वालादत्त जोशी, हरिराम पांडे, सदानंद सनवाल, बाचस्पति पंत आदि ने सक्रिय योग दिया। अगले वर्ष स्वामी सत्यदेव ने 'शुद्ध साहित्य समिति' की स्थापना करके यहाँ नवयुवकों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत की।

इसी वर्ष 'अलमोड़ा अखबार, का प्रकाशन आरंभ हुआ जिसने राष्ट्रीय विचारों को फैलाने में बड़ा योग दिया। सन् १६१६ में कुमाऊँ-परिषद की स्थापना हुई जिसने कुली उतार, जंगलात, लाइसेंस, नया आबाद, बंदोवस्त आदि विषयों पर आंदोलन किया। १६२३ में इस परिषद का कांग्रेस में विलयन हो गया।

होमरूल की माँग बढ़ती जा रही थी जिसने श्री मोहन जोशी, गोविन्द वल्लभ पन्त, सदानंद पंत, सनवाल, बद्रीदत्त पांडे आदि के नेतृत्व में उग्र रूप धारण किया। अभी तक कांग्रेस का उद्देश्य अंगरेजी राज्य के भीतर स्वराज्य प्राप्त करना था किन्तु अब असहयोग के आन्दोलन ने जोर पकड़ा। १६२१ ई० में बागेश्वर के किनारे पर चालीस हजार कुमाऊँनी लोगों ने गंगाजल उठा कर शपथ ली कि कुली उतार नहीं देंगे। स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं और देश भक्तों को जेल में ठूंस दिया गया।

धीरे-धीरे स्कूलों, कौंसिल और विदेशी पदवियों का बहिष्कार किया गया। नमक कानून तोड़ा गया। पाली पछाऊं की सल्ट पट्टी में लगान बंदी की आवाज उठी तो सरकार ने पुलिस भेज कर दूना लगान वसूल किया। तदुपरान्त कुमाऊँ का स्वतंत्रता आंदोलन राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों के समानान्तर चला।

अंग्रेजी अन्याय के प्रति जन साधारण में किस प्रकार विद्रोह की भावना उत्पन्न होने लगी थी इसका एक उदाहरण १६१८ में 'अल्मोड़ा अखबार' से मिलता है। इसके होली विशेषांक में तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर लोमस के अत्याचार की टीका टिप्पणी की गयी कि उसने एक निरपराध कुली पर गोली क्यों चलायी ? इस पर लोमस ने अखबार बन्द करा दिया। किंतु जनता की आग नहीं दबायी जा सकी। उसी वर्ष एक नया पत्रिका निकालने का निश्चय हुआ और वर्तमान 'शक्ति' साप्ताहिक का जन्म हुआ।

इस स्वतंत्रता संग्राम के साथ कुमाऊँ के अनेक राजनीतिक नेताओं का

जीवन जुड़ा है जिनमें कुछ नाम ऊपर आ चुके हैं । इससे प्रमाणित होता है कि यहाँ के निवासी सीधे और सरल होते हुए भी समाज के राजनैतिक जीवन से विच्छिन्न नहीं रहे हैं । १९४७ में भारत की स्वतंत्रता की घोषणा ने कुमाऊँ में अंगरेजी शासन को समाप्त कर दिया ।

तब से यहाँ का अन्य स्थानों के साथ संपर्क बढ़ता गया है । आवागमन की सुविधाओं ने भौगोलिक दूरियाँ कम की हैं और विकास योजनाओं ने सामान्य जनता को संपन्न होने का अवसर दिया है । नवीन ज्ञान के प्रचार-प्रसार ने यहाँ के निवासी को वास्तविक अर्थ में आधुनिक बनाया है ।

अंगरेजी शासन की यद्यपि स्थानीय कमिश्नरों ने प्रशंसा की है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आंतरिक रूप से जन जीवन पर उनकी व्यवस्था का अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा । शासकीय रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि यहाँ दास प्रथा की जड़ें बड़ी गहरी थीं । इन्हें खेती के लिये क्रय-विक्रय करना अथवा अस्थायी तौर से मजदूर बनाना साधारण बात थी ।

ये दास मुख्य रूप से दो प्रकार के होते थे । घरेलू दास जो नौकर चाकर का काम करते थे प्रायः खस राजपूत वर्ग के होते थे । दूसरे कृषि दास जो शिल्पकार अर्थात् हरिजन वर्ग के होते थे । गुमानी कवि ने अंगरेजों के शासन की कठोरता पर इन शब्दों में व्यंग्य किया था —

"विष्णु का देवाल उखाड़ा, ऊपर बंगला बना खरा,
महाराज का महल ढवाया, बेड़ी खाना तहाँ धरा,
मले महल उड़ाई नंदा, बंगलों से भी तहाँ भरा,
अँगरेजों ने अल्मोड़ा का नकशा और हि और करा ।।"

मिस्टर ट्रेल के बंदोबस्त की बड़ी प्रशंसा की जाती है किंतु स्मरणीय है कि हर्षदेव जोशी के वसीयत नामे की एक इस शर्त को उन्होंने स्वीकार नहीं किया कि पहाड़ों में गोवध न हो । ट्रेल ने आज्ञा दी कि इसके विपरीत जो हिन्दू गोवध का विरोध करते हैं वे कुमाऊँ में रहने योग्य नहीं है । बिना दोष आरोपित किये लोगों को जेल में ठूँस दिया जाता था अथवा सड़कों पर जबर्दस्ती काम कराया जाता था । इसका प्रमाण यह है कि सन् १८३७ में बर्ड साहब ने अँगरेजी शासन पद्धति की जो जाँच की उसने कमिश्नर ट्रेल और गोयन की निंदा की थी । इसी प्रकार १९१७ में कमिश्नर स्टाइफ ने जंगलों के क्रय-विक्रय की आज्ञा दे दी और उससे उत्पन्न होने वाले कष्टों पर कोई ध्यान नहीं दिया ।

जहाँ तक अपराधों का प्रश्न है कुमाऊं में चोरी डकैतियाँ बहुत कम हुई जिसकी चर्चा रिपोर्टों में हुई है। यहाँ अधिकतर मृत्यु साँप या जंगली जानवरों के काटने से होती थी। स्त्री संबंधी मुकदमें अधिक होते थे। सन् १८२२ में केवल छियासठ आदमी अल्मोड़ा की जेल में थे, जिनमें छः हत्या के अपराधी थे। एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख १६२५ की सरकारी रिपोर्ट में हुआ है जिसके अनुसार पधानों और थोकदारों की स्थिति बदल गई थी और उनका दबदबा कम हो गया था। इस रिपोर्ट में यह नोट लिखा हुआ है—

"द स्वराज मूवमेंट हैज रिजल्टेड नॉट ओनली इन एन इन्क्रीज ऑफ इंडिपेंडेंस एमांग पीपुल, बट औल सो इन सम कंटेंप्ट फॉर अथॉरिटी एण्ड लॉ लेस नेस" (कुमाऊँ का इतिहास, पृ० ४८०)।

इससे स्पष्ट है कि असहयोग आंदोलन के कारण ही पधान और पटवारी जैसे ग्राम अधिकारियों को बंधी हुई दस्तरी लेने में कठिनाई होने लगी थी। इस संबंध में यह भी दृष्टव्य है कि अंगरेजों ने इस भूभाग का उपयोग केवल जनता को अपनी सेना में भर्ती करने के लिये किया।

स्वतन्त्रता के बाद—

१६४७ जहाँ तक अंगरेजी शासन के कुमाऊँ के लोक जीवन पर प्रभाव पड़ने का प्रश्न है, इसमें हम दो बातें देखते हैं। एक तो कुछ लोगों ने अपने को नए वातावरण में ढालकर सरकारी नौकरियां ढूंढ़ ली और देश के अन्य स्थानों पर जाकर बस गए। अधिकांश जन संख्या अपने पूर्वजों के मार्ग पर चलकर पारंपरिक ढंग से कृषि कार्य आदि करती रही। महायुद्धों में यहां के सिपाहियों ने भाग लिया तो उनके जीवन से संबद्ध अनेक लोक गीतों की सृष्टि हुई। राष्ट्रीय आंदोलन की प्रशंसा में भी ओजस्वी गीत रचे गए।

फिर भी यह स्पष्ट है कि इन घटनाओं ने कुमाऊँ के सामन्ती ढाँचे पर कोई निर्णयात्मक प्रभाव नहीं डाला। इस स्थिति का लाभ तो यह हुआ कि स्थानीय लोक-साहित्य तथा अन्य कलाएं प्रायः अधिकृत और मूल रूप में सुरक्षित रहीं किन्तु इसी पारंपरिकता के कारण समाज की आंतरिक शक्ति क्षीण हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोक जीवन में एक प्रकार की गतिहीनता तथा निष्प्राणता जैसी व्याप्त हो गई।

उक्त स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन सन् १६४७ के बाद लक्षित होता है जब नवीन पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत स्थानीय जन जीवन को उन्नत

होने का सुअवसर मिला । कुमाऊँ को नवीन प्रशासनिक इकाइयों में बाँट दिया गया ताकि सभी खंडों का समुचित विकास हो सके । इन इकाइयों की चर्चा हम पहले अध्याय में कर चुके हैं । इस क्षेत्र की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये नयी योजनाएं चलाई गई हैं जैसे फलोत्पादन, भेड़ पालन, कुक्कुट पालन, मीन पालन, दुग्ध उद्योग, जिला सहकारी संघों की स्थापना आदि जिन्होंने नये लोक गीतों को जन्म दिया है । इन योजनाओं की विशेष चर्चा अगले अध्याय में की जावेगी ।

सन् १९६० के उपरान्त कुमाऊँ और गढ़वाल को दो स्वतंत्र कमिश्नरियों में बाँटा गया है और तीन सीमान्त जिलों का 'उत्तराखण्ड मंडल' निर्मित किया गया है जिसमें उत्तरकाशी, चमोली तथा पिथौरागढ़ के जिले सम्मिलित हैं । इस नवीन प्रशासनिक व्यवस्था से विकास के नये आयाम खुले हैं जिनका प्रभाव लोक जीवन पर पड़ रहा है । नवीन विकास योजनाएं स्थानीय इतिहास की गतिविधियों को शीघ्रता में बदल रही हैं ।

७. सामाजिक पृष्ठ भूमि

नगर और ग्राम—

लोक-साहित्य के अध्येताओं की यह मान्यता निरंतर पुष्ट होती जा रही है कि उसके वास्तविक रूप को समझने के लिये स्थान विशेष की लोक सांस्कृतिक परंपराओं को जानना आवश्यक है। ये परंपराएँ सामूहिक रूप से एक विशेष सामाजिक संगठन को जन्म देती हैं जो किसी समय विशेष की लोकतात्विक अभिव्यक्ति के लिये उत्तरदायी होता है। यह सामाजिक संगठन, आर्थिक, राजनैतिक कारणों से प्रभावित होकर इतिहास में नए-नए रूप धारण करता है, और लोक-जीवन के साथ उसकी कलात्मक अभिव्यक्तियों को भी बदल देता है।

इसलिये यह आवश्यक है कि कुमाऊँनी लोक-साहित्य की प्रवृत्तियों को समझने के लिये हम यहाँ की सामाजिक पृष्ठभूमि से परिचित हो लें।

कुमाऊँनी समाज जिन परंपरागत जातियों से मिलकर बना है और उनकी विचार-धारा तथा मान्यताएं जिस प्राकृतिक धार्मिक पृष्ठभूमि में निर्मित हुई हैं उनसे हम परिचित हो चुके हैं। किन्तु ये जातीय, धार्मिक आदि परिस्थितियाँ सामाजिक-संरंचना की अनिवार्य कड़ियों के रूप में जिन गतिशील सम्बन्धों को जन्म देती हैं उन पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

कुमाऊँ का जन-जीवन, निवासियों का स्वभाव, रहन-सहन और वेश-भूषा, उनके आचार-विचार और मनोरंजन के साधन, उनके पूजा और अनुष्ठान इन्हीं सामाजिक गतिशील सम्बन्धों से प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि आज कुमाऊँनी लोक-साहित्य के संग्रह-कर्त्ता को 'ऋृतरैण' जैसे ऐतिहासिक गीत, कत्यूरियों के प्राचीन 'जागर' अत्यन्त कठिनाई से मिलते हैं। इनके स्थान पर मेलों-उत्सवों में नए-नए विषयों पर जैसे मुर्गीपालन, महिला-कल्याण, वोट-संग्रह, मद्यपान निषेध जैसे अधुनातम विषयों पर अधिक लोकगीत सुनाई पड़ते हैं जिन्हें उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

इस स्थिति को समझने के लिये यहाँ के सामाजिक परिवेश को नवीन-संदर्भों में समझना होगा।

कुमाऊँनी जन-समाज अन्य प्रदेशों की भाँति नागर और ग्रामीण क्षेत्रों में बँटा हुआ है जिनके सम्बन्ध-सूत्र अविच्छिन्न रहे हैं। किन्तु यहाँ के नगर, नैनीताल, अल्मोड़ा, रानीखेत, काशीपुर, पिथौरागढ़, रामनगर नाम-मात्र के ही नगर हैं जो मैदानी कसबों से बड़े नहीं हैं। इन छोटे नगरों में सुविधाओं के साधन जैसे—स्कूल, अस्पताल, डाकखाने आदि खुले हुए हैं यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों तक इनका विस्तार कम हुआ है। नगरों का सामाजिक-जीवन पारंपरिक जातियों के क्रिया-कलाप में बँधा हुआ है जिनमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और हरिजन वर्ग प्रमुख हैं। इनमें सभी नौकरी पेशा लोग होने के कारण अब एक स्थान पर स्थायी रूप से कम रह पाते हैं।

प्राचीन राज्यकाल में ये लोग राज दरबारों से सम्बन्ध रखते थे, और अपने निर्धारित कार्य सम्पन्न करते थे जैसे जोशी और पन्त ब्राह्मण मुख्यतः राज मंत्रियों का कार्य करते थे, एवं ज्योतिष, पूजा-पाठ, अध्यापन में समय लगाते थे। अन्य जातियों से वैवाहिक एवं सामाजिक-सम्बन्धों के कारण इनमें दो भेद हो गए थे जिन्हें बोलचाल में 'ठुलधोती' एवं 'नानधोती' (बड़ी धोती, छोटी धोती) ब्राह्मण कहते हैं। बड़ी धोती वाले अपनी शैक्षणिक योग्यताओं, आर्थिक संपन्नता एवं उच्च सम्बन्धों के कारण छोटी धोती वालों को अपेक्षाकृत द्वेष दृष्टि से देखते हैं।

शहरों के राजपूत यद्यपि एकाधिक जातीय वर्गों से सम्बन्धित हैं, वे सिपाही और सेनापति होने के कारण, तथा जमींदार होने के कारण बड़े प्रभुत्व-संपन्न हैं। इनमें मनराल, बिष्ट, कार्की, शैतेला, बोरा, महरा, नेगी आजतक अधिकार संपन्न हैं। लेन-देन का व्यवसाय जिन शाह और चौधरी लोगों के हाथ में है वे अपने मूल स्थानों के आधार पर अथवा मूल व्यवसाय के आधार पर ठुलधरिये शाह, गंगोलावाह, जगाती, और चकुड़ायत आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

आर्थिक संपन्नता के आधार पर इन नगर वासियों में उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग जैसा श्रेणी विभाजन हो गया है। उच्चवर्ग में यहाँ के लगभग ८% परिवार हैं जिनमें मुख्यतया वकील, डाक्टर, प्राध्यापक, व्यापारी आदि हैं। मध्यवर्ग में २५ प्रतिशत परिवार हैं जिममें फुटकर विक्रेता, कार्यालय सहायक तथा अन्य व्यवसायी हैं। निम्न-वर्ग में लगभग ६ परिवार हैं जिनकी वार्षिक आमदनी २५००) रुपये प्रति परिवार से कम है। उच्चवर्ग की आमदनी केवल ६०००) रुपया वार्षिक प्रति परिवार से अधिक है। ('उत्तराखंड भारती', १/२, १९७३)।

स्पष्ट है कि शहरी क्षेत्र यहाँ आर्थिक दृष्टि से अधिक संपन्न नहीं है। चूँकि कुमाऊँ में शहरी जन-संख्या आठ प्रतिशत से अधिक नहीं है, इसलिये यह स्थानीय समाज का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करती। लोक-जीवन की प्रवृत्तियों पर इसका कम प्रभाव है।

ग्रामीण व्यवस्था—

कुमाऊँ का सामाजिक-संगठन मुख्यतः ग्रामीण-व्यवस्था पर आधारित है। ग्रामीण-समाज भी परंपरागत होने के कारण कई श्रेणियों में बँटा हुआ है जिनमें जातीय एवं आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर एकता बनी हुई है इनसे जमींदार वर्ग एवं निर्धन-वर्ग के बीच भेद किया जा सकता है यद्यपि दोनों वर्ग कृषि कार्य से जुड़े हैं और उनमें अंतर्वर्गीय शोषण नहीं दिखाई देता। सदियों से यह ग्रामीण-समाज लोक जीवन की इकाई बना हुआ है। यही गाँव कुमाऊँनी संस्कृति के केन्दीय घटक रहे हैं, इसलिये ग्रामीण-व्यवस्था को समझना आवश्यक है।

इन गाँवों में अधिकांश गाँवों की जनसंख्या सौ से कम है। एक हजार से अधिक जनसंख्या वाले गाँव पच्चीस-तीस से अधिक नहीं होंगे। ये गाँव इतने छोटे होते हैं कि कहीं उनमें दस-पन्द्रह घरों से अधिक नहीं होते। भौगोलिक स्थिति के कारण ये पहाड़ी ढलानों पर अथवा चौड़ी, घाटी वाली नदियों के किनारे स्थित हैं। घरों के चारों ओर थोड़ी सी भूमि को छोड़कर, इनके सीढ़ीदान खेत पहाड़ों में बिखरे रहते हैं जिनमें खेती की जाती है।

गाँवों की लगभग नब्बे प्रतिशत जनता खेती करती है किन्तु सभी भूमि एक जैसी कृषि-योग्य नहीं होती। 'तलाऊँ' एवं 'सेरा' कही जाने वाली जमीन उपजाऊ होती है जब कि 'उपजाऊँ' और बंजर जमीन में कुछ नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'नाप' कही जाने वाली भूमि विभिन्न परिवारों में लोगों की व्यक्तिगत संपत्ति होती है जबकि 'संजायती' भूमि पर ग्रामवासियों का सामूहिक अधिकार होता है। गाँव में कुछ भूमि 'बेनाप' होती है जो सरकार की होती है किन्तु ग्रामीण लोग चरागाहों अथवा घास जंगली लकड़ी की सुविधाओं के रूप में उसका उपयोग करते हैं।

कुमाऊँ के ग्रामीण अंचलों की मूलभूत आवश्यकताएँ चार हैं—(१) पेयजल, (२) चरागाह, (३) कृषियोग्य भूमि तथा (४) जंगल। इनमें किसी एक की कमी होने पर ग्रामीण जीवन अस्त—व्यस्त हो जाता है। जलाशय, जिन्हें 'नौले' कहते हैं एक-एक मील तक दूर होते हैं जहाँ से घड़े

भर-भर कर जल लाने में स्त्रियों और पुरुषों का समय निकल जाता है। कृषि वर्षा के जलपर अथवा नदियों के जल पर निर्भर होती है। जिन नदियों की घाटियाँ चौड़ी हैं वहाँ ग्रामों की पंक्तियाँ दिखाई देंगी।

इन गाँवों के खेत अत्यन्त उपजाऊ होते हैं किन्तु ऐसे ग्रामीण क्षेत्र इने-गिने हैं जैसे गेवाड़ घाटी जो पश्चिमी राम गंगा से सिंचित है। कत्यूर की घाटी जो सरयू—गोमती नदियों से सिंचित है। सोमेश्वर की घाटी, जो कोसी नदी से सिंचित है। यहाँ के सेरों में धान की खेती प्रसिद्ध है। धान की रोपाई और कटाई के अवसरों पर यह घाटियाँ सामाजिक क्रिया-कलाप तथा मनोरंजन के लिये पर्याप्त उपयुक्त होती हैं।

गाँवो के स्त्री-पुरुष प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करते हैं जिसके उदाहरण इनके आवास-स्थान हैं। पहाड़ के मकान छोटे प्रायः दो या तीन बड़े कमरों के, दुमंजिले और पाथर के बने हुए होते हैं। तीन-चार ऐसे मकानों की एक पंक्ति 'बाखली' कहलाती है। जिनके सामने एक पटाँगण अर्थात् आँगन अवश्य होता है। प्रत्येक मकान का निचला हिस्सा जो 'गोठ' कहलाता है, गाय भैंस बाँधने के काम आता है। मुख्य बैठक को 'चाख' कहते हैं जहाँ तिथि त्योहारों पर आस-पास के स्त्री पुरुष एकत्र हो जाते हैं। यहीं संस्कारगीत गाए जाते हैं और घरेलू 'जागर' लगते हैं। मकान के चारों ओर बाड़ी में दाड़िम, नींबू, केला, नारंगी, अखरोट, खुमानी, नासपाती आदि के पेड़ अथवा पहाड़ी साग सब्जियाँ जैसे मूली, कद्दू, गडेरी, पिनालू, ककड़ी, आदि लगी रहती हैं।

गरीब परिवारों के मकान मिट्टी की दीवालों से बने होते हैं जिन्हें घास-फूस से छाया जाता है। भीतर प्रायः एक ही बड़ा कमरा रहता है जिसके एक कोने में पशु तो दूसरे कोने में स्त्री-पुरुष एवं बच्चे रहते हैं। गाँव के बीचों बीच किसी न किसी ग्राम देवता का जैसे भुइयाँ, गोरिल्ल आदि का अथवा किसी देवी का थान (मन्दिर) अवश्य होता है। जिसके ऊपर श्वेत अथवा लाल ध्वजाएँ फहराती रहती हैं। यही मन्दिर ग्रामीण चौपालों का काम देते हैं जहाँ पंच लोग ग्रामीण समस्याओं का निर्णय करते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों के पच्चानवे प्रतिशत लोग हिन्दू हैं जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकांश संख्या खस राजपूतों की है। यद्यपि यह सत्य है कि आज खस एवं अन्य राजपूतों में भेद करना कठिन है। ग्रामीण-समाज वर्ण-व्यवस्था के अनुसार विभाजित अवश्य है और ब्राह्मण-क्षत्रिय—वैश्य-शूद्र आदि जातियाँ अपना पारम्परिक व्यवसाय करती हैं किन्तु अधिकांश ग्रामों में जनसंख्या का

वितरण न केवल वर्णगत है बल्कि जातिगत भी है। अनेक ग्रामों का नाम जातियों पर आधारित है जैसे लोहाली, महरा गाँव, महरूड़ी आदि। अथवा गाँव के नाम से ही निवासी जाने जाते हैं जैसे गंगोला शाह, सिमल्टि या पांडे, बुधला कोटी आदि। इन जातियों अथवा वर्गों के बीच पारस्परिक सहयोग निरन्तर बना रहता है जो कुमाऊँनी समाज की एक विशेषता मानी जा सकती है।

पहाड़ी ग्रामों में आधुनिक प्रभावों के बावजूद सामुदायिक सहयोग की भावना कितनी प्रखर है, इसका अनुमान पारिवारिक संस्कारों एवं ग्रामीण पर्वों के आधार पर किया जा सकता है। संयुक्त परिवार की प्रथा यहाँ अभी तक अखंडित है इसलिये किसी औसतन परिवार में दस-पन्द्रह व्यक्तियों की संख्या साधारण बात है। परिवार के सभी व्यक्ति तो मिल जुलकर कार्य करते ही हैं, उनके साथ विशेष अवसरों पर, सारा ग्रामीण समुदाय सम्मिलित रूप से कार्य सम्पन्न कराता है।

इस सामुदायिक भावना के प्रदर्शन का एक अच्छा अवसर रोपाई के समय लक्षित होता है। रोपाई प्रायः मई-जून में होती हैं। निर्धारित तिथि पर जब वास्तविक रोपाई 'पुलिसार' आरम्भ होती है तो ग्रामीण पुरोहित स्त्री पुरुषों को मंत्रोचार सहित रोली का टीका करता है जिसमें हल के बैलों तक को टीका किया जाता है। स्त्रियाँ दस-पन्द्रह के झुंडों में बारी-बारी से पलटाई अर्थात् अदल बदल कर प्रत्येक परिवार के खेतों में धान रोपती जाती हैं।

इस कार्य की थकान दूर करने के लिये एवं कार्य की प्रगति देखने के लिये जो व्यक्ति अर्थात् हुड़किया नियुक्त किया जाता है वह प्रायः शिल्पकार वर्ग का होता है। वही सर्वप्रथम प्रातःकाल हुड़का बजाकर वंदना करता है जिसकी एक एक पंक्ति को कोरस में स्त्री पुरुष दुहराते हैं। इस प्रकार हुड़किया बौल नामक ये गीत सामूहिक प्रयत्नों द्वारा आगे बढ़ते हैं। रोपाई का कार्य प्रायः एक दिन में प्रातःकाल छ सात बजे से आरम्भ होकर सायंकाल छः सात बजे तक समाप्त हो जाता है।

प्रत्येक गाँव की एक पनचक्की होती है जहाँ ग्रामवासी अनाज पीसते समय गपशप करने बैठ जाते हैं दैनिक जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े होने के कारण पनचक्कियों का उल्लेख स्थापित लोककथाओं में और लोकोक्तियों में बहुत हुआ है। 'चक्की पीसना' जैसे सामान्य कथन का तात्पर्य होता

है बेकार बैठे रहना जब कि 'सलपूर्ण घराट' का तात्पर्य है कि मनुष्य के दिन अच्छे बीत रहे हैं। बाहरी लोगों ने ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँच कर ऊँच नीच का भेदभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया है। किन्तु ग्रामीण जनता अपने आप में इन भेदों की कल्पना नहीं करती।

कभी-कभी अनेक गाँव मिलकर बिरादरी के आधार पर एक दूसरे के सुख-दुख में हाथबँटाते हैं जिसके पीछे नैतिक भावना विद्यमान रहती है। शारीरिक श्रम, कृषि योग्य औजारों, पशुओं एवं धान आदि का वितरण इसी आधार पर कर लिया जाता है।

कृषि यद्यपि स्थानीय अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार है किन्तु आजीविका की दृष्टि से वह ग्राम-वासियों को आत्म-निर्भर नहीं बना पाती। कारण यह है कि अधिकांश जमीन कृषि योग्य नहीं है और उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व भी कुछ अपवादों को छोड़कर नाम मात्र है। इस स्थिति में निर्धनता और बेरोजगारी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि विगत सौ वर्षों में कुमाऊँ के अधिकांश निवासी छोटी बड़ी नौकरियों की तलाश में दूर-दूर देशों तक चले गए हैं।

गाँवों में रह जाने वाले लोग छोटे-मोटे उद्योगों में लगते हैं। ब्राह्मण पुरोहित वृत्ति कर लेते हैं दूसरे लोग छोटी-मोटी दुकानें खोल लेते हैं, अथवा घरेलू नौकरी करते हैं। बाहर जाने वाले अधिक लोग सैनिक सेवा में हैं जो अपने परिवारों के लिये खर्चा भेजते हैं। ये लोग साल दो साल में एक आध महीने के लिये घर आते हैं। इस आर्थिक स्थिति ने सामाजिक रूढ़ियों को और जकड़ने में सहायता दी है। कृषि के पारम्परिक साधनों हल-बैल आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

ग्रामीण जन संख्या का लगभग दस प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों का है जिनमें प्रायः शिल्पकार वर्ग के तथाकथित डोम लोग हैं, जिनकी चर्चा पृष्ठभूमि में की जा चुकी है। ऐसे गाँव इने गिने हैं जहाँ केवल यही वर्ग निवास करता हो अन्यथा सवर्णों के ग्रामों में ही कुछ हटकर इन लोगों के निवास-स्थान होते हैं। चन्द राजाओं के समय से ये लोग सवर्णों की ओर से कुछ शर्तों के आधार पर खेती करते आये हैं। कुछ समय पूर्व इनकी हैसियत 'सिरतान' की थी अर्थात् ये लोग सवर्णों के पूर्णतः अस्थायी कार्यकर्त्ता थे जिन्हें कभी भी हटाया जा सकता था। १९५४ में उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन राजस्व-मंत्री ने

बताया था कि कुमाऊँ में ७२ कृषि भूमि हिस्सेदारी की थी, भूमि खायकरी की थी, ५·२४% भूमि सिरतानी की थी तथा १·७६% भूमि सदाव्रर्त तथा गूंठों की थी। (सोशल इकॉनॉमी ऑफ दी हिमालयाज—एस० डी० पन्त, पृ० ७७-७८)।

हिस्सेदार जमींदारों की भाँति भूमि के पूरे स्वामी होते हैं। 'खायकर' उनके अधीन ऐसे कार्यकर्त्ता होते हैं जिन्हें न तो निकाला जा सकता है और न उनका भूमि पर अधिकार होता है। 'सिरतान' इन दोनों की भूमि के कीटुंनस्थ कार्य करते हैं। सदावर्त तथा गूंठ की लगान माफी की जमीन है जिसे मन्दिरों, व्यक्तियों को दान स्वरूप दे दिया गया था।

ग्रामीण समाज में ब्राह्मण स्वयं खेतों में हल नहीं चलाते यद्यपि हलिया ब्राह्मण इसके अपवाद हैं। शिल्पकार लोग भी या तो खेती के औजार और बर्तन आदि बनाते हैं या मजदूरी के रूप में अपने ब्राह्मण स्वामियों के खेतों में हल चलाते हैं जिसके बदले उन्हें उपज का निर्धारित अंश मिलता है। कौटुंबिक उत्सवों में उपस्थित होकर अपने सेवाकार्य द्वारा ये 'नेग' वसूल करते हैं।

अंग्रेज लेखकों ने उनकी स्थिति दासतुल्य बतलाई है, किन्तु नवीन अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि उन्हें दासों के तुल्य करना संगत नहीं है भले ही उनकी आर्थिक स्थिति अत्यधिक हीन थी और अभी तक निर्बल है। सामाजिक जीवन में उनकी अपरिहार्यता को देखते हुए उनके प्रति सद्भावना और सहानुभूति रक्खी जाती थी। ('उत्तरा खंड भारती'—१/१ १९७३)

ग्रामीण लोगों का जीवन परिश्रम प्रधान तथा सरल है। मुख्यतः धार्मिक होने के कारण निवासी सच्चे और ईमानदार हैं। परस्पर स्नेह तथा सहयोग से परिवार में मिल जुल कर रहना उनकी विशेषता है। ये लोग दान धर्म, यात्रा, पूजा, पाठ आदि को विशेष महत्व देते हैं, इसलिये कथा पुराणों का वचन, धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन होता रहता है। देवी देवाताओं के थानों की विशेष स्थानों पर विशेष पूजा होती है।

किन्तु वर्ण-व्यवस्था पर आधारित कट्टरता कम नहीं हुई है। छुआ छूत की भावना प्रबल है। अभी पुरानी पीढ़ी के अनेक ऐसे उच्चवर्गीय लोग मिल जाएंगे जो शूद्रों का स्पर्श होने पर विष्णु विष्णु कह कर जल शुद्धि करते हैं। नित्य पूजा-पाठ से निवृत्त होकर धोती बदल कर भोजन करते हैं। पक्की रसोई, कच्ची

रसोई के भेद के अतिरिक्त ब्राह्मण लोग शूद्रों का जल नहीं पीते। क्षत्रियों के हाथ का खाना तक नहीं खाते। रजस्वला होने पर स्त्रियों को अछूत समझा जाता है। रसोई के भीतर प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश निषिद्ध है। जब से क्षत्रिय लोग जनेऊ धारण करने लगे हैं, तब से ब्राह्मण लोग छपलिया जनेऊ के आधार पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं।

पर्वतीय श्रमकार्य में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक परिश्रम की अभ्यस्त हैं। पुरुष तो सामान्य गृहकार्य के अतिरिक्त कृषि एवं व्यवसाय में दूसरों का हाथ बँटा देते हैं अन्यथा हुक्का पीकर, ताश खेलकर अपना समय व्यतीत कर देते हैं। पुरुषों की सापेक्षिक अकर्मण्यता ने एवं दैनिक कार्यों की विविधता ने यहाँ एक से अधिक विवाहों को उपयोगी बना दिया है। एक पुरुष की जितनी अधिक पत्नियाँ होंगी उतने ही उसके कृषि आदि कार्य सुचारु रूप से चलेंगे। इस आर्थिक स्थिति ने यहाँ बहुविवाह की प्रथा को जन्म दिया।

एकाधिक पत्नियों में असंतोष और कलह उत्पन्न होना स्वाभाविक है इसलिए पहाड़ों में अधिकतर आत्महत्याएँ स्त्रियों द्वारा होती हैं। अनुमान किया गया था कि कुमाऊँ की लगभग सत्तर प्रतिशत आत्महत्याएँ पहली इसी कोटि की होती थीं। वधुएँ अपने पतियों की अपेक्षा सास के नियंत्रण में अधिक रहती हैं जिसके फलस्वरूप उनका दैनिक जीवन अत्यंत दुखमय हो जाता है। सास बहू के इन दुखद और करुण संबंधों की बहुशः झलक लोक गीतों में मिलती है।

चूंकि पर्वतीय जन जीवन की धुरी नारी है इसलिए जीवन का दायित्व उसी को उठाना पड़ता है। प्रत्येक घर में वह तड़के उठकर जलाशय से पानी भर कर लाती है, फिर गाय भैंसों को दुहती हैं। गोशालाओं को साफ करती है, खाना बनाती है, ऊखल कूटती है, दिन में जंगलों से लकड़ी और घास काट कर लाती है अथवा पशुओं को चराती है। सायंकाल फिर गाय-भैंसो को दुहकर भोजन की व्यवस्था करती है। तदुपरान्त सबके खा पी चुकने पर बचा हुआ भोजन ग्रहण कर, बरतन आदि मलकर, विश्राम करती है। यह एक ग्रामीण कुमाउँनी नारी की दिनचर्या है जिसने 'न्योली,' 'घस्थारी' जैसे संवादात्मक गीतों को जन्म दिया है।

ये स्त्रियाँ इस प्रकार की व्यस्त दिनचर्या में भी मनोरंजन के अवसर निकाल लेती हैं। प्रायः ग्रामीण मंदिरों में तिथि त्यौहारों के अवसरों पर ये लोक नृत्यों में सम्मिलित होकर अपना बोझ हलका करती हैं। इन नृत्य-गीतों में नारियों का साथ पुरुष देते हैं।

यद्यपि पर्वतीय समाज अपने पिछड़ेपन के कारण बाहरी दुनियाँ के संपर्क में कम आया है फिर भी शिक्षा की दृष्टि से यह पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह कहना भी उचित होगा कि इस शिक्षा-दीक्षा का कोई विशेष लाभ स्थानीय जनजीवन को प्राप्त नहीं होता। आज से सौ वर्ष पूर्व यहाँ पाठशालाएँ और विद्यालय कम थे किंतु आज प्रत्येक बड़े गाँव में प्राइमरी स्कूल, माध्यमिक विद्यालय, उच्चतर विद्यालय, कन्या विद्यालय खुल गए हैं। कुमाऊँ में साक्षरता का अनुपात तो अधिक है किंतु ग्रामीण स्त्रियों में साक्षरता बहुत कम है।

ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का अभाव बढ़ता जा रहा है जिसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ उनके लिये कोई सेवा, व्यवसाय का साधन नहीं है। थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त करने वाले नवयुवक पहले ग्रामीण अंचलों से शहरों की ओर आकर्षित होते हैं तदुपरान्त अनुकूल अवसर पाकर दूसरे प्रदेशों की ओर चले जाते हैं। निम्न वर्ग के लोग बाल्यावस्था से छोटी-मोटी नौकरी की खोज में घर से भाग जाते हैं। इस स्थिति का परिणाम यह है कि कुमाऊँ का ग्रामीण समाज आज तक पिछड़ा रह गया है।

पिछड़ेपन का एक सुखद पक्ष यह है कि जनजीवन की बोलचाल में ऐसी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग होता है जो अभी तक ठेठ रूप में बची हुई है। इस शब्दावली में सम्बन्ध वाची शब्दों के अतिरिक्त भूगोल सम्बन्धी, घरेलू सामग्री सम्बन्धी, वस्त्राभूषण सम्बन्धी शब्दावली उल्लेखनीय है। पारिवारिक सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले शब्दों में 'ठुल बौन्यू' (ताऊ), 'खुड़बूबू' (प्रपितामह), 'कैंजा' (मौसी), 'ब्वारी' (बहू), 'भीना' (जीजा) जैसे शब्द रोचक हैं। प्राकृतिक पदार्थों के द्योतक 'घाम' (धूप), 'गध्यार' (नाला), 'ढुंग' (पत्थर), 'भिनेर' (आग), 'जून' (चंद्रमा), 'भ्योल' (चट्टान), 'छीड़ा' (झरना) जैसे शब्द हैं। घरेलू सामग्री के लिये 'कुड़ी' (मकान), 'खुटकूंण' (लकड़ी की सीढ़ी), 'लूण' (नमक), 'दातुल' (दरींती), कासिणी' (घड़ा), 'थकुलि' ('थाली' 'तौली' पतीली), 'काकुनी' (मक्का), जैसे शब्द उल्लेखनीय हैं।

ग्रामीण शब्दावली में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृषक जीवन सम्बन्धी शब्दावली मालूम पड़ती है जिसका न केवल दिन प्रतिदिन प्रयोग होता है बल्कि जिसके द्वारा कुमाऊँ की कृषि व्यवस्था का ऐतिहासिक परिचय प्राप्त होता है। इनमें 'तलाऊँ', 'उपराऊँ', 'खायकर' 'सिरतान' जैसे शब्द पहले आ चुके हैं। कुछ अन्य शब्द यहाँ दिये जाते हैं।

'सिमार' उस भूमि को कहते हैं जिसमें अस्थायी रूप से सिंचाई होती है। 'बांज' बंजर जमीन को कहते हैं जिस ओर अधिक धूप रहे वह 'तैलफाट' और जहाँ छाया अधिक रहे वह 'सैलफाट' कहलाता है। 'गोठ' गोशाला को कहते हैं, ऊँचे पहाड़ 'डाना' अथवा 'धुरा' कहलाते हैं और पहाड़ की पीठ 'धार' कहलाती है। नदी के किनारे मैदानों को 'बगड़' कहते हैं। जमीन के मालिक को 'थातवान' कहते हैं। कई गाँवों का स्वामी 'थोकदार' कहलाता है जिसे कहीं सयाना अथवा 'बूढ़ा' कहते हैं। मंदिरों को चढ़ाई गई जमीन 'गूठ' कहलाती है। करीब दो सेर की नाप का काठ का बरतन 'नाली' और उससे छोटी नाप 'माणा' कही जाती है।

इसी प्रकार के कुछ अन्य शब्द हैं—'तप्पड़' (चौरस भूमि), 'भिड़' (खेत की दीवार), 'खोड़' (कांजी हौस), 'गूल' (छोटी नहर), 'टिपुड़ी' (छोटी चोटी), 'रौ' (नदी का गहरा भाग), 'राठ' (घराना), 'मौ' (कुटुंब) आदि। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग चूंकि दैनिक जीवन में होता है इसलिये लोक-साहित्य के विविध रूपों में यह प्रायः मिलती है।

वेशभूषा और आभूषण—

मनोरंजन की दृष्टि से मेलों और उत्सवों की चर्चा हो चुकी है। स्थानीय सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनमें स्त्री और पुरुष सज-धज कर सम्मिलित होते हैं, इस कारण मेलों-त्योहारों में स्थानीय वेश-भूषा और आभूषण दर्शनीय हैं। पुरुष की औसत वेश-भूषा टोपी, कुर्त्ता, कोट, सुराल (पाजामा), फतोई (वास्कट) आदि है जो सीमान्त प्रदेशों में कुछ बदल जाती है। जोहार-दारमाँ के पुरुषों की टोपी 'छप्पा टोपूसी' कहलाती है जिसके ऊपर पगड़ी पहनी जाती है, उनका ऊनी पट्टू का चूड़ीदार पाजामा 'गजू' कहलाता है। कमर में बाँधा जाने वाला कपड़ा 'ज्यूज्याँग' कहलाता है। स्त्रियाँ घाघरि पिछौड़ी, आँगड़ी पहनती हैं। छोटे बच्चे 'झगुला' पहनते हैं। प्रायः अविवाहित और विवाहित लड़कियों की पोशाक भिन्न होती है।

इसी प्रकार आभूषणों की विविधता दर्शनीय है जिन्हें महिलाएँ अत्यधिक धारण करती हैं। सोने की नथ धारण करना सौभाग्य का चिन्ह समझा जाता है। इसी के साथ काले दानों की माला 'चरेन्ड' जो गले में धारण की जाती है, सौभाग्य चिह्न मानी जाती है। इन्हें विधवा स्त्रियाँ नहीं पहन सकतीं। पहुँची, झाँपर टीप, लच्छे, बिछुवे उनके अन्य आभूषण हैं। मूँगे की माला।' चाँदी की जंजीर चाँदी की अठन्नी, चवन्नी और रुपयों की मालाएँ धारण की

जाती हैं। जोहार-दारमाँ की स्त्रियाँ अधिकांश चाँदी के गहने पहनती हैं जो पाँच-पाँच सेर तक भारी होते हैं। इनमें गले की हँसुली 'खुङ ले' कही जाती है। मूंगों के दानों की माला 'मैगशाल' और चाँदी के बड़े दानों की माला 'प्यूंग चौं' कहलाती है। चाँदी की बालियों को 'मुरकी' कहते हैं। इन आभूषणों द्वारा स्त्रियों की कलात्मक रुचि का अनुमान होता है।

लोक नृत्य—

ग्रामीण समाज की कलात्मक अभिरुचि विभिन्न लोकनृत्यों, भित्ति चित्रो एवं मृग्मूर्त्तियों द्वारा अभिव्यक्ति पाती है जिनमें धार्मिक भावना अखण्ड रूप से जुड़ी हुई है। 'झोड़ा,' "चांचरी', छपेली,' 'छोलिया,' 'घस्थारी,' 'जागर' जैसे नाम से प्रसिद्ध थे। कुमाऊंनी नृत्य सैकड़ों लोगों को आकर्षित करते हैं।

'झोड़ा' लोकनृत्य सर्वाधिक लोकप्रिय है जो किसी मेले में देखा जा सकता है, स्त्री-पुरुष एक दूसरे के कंधे पर हाथ रक्खे हुए गोलाकार वृत्त में एक लय के साथ थिरकते हुए धीरे-धीरे घूमते रहते हैं। वृत्त के बीचो-बीच लोक गायक किसी लोकगीत के धुन छेड़ देता है जिसे स्त्री-पुरुष दोहराते चलते हैं। गायक हुड़किया वाद्य बजा-बजा कर गीत के भावानुसार नृत्य का निर्देश देता चलता है। इसका सबसे बड़ा आकर्षण वेशभूषा की विभिन्नता और रागीनी है। मासी, गिंवाड़ जैसे स्थानों में दो मंजलिया झोड़े प्रसिद्ध हैं जिनमें नर्तकों की एक मंडली, दूसरी मंडली के कंधों पर चढ़कर नाचती है।

'झोड़ा' का एक विशिष्ट रूप 'चाँचरी' है जिसमें सौ दो सौ नर्तकों का सम्मिलित होना साधारण बात है।

'छपेली' नृत्य में दो नर्तक होते हैं जो प्रेमी प्रेमिका, भाई बहिन कोई हो सकते हैं और उन्हीं के अनुसार नृत्यु का विषय बदलता है। इसमें हुड़का और बाँसुरी की मधुर ध्वनि के साथ नर्तकों का कंठ स्वर मिला रहता है। दर्शक मंत्र मुग्ध हो कर न केवल देखते रह जाते हैं बल्कि स्वयं 'होई, होई' करते हुए नृत्य की भंगिमा में झूमने लगते हैं। पुरुष नर्तक के एक हाथ में रंगीन रूमाल और दूसरे में दर्पण होना इस नृत्य की प्रमुख विशेषता है। इसमें स्त्री, पुरुषों की उल्लास प्रियता और मस्ती सहज रूप से विद्यमान रहती है।

छोलिया-नृत्य की प्रमुख विशेषता नर्तकों का तलवार लेकर नाचना है। राजपूतों के वैवाहिक अवसरों पर इसके दर्शन होते हैं। दो चार नर्तक ढाल तलवार लिये बारात के आगे नृत्य करते चलते हैं, जिनके पीछे ढोल, तुरही बजाने वाले ताल-स्वर देते हैं। बारात में सफेद और लाल दो निशान रहते

हैं लोग क्रमशः शांति और युद्ध के परिचायक हैं। बारात की चाल के अनुरूप इस नृत्य में पद-संचालन मंद रहता है। यह नृत्य उस प्राचीन रीति-रिवाज का प्रतीक है जब बारातें अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर निकलती थीं और वर-वधू का अपहरण कर लेता था।

'घस्यारी' लोक-नृत्यों की कथावस्तु ग्रामीण जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखती है। इसमें ग्रामीण नर्तकी दराँती लेकर जंगल में घास काटने का अभिनय करती है। घने जंगलों में अकेले आना खतरों से खाली नहीं होता, अतः स्त्रियाँ झुंडों में घास काटने जाती हैं। इस नृत्य द्वारा श्रम के साथ मनोरंजन होता है। द्रुत और मन्द अंग-संचालन, स्पष्ट भाव-प्रदर्शन और स्फूर्ति दायक संगीत इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

'जागर'-नृत्य धार्मिक विश्वासों का जीता जागता प्रतीक है जिसमें नर्तकों के शरीर में लोक-देवताओं का अवतरण माना जाता है। घर-बाहर के 'जागरों' में ढोल-दमामों की ध्वनि के बीच देवता अवतरित होता है। घर-भीतर के जागरों से काँसे की थाली बजाकर उसका अवतरण कराया जाता है, यह नृत्य केवल रात्रि में होता है। पहले बाइस रातों तक 'जागर' नृत्य होते थे जिन्हें 'बैसी' कहते थे। नन्दादेवी की 'बैसी' प्रसिद्ध है जिसकी झलक अलमोड़ा नन्दादेवी के मेले में नन्दाष्टमी के अवसर पर मिलती है।

लोक-कलाएँ—

कुमाऊँ की लोक-कलाएँ मुख्यतः चार प्रकार की है जिन्हें 'ऐपण (अल्पना), 'बारबूंद' (भित्ति अलंकरण) 'ज्यूंति पट्टा' (मातृकाओं के चित्र) और 'डिकारा' (मृण्मूर्तियाँ) कहते हैं।

'ऐपण' किसी भी शुभकार्य में घर की देहरी पर अथवा पूज्य की वेदी पर बनाए जाते हैं। लालमिट्टी या गेरू से जमीन को लीपकर पिसे हुए चावल 'बिस्वार' से विभिन्न तांत्रिक आकृतियाँ अथवा फूल पत्तियाँ रेखाङ्कित की जाती हैं। 'बारबूंद' में बिंदुओं एवं छोटी रेखाओं द्वारा एक नमूने की आवृति की जाती है। प्रत्येक नमूना दूसरी रेखाओं द्वारा जुड़ा रहता है इसमें विभिन्न रंग प्रयुक्त होते हैं। ज्यूंति पट्टी में लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश आदि के रंगीन चित्र अंकित किये जाते हैं जिनकी तैयारी जन्म-विवाह आदि किसी शुभ-कार्य के अवसर पर की जाती है।

जन्माष्टमी, दीपावली और दशहरा जैसे प्रमुख अवसरों पर ये पट्टे पूजे जाते हैं। इनमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ, लक्ष्मी और दुर्गा की विभिन्न मुद्राएँ

चित्रित रहती हैं 'ज्यूँति' का तात्पर्य है जीव मातृका जो संपूर्ण जीवधारियों की जननी मानी जाती है। इसमें गणेश सहित तीन देवी मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं। घर की स्त्रियाँ धार्मिक गीतों से इसकी पूजा संपन्न करती हैं।

'डिकारा' क्ले मॉडलिंग का स्थानीय सरल रूप है। विभिन्न देवी देवताओं की मृण्मूर्त्तियाँ बनाकर, रंगों से संवार कर, हरियाले के समय श्रावण-मास में अनुष्ठान सहित पूजी जाती हैं। कर्क संक्रांति को शिवपार्वती का पूरा परिवार डिकारों के रूप में पूजा जाता है। इन मूर्त्तियों को लड़कियाँ चिकनी मिट्टी में रूई मिला कर बनाती हैं। धूप में सूखने पर इन्हें पिसे हुए चावल से पोता जाता है जिसपर रंगीन चित्र बनाए जाते हैं। ये मूर्त्तियाँ आकार-प्रकार की सुघड़ता में बहुत सुन्दर नहीं होतीं किन्तु कलाकार की भक्तिभावना की पूर्ण द्योतक होती हैं। इनकी चित्रित वेश-भूषा स्थानीय सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की छाप लिए होती है।

उद्योग-धन्धे—

आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुमाउँनी समाज में व्यावसायिक लोक कलाओं का उल्लेख करना आवश्यक है जिनमें ऊन कातना-बुनना, टोकरी चटाई बनाना, पशमीनों, गलीचों की कढ़ाई, लकड़ी की छड़ी बनाना आदि सम्मिलित हैं। ग्रामीण उद्योगों में मौन पालन, फल संरक्षण, चाय बागानों में कार्य, पशुपालन, मत्स्यपालन, डेयरी-विकास तथा अन्य कुटीर-उद्योग प्रमुख हैं जिनकी ओर पंचवर्षीय योजनाओं में पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। इन उद्योगों द्वारा आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है तथा वर्ण भेद की कट्टरता कम हुई है। नये लोक गीतों में इन विषयों का प्रचलन इस बात का द्योतक है कि जनता इन्हें ग्रामीण सुधारों के रूप में स्वीकार कर रही है।

विगत दस-पन्द्रह वर्षों में शासन ने अनेक विकास योजनाओं द्वारा एवं यातायात की सुविधाएँ प्रदान कर जन जीवन को समुन्नत करने का चतुर्दिक प्रयास किया है। स्थानीय शासन-व्यवस्था को अधिक सरल बनाया गया है जिससे अधिकारी वर्ग पहले की भाँति निरंकुश और नृशंस नहीं रहा। पटवारी और थोकदार लोगों का जो आतंक अँगरेजी शासन में था वह समाप्त हो चुका है।

पर्वतीय क्षेत्रों के चतुर्दिक विकास हेतु राज्य ने 'पर्वतीय विकास नियम' नाम से एक स्वयं परिषद् की स्थापना की है और पंचायती राज व्यवस्था को

को प्रोत्साहित किया है। सात आठ गाँवों की एक न्याय पंचायत होती है और दो तीन गाँवों की सामान्य पंचायत होती है। ग्रामों में विकास खंडों द्वारा नवीन योजनाएँ क्रियान्वित की जाती हैं, इनमें कार्यकर्त्ता जनता के निकट संपर्क में रहकर उन्हें नवीन वैज्ञानिक पद्धतियों का परिचय कराते हैं। फलस्वरूप ग्राम-वासियों को आधुनिक सुविधाएँ मिलती जा रही हैं।

मोटर यातायात की सुविधाओं ने आवागमन को सरल बनाया है, फलतः ग्रामवासी अपने स्थानों पर बैठकर ही दूर दूर से संपर्क कर लेते हैं। वर्षों पूर्व जहाँ हलद्वानी से पिथौरागढ़ की पैदल यात्रा में प्रायः एक सप्ताह लग जाता था वहाँ अब यात्री कुछ घंटों में ही पहुँच जाता है। विदेशी पर्यटक तथा अन्य व्यावसायी यहाँ सुगमता से पहुँचने लगे हैं जिनका उत्तरोत्तर प्रभाव जीवन और समाज पर पड़ रहा है। इस बदलती हुई सामाजिक स्थिति की स्पष्ट छाप लोक जीवन के सभी पक्षों पर अर्थात् संस्कारों, रीति रिवाजों, आचार-विचार सम्बन्धी प्रथाओं, शकुन अशकुन सम्बन्धी धारणाओं एवं लोक विश्वासों पर लक्षित होती है।

प्रमुख संस्कार—

कुमाऊँ के नगरों तथा ग्रामों में हिन्दू धर्म के सभी संस्कार पर्व तथा उत्सव मनाए जाते हैं। संस्कारों में यद्यपि पारंपरिक षोडष संस्कारों के नाम गिनाए जाते हैं किन्तु व्यवहार में 'जातकर्म', 'नाम करण', 'अन्न प्राशन', 'उपनयन' 'विवाह' एवं 'मृतक कर्म' मुख्य रह गए हैं।

नवजात शिशु के उत्पन्न होने पर पहले सचैल स्नान करने की कुछ पूजन विधि थी जो अब समाप्त हो चली है। जन्म के छठें दिन षष्ठी कर्म धूमधाम से मनाया जाता है जिसमें गीतवाद्य-मंगलगान, मंत्र पाठ आदि के बीच बंधु बाँधवों को भोजन कराया जाता है। कन्या जन्म पर षष्ठी कर्म नहीं होता केवल ग्यारहवें दिन नाम करण संस्कार होता है। सूतिका गृह को पंचगव्य से शुद्ध करके नक्षत्रानुसार बालक का नाम एक वस्म में लिख कर उसे शंख द्वारा बालक के कान में फूंका जाता है इस दिन पहली बार बालक सूर्य दर्शन करता है।

अन्न-प्राशन पुत्र का छठें-आठवें महीने, कन्या का पाँचवें-सातवें महीने किया जाता है। बालक के सामने कपड़े, पुस्तक, लेखनी, रुपये, पैसे आदि रक्खे जाते हैं। लोक विश्वास है कि जिस वस्तु को वह छुएगा उसी से वह आगे चलकर लाभान्वित होगा।

उपनयन संस्कार को 'व्रतबंध' भी कहते हैं। यह संस्कार दो दिनों में संपन्न होता है। पहले दिन के कर्म 'ग्रहजाग' में सम्मिलित हैं जिसमें विधि-विधान सहित वेदी बनाकर पूजन किया जाता है। दूसरे दिन उपनयन के अन्य कर्म होते हैं जिनमें वटुक को मंत्र देना, भिक्षाटन, जैसे कार्य सम्मिलित हैं।

प्रसिद्ध संस्कार विवाह का है जिसमें ब्राह्मणों एवं राजपूतों आदि के तत्संवन्धी आचारों में अंतर है। ब्राह्मणों की बारात में 'निशान' नहीं जाते। विवाह लग्न के चार पाँच दिन पूर्व गणपति पूजन के उपरान्त तिल एवं चावल के लड्डू, 'सुंवाले' वनाए जाते हैं। विवाह के दिन सायंकाल द्वार-पूजा के समय वाग्दान के उपरान्त जनवासे में वर को ठहराया जाता है। कन्यादान के समय वरपक्ष के लोग विवाह मंडप में आते हैं। वर पक्ष एवं कन्यापक्ष के लोग एक अंतरपट डालकर आमने सामने बैठते हैं। कन्यादान संकल्प के उपरान्त सप्तपदी की प्रमुख रस्म पूरी की जाती है। तदुपरान्त प्रातःकाल विवाह संपन्न होने पर बारातियों के यथायोग्य तिलक लगाकर विदाई दी जाती है। कुमाऊँ में बारात प्रायः दूसरे दिन लौट आती है। कुछ दिनों बाद 'दुर्गूण' (द्विरागमन) की रीति संपन्न की जाती है जो समयाभाव के कारण अब समाप्त हो चली है।

मृतक संस्कार में मृत्यु के समय गोदान और दशदान कराया जाता है। मरणासन्न व्यक्ति के मुख में तुलसीदल और गंगाजल डालते हैं। फिर मृतक को स्नानोपरान्त चन्दन और यज्ञोपवीत धारण कराए जाते हैं। मृतक के ज्येष्ठ पुत्र अथवा निकट सम्बन्धी को दाह-संस्कार करने पड़ते हैं। जौ के आटे से पिंडदान होता है। दाह संस्करण करने वाला सिर मुड़ा कर छोपा धारण करता है। शवयात्रा में सम्मिलित लोग स्नान करते हैं, गोमूत्र के छींटे देकर उनकी शुद्धि की जाती है। घर लौटते समय वे एक काँटेदार टहनी को पत्थर से दबा कर उस पर पैर रखते हुए आते हैं।

दाहकर्त्ता दस दिनों तक घर के एक कोने में, गोबर की बाड़ लगाकर अलग रहता है। वह न तो किसी को स्पर्श करता है और न किसी का पकाया अन्न खाता है। नित्य स्नानोपरान्त तिलांजलि देकर जल-दूध मिश्रित मिट्टी की हांडी को पेड़ पर बाँध देता है। दसवें दिन घर की शुद्धि होती है और इन दस दिनों तक गरुण पुराण बाँचा जाता है!

ग्यारहवें और बारहवें दिन के कर्म क्रमशः 'एकादशाह' और 'द्वादशाह' कहलाते हैं। बारहवें दिन सपिंडि श्राद्ध किया जाता है जिसके द्वारा प्रचलित लोक विश्वास के अनुसार प्रेतात्मा पितृगणों के साथ मिल जाती है तथा प्रेत योनी में नहीं भटकती। तदुपरान्त पीपल को जल चढ़ते हैं। गोदान, तिलपात्र दान करके ब्रह्मभोज कराते हैं। मैदानी भागों में यह कर्म तेरहवीं कहलाता है। प्रतिमास मृत्युतिथि पर मासिक श्राद्ध करने की प्रथा है यद्यपि अब यह अनेक कारणों से मासिक न होकर वार्षिक रह गई है, इसलिए बरखी कही जाती है। संपन्न लोग काशी, प्रयाग, हरिद्वार, गया आदि तीर्थों में श्राद्ध कराते हैं। मैदानी भागों में यह कर्म तेरहवीं कहलाता है। प्रतिमास मृत्युतिथि पर मासिक श्राद्ध करने की प्रथा है यद्यपि अब यह अनेक कारणों से मासिक न होकर वार्षिक रह गई है, इसलिए बरखी कही जाती है। संपन्न लोग काशी, प्रयाग, हरिद्वार, गया आदि तीर्थों में श्राद्ध कराते हैं।

कुमाऊँ में प्रचलित उपर्युक्त सामाजिक संस्कारों के विषय में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो ये पुरोहित वर्ग के व्यापक अनुष्ठानों के द्योतक हैं। दूसरे ये कुमाऊँ भर में व्याप्त होने पर भी स्थानीय लोक संस्कृति का वास्तविक परिचय नहीं कराते। कारण यह है कि इनके विधि-विधान में पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य है। जब कि वास्तविक लोक संस्कार लोक जीवन से उद्भूत होते हैं। उनके निर्वाह में किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यही कारण है कि उक्त संस्कारों से संबद्ध संस्कार गीतों का प्रचलन होते हुए भी ये कुमाउँनी लोक गीतों का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुमाऊँ के लोक जीवन का प्रतिनिधित्व तो वे मुक्तक गीत करते हैं जो नृत्य—प्रधान, संवाद–प्रधान, ऋतु-प्रधान; देवी-देवता संबंधी आदि कई प्रकार के होते हैं।

उक्त संस्कारों के विषय में दूसरी बात देने की यह है कि इनमें स्थानगत आचार भेद पाया जाता है अर्थात् कुमाऊँ के सभी अंचलों में एक जैसे संस्कार नहीं पाए जाते व्याँस-चौदाँस की ओर संस्कारों पर तिब्बती संस्कृति का अधिक प्रभाव है तो दक्षिण में थरुवाट की ओर विवाह और मृत्यु के अलग रीति रिवाज हैं। दारमा भोटियों का मृतक संस्कार 'दुरुँग' कहलाता है। इन संस्कारगत स्थानीय भेदों की विस्तृत चर्चा क्षेत्तीय विभाजन के आधार पर अगले अध्यायों में की जाएगी।

प्रायः सभी स्थानों पर संस्कार संबंधी न्यूनाधिक गीत प्रचलित हैं। जिस क्रम में संस्कार विषयक अनुष्ठान संपन्न होते हैं, उसी क्रम में ये गीत गाए

जाते हैं अर्थात् इनकी विषय-वस्तु अनुष्ठानों के अनुसार बदलती रहती है। इनकी यह विशेषता स्मरणीय है। कुमाऊँ में मृतक कर्म संबंधी गीत प्रचलित नहीं हैं। दारमा का 'दुरिंग' इस तथ्य का अपवाद है।

मान्यताएँ और लोक विश्वास—

पर्वतीय समाज में प्रचलित मान्यताएँ एवं लोक विश्वास दो प्रकार के हैं। मंत्र-तंत्र और जपतप और स्तुति विषयक धारणाएँ शास्त्रोक्त मान्यताओं के अंतर्गत हैं क्योंकि इनका विधि-विधान, शास्त्र परक होता है और पुरोहित की देख रेख में किया जाता है। दूसरी श्रेणी में वे लोक-विश्वास हैं जिनमें जादू-टोना, टोटका जैसी धारणाएँ सम्मिलित हैं। इन लोक विश्वासों को भी दो प्रकार का मान सकते हैं

(१) सामान्य लोक विश्वास एवं

(२) अंध विश्वास।

परंपराओं का अर्थ जाने बिना रूढ़ि के रूप में पालन अंध विश्वास है। इसमें यात्रा संबंधी, पशु पक्षी संबंधी अथवा लता वृक्ष संबंधी विश्वास सम्मिलित हैं। जैसे दिशाशूल संबंधी मान्यता है कि मंगल—बुद्ध को उत्तर की यात्रा नहीं करते। रविवार-शुक्रवार को पश्चिम की यात्रा नहीं करते, शनि-सोम को पूर्व की यात्रा नहीं करते और वृहस्पति को दक्षिण की यात्रा निषिद्ध है। मंगलवार और शनिवार देवी पूजन के लिए विशेष रूप से शुभ माने जाते हैं। इसी के पैट-अपैट संबंधी धारणाएँ हैं जिनमें विधि और निषेध दोनों सम्मिलित हैं। जैसे सोमवार को नया कपड़ा खरीदने का निषेध है। शनिवार को नया कपड़ा न काटते हैं, न पहनते हैं।

इसी से मिलते-जुलते अंधविश्वास दैनिक जीवन में लक्षित होते हैं। किसी महत्कार्य की सिद्ध के लिए प्रस्थान करते समय रोली का तिलक लगाकर, दही खाकर बाहर निकलते हैं। ऐसे समय काने व्यक्ति का दर्शन अशुभ माना जाता है। किसी व्यक्ति के छींक देने पर कुछ देर रुक जाते हैं। उसी व्यक्ति के तीन बार छींकने पर इसका दोष नहीं माना जाता। सामने भरा हुआ बरतन दिखाई देना शुभ है। खाली बरतन अशुभ माना जाता है। जलाशयों से लौटते हुए ग्रामीण सीमा पर स्थित पीपल वृक्ष पर एक लोटा जल चढ़ाया जाता है क्योंकि वहाँ देवता का वास माना जाता है। नीलकंठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है। विधवा स्त्री को किसी मांगलिक कार्य में सम्मिलित नहीं किया जाता। निसंतान स्त्री-पुरुषों का सुबह उठते ही मुख देखना

अशुभ है। इसी प्रकार के अनेक अंध-विश्वास रूढ़ियों के रूप में प्रचलित हैं जिनका आज कोई तर्क सम्मत उत्तर नहीं दिया जा सकता।

दूसरे प्रकार के प्रचलित विश्वास सामान्य लोक विश्वास हैं जिन्हें विस्तृत लोकाचारों सहित संपन्न किया जाता है। इनमें विभिन्न प्रकार के टोने-टोटके, झाड़-फूंक सम्बन्धी आचार, पशुवलि, मनौतियाँ आदि सम्मिलित हैं।

गाँवो में कुदृष्टि से घरों को बचाने के लिए छत पर घीकुवार के पौधे लगाए जाते हैं और कहीं डांसी-पत्थर रक्खे जाते हैं। शत्रुओं को हानि पहुँचान के लिए मंदिरों में घात लगाई जाती है। घात लगाने वाली प्रायः स्त्री होती है क्योंकि उसी को सर्वाधिक अन्याय का शिकार होना पड़ता है। निश्चित तिथि को वह व्रत रखती है, पूजा की सामग्री लेकर घर की ओर मुंह किये हुए बाहर निकलती है और देव मन्दिर में दीपक जलाकर, संवद्ध व्यक्ति का जोर से नाम लेकर उसके नाम के मुट्ठी भर चावल झटके से मूर्त्ति की ओर फेंकती है और उलटी हथेली से अपना कपाल ठोकती है। कार्य सिद्ध होने पर देवता को घंटा चढ़ाने अथवा बकरा देने की मनौती बाँधती है।

किसी आकांक्षा की पूर्ति हेतु वृक्षों अथवा मंदिरों में चीर बाँधे जाते हैं जादू टोना करते समय काले तिल, काले उरद, सरसों और चावल, तथा सिंदूर, का विशेष प्रयोग किया जाता है।

देवी देवताओं के मंदिरों में पशुवलि की प्रथा लोकविश्वासों से जुड़ी हुई है। शैव-शाक्त मंदिरों में बकरा-भैंसा काटकर बलि दी जाती है, जिसके प्रतीक वैष्णव मंदिरों में चढ़ाए जाने वाले फल-फूल या नारियल आदि हैं। बलि देते समय पशु के माथे पर रोली लगाकर पत्र-पुष्प से उसकी पूजा करते हैं, माला पहनाते हैं। पानी के छींटे छिड़कने पर यदि पशु 'आँगमुनि' लेता है अर्थात् अपने शरीर को हिलाता है, तो समझा जाता है कि देवता ने बलि स्वीकार कर ली।

पुन्यागिरि, गंगोली हाट तथा कत्यूर घाटी के कोट माई के मंदिर में पशु-बलियाँ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि अन्य मंदिरों में भी इनका व्यापक प्रचलन है। दक्षिण कुमाऊँ में थाड़ू-बोकसा जातियाँ जादू-टोना के लिए इतनी प्रसिद्ध हैं की वहाँ इसका नाम ही "बोकसाड़ी विद्या" पड़ गया है।

इसी प्रकार के अन्य लोक-विश्वासों में कुल देवताओं की पूजा का विधान है। प्रत्येक क्षेत्र के लोग किसी न किसी देवी देवता को अपना इष्ट मानते हैं

जिसके समक्ष आपत्ति निवारण हेतु याचना करते हैं। चौगर्खा में जागेश्वर देवता की, सतराली में गणानाथ देवता की, गंगोली में महाकाली की, काली कुमाऊँ में पुण्यागिरि की और ध्यानीरौ में वाराही देवी की इसी दृष्टि से अत्यधिक मान्यता है। संतान प्राप्ति के लिए भी नाना प्रकार के टोने-टोटके किये जाते हैं जिनका विस्तार यहाँ अपेक्षित नहीं हैं।

कहना न होगा कि बदलती हुई परिस्थितियों में उक्त रीतिरिवाजों, विश्वास एवं मान्यताओं के पालन का श्रेय कुमाऊँ के नारी समाज को है जो संघर्षशील और कर्मठ होकर भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक परंपरा-प्रिय हैं। सामाजिक जीवन के रीति-रिवाज, पूजा और अनुष्ठान, पर्व-व्रत और उत्सव, जप और तप इन्हीं के कारण सुरक्षित हैं। जब हम इन सामाजिक विचारों की पृष्ठभूमि में लोक-साहित्य के विविध रूपों का अध्ययन करते हैं तो वहाँ भी नारी समाज प्रमुख रूप से सक्रिय लक्षित होता है।

८. उत्तरी कुमाऊँनी क्षेत्र

कुमाउँनी लोक-साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से परिचित होने के लिये क्षेत्रीय विस्तार के आधार पर इसका अध्ययन करना आवश्यक है। इस दृष्टि से जातीय एवं भौगोलिक आधारों पर कुमाऊँनी लोक-साहित्य को तीन पृथक एवं विस्तृत क्षेत्रों में बाँट सकते हैं। यह क्षेत्रीय विस्तार उत्तर में भारत-तिब्बती सीमा से लेकर दक्षिण में काशीपुर, खटीमा तक है, जहाँ से उत्तर-प्रदेश के मैदानी जिले आरंभ हो जाते हैं। कुमाऊँ की भाबर तराई का भूभाग मैदानी प्रभावों के निकट संपर्क में होते हुए भी, चूँकि जातीय सामाजिक व्यवस्था के कारण उनसे अलग है, इस कारण उसे नैनीताल जिले की दक्षिणी सीमा के अंतर्गत मानना उचित है।

कुमाऊँनी लोक-साहित्य का क्षेत्रीय विभाजन इस प्रकार है—

१. उत्तरी भूभाग का लोक-साहित्य

२. मध्यवर्ती भूभाग का लोक-साहित्य

३. दक्षिणी भूभाग का लोक-साहित्य।

अल्मोड़ा जिले में यदि पिंडारी ग्लेशियर से लेकर सुदूर असकोट तक एक रेखा खींची जाय तो उसका उत्तरवर्ती संपूर्ण-क्षेत्र इस विभाजन में पहले भूभाग के अंतर्गत आएगा। पिंडारी-असकोट रेखा से नीचे की ओर जिला नैनीताल के संपूर्ण पर्वतीय भूभाग तक का क्षेत्र दूसरे विभाजन के अंतर्गत होगा और जिला नैनीताल के भाबर एवं तराई वाले क्षेत्रों को हम सरलता से तीसरे स्थूल विभाजन दक्षिणी भूभाग के अंतर्गत रख सकते हैं। इन तीनों स्थूल विभागों का पुनः क्षेत्रीय विशेषताओं के आधार पर उपविभाजन किया जा सकता है जिसे संलग्न मानचित्र में प्रदर्शित किया गया है।

इस मानचित्र के उत्तरी क्षेत्र में दारमाँ-जोहार, असकोट के भाग रक्खे गए हैं। मध्यवर्ती क्षेत्र में गंगोली, पिथौरागढ़, चंपावत, अल्मोड़ा, रानीखेत और दानपुर तथा नैनीताल, भीमताल और पहाड़ कोटा के भाग सम्मिलित हैं। दक्षिणी क्षेत्र में रामनगर, काशीपुर, हलद्वानी, बाजपुर, किछाखटीमा और टनकपुर तक के क्षेत्र सम्मिलित हैं।

इन तीनों क्षेत्रों की पृष्ठभूमि समझ लेने पर कुमाउँनी लोक-साहित्य के विश्लेषण में न केवल सहायता मिलेगी प्रत्युत विविधताओं के आधार पर उसका समन्वित स्वरूप भी स्पष्ट हो जाएगा। इस अध्याय में हम केवल उत्तरी क्षेत्र के लोक-साहित्य एवं उसकी पृष्ठभूमि की विशेषताओं पर गहराई से विचार करेंगे।

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि किसी स्थान विशेष के निवासियों की जातीय मूलता, अन्य लोगों के साथ निरंतर संपर्क, रहन सहन की व्यवस्था तथा आचार-विचार आदि उनकी साहित्यक रचनाओं को प्रभावित करते हैं। इस आधार पर उत्तरी कुमाउँनी क्षेत्र के स्पष्टतः तीन खंड किये जा सकते हैं—

(१) दारमाँ खंड
(२) जोहार खंड
(३) असकोट खंड

ये तीनों तीन ओर से गढ़वाल, तिब्बत और नैपाल से घिरे हुए हैं। केवल दक्षिण की ओर उनका संपर्क तथा व्यापार मध्यवर्ती क्षेत्र के कुमाऊँ वासियों से होता है। इस क्षेत्र की लोक-रचनाओं में संगीत की ओर अत्यधिक-झुकाव है। गीतों में मुक्तक गीतों की प्रधानता है यहाँ तक कि कथात्मक तत्व वाले गीत भी ताल व लय प्रधान हैं। इनकी गेयता का एक प्रमुख कारण इनका मौखिक परंपरा में प्रचलन है।

इस उत्तरी क्षेत्र के निवासी सामान्यतः भोटिये या शौक कहे, जाते हैं जिनका मुख्य व्यापार ऊन का कारबार करना तथा मैदानी भागों से खाद्य पदार्थ लेकर तिब्बत तक पहुँचाना है। वे साल भर किसी एक ही निश्चित स्थान में निवास नहीं करते। हलद्वानी राम नगर की मंडियों से लेकर धारचूला गर्ब्यांग तक भिन्न भिन्न स्थानों पर उनके निश्चित पड़ाव हैं जिनका नाम "भोटिया पड़ाव" पड़ गया है। ये लोग मध्य एशिया के खिरगीज़ घुमंतुओं की भाँति साल भर में कम से कम दो बार सपरिवार अपना निवास स्थान बदल देते हैं। जीवन की इस व्यवस्था का उनके साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। ये लोग दीर्घ-काल के उपरान्त अपने प्रियजनों से मिलते हैं। अनिश्चय, द्ररिद्रता और अभाव उनके दैनंदिन जीवन को वैषम्यपूर्ण बनाते हैं। इसके फलस्वरूप उनके गीतों के प्रिय विषय उन्मुक्त प्रेम व्यापार की कठिनाइयाँ, गरीबी और दुखात्मक चित्रण के रूप में लक्षित होते हैं।

उत्तरी क्षेत्र के भोटिया चूंकि अधिकतर नदियों के किनारे रहते हैं, उन पर प्राकृतिक वातावरण व स्थानीय दूरी का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यह

प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि नदी के इस पार का एक ग्राम, दूसरी ओर के ग्राम से भिन्न हो जाता है। इसी स्थिति के कारण एक एक ग्राम के सभी निवासी आत्म-निर्भर हो जाते हैं। उनके गीत आत्म-निर्भरता की भावना से ओत प्रोत हैं। इस स्थिति में प्रत्येक घाटी के निवासियों की अपनी विशिष्ट रूचियाँ, प्राथाएँ और बोलियाँ विकसित हो जाती हैं।

भोटिया लोग चतुर साहसी भावनाओं से युक्त होते हैं, बीहड़ मार्गों को गीत गाते हुए पार कर जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर अंधविश्वासों में इतने जकड़े हुए हैं कि सब कुछ स्थानीय देवताओं की कृपा-अकृपा का फल मानते हैं। इसी कारण स्थानीय देवताओं की दन्त कथाएँ यहाँ बहुत प्रचलित हैं।

भोटिया व्यापारी जून के अंत तक तिब्बत की ओर व्यापार के लिये जाने की तैयारी करते हैं। जाने के दिन पूर्व रात्रि को उनका सारा परिवार ईश्वर की पूजा करता है। दूसरे दिन प्रात: काल स्त्रियाँ और बच्चे उन्हें किसी जलाशय या मंदिर तक पहुँचाने जाते हैं। तिब्बत जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति जब अपने प्रिय जनों को गले से लगाता है तो सभी स्त्रियों और बच्चों की आँखें भर आती हैं। विदाई का यह दृश्य इतना करुण होता है कि आज तक उनके लोक गीतों में करुणा की अंतर्धारा व्याप्त है। परिवार के प्रति उनकी सहानुभूति, स्वभाव की निश्छलता, व्यवहार की सरलता, बाधाओं को सहने की क्षमता जैसे गुण जहाँ उनके जीवन से संबद्ध हैं वहाँ उनके साहित्य में भी परिलक्षित होते हैं।

इस पृष्ठभूमि पर आधारित 'कंपासी मानी' शीर्षक एक गीत यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें तिब्बत जाने की कठिनाइयाँ वर्णित हैं। 'मानी' व्यापारी के लिये प्रयुक्त स्थानीय शब्द है। पहले व्यापारी ब्राह्मण जोशी से यात्रा का मुहूर्त्त पूजता है। कुटुंब के लिये भोजन पान की व्यवस्था की जाती है क्योंकि उसे लदाख जाना है। लदाख, दारमाँ-जोहार से बहुत दूर है, मार्ग विकट है, आवागमन के साधन कम हैं। यह प्रश्न किये जाने पर कि तुम कब लौटोगे ? वह उत्तर देता है कि राम जी की कृपा होने पर लौटूंगा। यात्रा में उसके सात जोड़े जूते फट जाते हैं किन्तु वह लदाख नहीं पहुँच पाता। जीवन का ऐसा ही कटु यथार्थ उनके लोक गीतों को मार्मिक बना देता है।

प्रकृति विषयक गीतों की यहाँ प्रचुरता है जिनमें हिममंडित शिखरों, श्वेत घाटियों, आकाश की नीलिमा, बुग्याल और पयार की हरीतिमा बार-बार प्रशंसित हुई हैं। 'बुग्याल' और 'पयार' यहाँ लंबे चौड़े घास के मैदान हैं जो दूर

दूर तक फैले रहते हैं। यहाँ ग्वाले-गड़रिये, कुछ समय के लिये अपनी गाय भैंस और भेड़ों को लेकर चले जाते हैं। वहीं अस्थायी रूप से रहते हैं वे पहाड़ के एक एक रहस्य से परिचित होते हैं और ऊँची से ऊँची चोटी। पर चढ़ने में नहीं घबराते। जब कोई भोटिया ग्वाला गीत गुनगुनाता हुआ सीटी बजाकर मस्ती से अपनी भेड़ बकरियों को बुलाता है और साथ ही तकली से ऊन कातता चलता है तो वह दृश्य देखने योग्य होता है। उसका उल्लास और जीवन संगीत जैसे इन गीतों में उतर आता है।

१. दारमाँ खंड

(ब्याँस चौदाँस) दारमा क्षेत्र का लोक-साहित्य ब्य स और चौदाँस की पट्टियों में फैला हुआ है। इसमें पंचचूली जैसी प्रसिद्ध पर्वत-मालाओं का, धौली-काली जैसी नदियों का, लिपूलेख, धास्बूला और झूलाघाट जैसे स्थानों का बार-बार उल्लेख हुआ है। चार्ल्स शेरिंग में अपनी 'वेस्टर्न तिबत एण्ड ब्रिटिश बॉर्डर लैंड' में आज से सत्तर वर्ष पूर्व लिखा था कि यह देश ही अलग है निवासियों की मुखाकृति धर्म वस, दक्षिणी प्रदेश वालों से बिलकुल भिन्न हैं। के निवासी ही अलग हैं। लगता है जैसे हम मंगोल लोगों के बीच में हों। स्त्रियाँ जापानियों की भाँति प्रत्येक बात पर हँसती है, न छिपती हैं न घूंघट निकालती हैं। पुरुष भेड़ बकरियों को चराते हुए, लछुओं पर झीकते हुए चले जाते हैं। यहाँ याक और जिबू पशुओं द्वारा घरेलू पशुओं का काम लिया जाता है। यह देश प्रथम-दर्शन में ही मुग्ध कर लेता है। (पृष्ठ ५६-५७)

शेरिंग के उपर्युक्त वाक्य भोटिया जन जीवन पर आज तक लागू होते हैं। ये लोग जोहार वासियों से अपनी मुखाकृति, व्यवहार और प्रथाओं में किंचित भिन्न हैं और भाषा साहित्य पर तिब्बत से प्रभावित हैं। इनकी तांत्रिक पूजा, पंच मकारों का सेवन हिन्दुओं से भिन्न है। इनके यहाँ हिन्दू देवताओं, गणेश हनुमान आदि की पूजा नहीं होती। देवी देवताओं के स्थान 'सैथन' कहे जाते हैं जो निर्जन स्थानों में कहीं गाँव के बाहर किसी झाड़ी में या सड़क के किनारे होते हैं। देवपूजन के लिये ये स्वयं पुरोहित कार्य करते हैं।

इन देवताओं में 'गबीला', 'छिपुला', 'हर धौल' आदि प्रसिद्ध हैं जिनकी दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ कथाएँ पौराणिक हैं जो निवासियों के जातीय इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। तारा पहाड़ के नीचे श्यामकुण्ड के किनारे महाभारत के रचयिता व्यास ऋषि का आश्रम माना जाता है जिस आधार पर इस पट्टी का नाम व्यास पड़ गया। पंचचूली पर्वत में पाँच पाँडवों की 'चूलियाँ' (रसोइयाँ) मानी जाती है।

द्रष्टव्य है, भोटिया लोकगीतों में नारी जीवन की तथा कथित करुणा व्यंजित नहीं होती। इनकी यह विशेषता उल्लेखनीय है। नारी का उल्लास उसकी अपेक्षाकृत स्वतंत्रता गीतों में झलकती है जिसका मुख्य कारण उसकी सामाजिक मर्यादा है। यहाँ नारी पुरुष की दासी नहीं है, वह सहधर्मिणी है। उसकी इच्छा अनिच्छा का निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है। उसे यहाँ तक स्वतन्त्रता है कि वह अपने स्वामी को स्वयं चुनती है। यहाँ विवाह अनिवार्य नहीं है। धनी व्यक्ति समृद्ध होते हुए भी किसी शारीरिक त्रुटि के कारण अविवाहित रह जाते हैं। युवतियाँ आजीवन कुमारी रह सकती हैं दूसरी ओर भोटिया समाज में यौन सम्बन्धों की स्वतन्त्रता भी है। उनके गीतों में प्रेम उदात्त मधुर रूप निखरने का यही प्रमुख कारण है।

इन प्रेम गीतों का अधिकांश निर्माण भोटियों के सामाजिक मिलन-केन्द्रों में होता है जिन्हें राँग बाँग कुड़ी कहते हैं अर्थात् ऐसे घर जहाँ राँग-बाँग प्रथा मानी जाती है। ये अन्यत्र आदिवासियों के विलेज-क्लब की भाँति अविवाहित स्त्री पुरुषों के मिलन केन्द्र हैं। प्रत्येक गाँव में एक ऐसा स्थान निश्चित होता है जहाँ सामूहिक रूप से स्त्री पुरुष मिलकर नाचते गाते हुए धूम्रपान करते हैं। 'फान' पीते हैं और सारी रात बिता देते हैं। 'फान' चावल गेहूँ से बनने वाली स्थानीय मदिरा है।

यहाँ स्त्रियों के मुख मंडल पर किसी प्रकार की झिझक नहीं होती। आग जलाकर चारों ओर नृत्य-गीतों की मुद्रा में उभरने वाला उनके मधुर कंठ का संगीत बड़ा आकर्षक होता है भावावेश में वे एक दूसरे की गोद में बैठ जाते हैं अथवा थककर वहाँ सो जाते हैं।

विवाहित युवक युवतियाँ 'राँग बाँग' में प्रायः सम्मिलित नहीं होते। इस प्रथा का मुख्य उद्देश्य है विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और भोटियों के विवाह यहीं होते हैं। इनमें उत्पन्न संतानें 'राँग बाँग केंत, अथवा 'राँग बाँग केंती' कहलाती हैं। अब यह प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। राँग-बाँग की तरह के नृत्य गृह केन्द्रीय नेपाल की गुरुंग जाति में भी प्रचलित हैं जो 'रोड़ी घर' कहलाते हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी धूम्रपान करते हैं।

'राँग बाँग' के अतिरिक्त युवक युवतियों का परस्पर मिलन नृत्य-गीतों के अन्य अवसरों पर विभिन्न स्थलों में होता है। विशेषकर जंगलों में भेड़-बकरी चराते हुए ऐसे अवसर मिलते हैं। प्रेमियों को आमंत्रित करने के लिये युवतियाँ अपनी कमर में बँधे दुपट्टे को हवा में हिलाती हैं जो उन्हें बुलाने का संकेत है। युवक सीटी बजाकर उन्हें बुलाते हैं। एक साथ बैठने पर गीत,

नृत्य, पान का कार्यक्रम चलता है। युवतियाँ उनके भोजन शयन का प्रवन्ध भी कर देती हैं। गाँव के एकान्त स्थानों में युवक युवतियों का साथ-साथ घूमते हुए दिखाई देना साधारण सी बात है।

भोटिया समाज में विवाह संस्कार तीन प्रकार से सपम्न्न किया जाता है। एक विधि यह है कि यदि किसी के घर पुत्र जन्म हुआ हो तो उसका पिता स ंभाग्य जाति बिरादरी में जिस दिन कन्या जन्म हुआ हो उसी दिन जाकर एक बोतल मदिरा, एक लोटा 'जाण' और एक फाफर की रोटी रख देता है। यदि वह रोटी तोड़ ले तो प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है अर्थात् उसी दिन से लड़की उसकी हो जाती है। यदि वयस्क होने पर वह दूसरे घर चली जावे अथवा पिता अन्यत्र विवाह कर दे तो लड़के का पिता उससे लड़की का पूरा मूल्य ले लेता है।

दूसरी विधि स्वयंबर के रूप में प्रचलित है जब पारस्परिक प्रेम होने पर कोई युवक किसी युवती को भगा लाता है। वह अपनी बिरादरी को भोजन —'जाण' पर आमंत्रित करता है। सात-आठ दिनों बाद वह दो तीन सयानों के साथ कन्या के घर जाता है जिसे 'बिनती करना' कहते हैं। कन्या के पिता द्वारा इसे स्वीकार करने पर बारात की तैयारी होती है। अन्यथा मारपीट होती है और कन्या का पिता अपनी पुत्री को छीन लेता है।

तीसरी विधि को 'शीलन कुरमू' कहते हैं जिसमें युवक अवसर देखकर युवती को बलपूर्वक उठा ले जाता है। कुछ दिनों बाद दूसरी विधि के अनुसार विनती करके विवाह सम्पन्न होता है।

मृत्यु के समय भोटिया समाज में एक विशेष प्रथा प्रचलित है जिसे 'दुरुंग', 'ढोरंग' कहते हैं। इसका मुख्य सम्बन्ध मृतक की दाहक्रिया एवं मृतात्मा की शान्ति से है। इसे मृत्यु के दो तीन महीने भीतर पूरा कर लेते हैं। इसमें तीन दिन लगते हैं और तिब्बती लामा की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है। यह पूरा संस्कार नृत्यगीतों की दृष्टि से रोचक है क्योंकि इसमें लोकाचार एवं नृत्य-गीत विचित रूप से घुले मिले हैं।

पहला दुरुंग 'चाँग दाम' कहलाता है जिसमें एक विशेष जाति 'झाँकर' बाजा बजाती है। याक के सींगों पर चाँदी के खोल चढ़ाकर उसकी पीठ में लाल गेरू पोतकर रात भर नृत्य-गीत होते हैं। दूसरा दुरुंग 'याक तोम' कहलाता है जिसमें पुरुष सिर की चोटी उतारे रहते हैं और महिलाएँ कपड़े पहनती हैं। रात्रि में दीपक लेकर लोग अशुभ गीत गाते हुए गाँव के तीन

चक्कर लगाते हैं । इन गीतों में मृत व्यक्ति को यात्रा मार्ग निर्दिष्ट किया जाता है । तीसरे दुरुंग में गाँव का सयाना विशेष प्रकार की कथा गाता है जिसे 'अम्हरम' या 'अमरिम' कहते हैं । रात्रि समाप्त होने पर निर्दिष्ट स्थान को प्रस्थान करते हुए लोग उल्टे वस्त्रों को सीधा कर लेते हैं । तब शुभ गीत वाद्यों के बीच संस्कार पूरा होता है ।

श्री जोध सिंह नेगी ने अपनी पुस्तक 'हिमालयन ट्रैवल्स' में दुरिंग प्रथा का विस्तृत विवरण लगभग बीस पृष्ठों में दिया है । कुछ वर्षों से इस प्रथा में सामाजिक मनोविनोद का तत्व प्रविष्ट होने लगा है । नृत्यसंगीत की जितनी प्रधानता रहती है । उतनी गीतों की नहीं । अब किसी व्यक्ति की मृत्यु के दो तीन दिनों बाद गाँव के लोग उसी घर के खेतों में नृत्य करते हैं । गाँव की युवतियों दूसरे गाँवों युवकों को रोककर उन्हें भोजन और मदिरा प्रदान करती है, और मृत व्यक्ति के घर में भी नृत्य-गायन करती हैं ।

भोटिया के लोग तीन त्योहारों में अत्यधिक रुचि लेते हैं । उस दिन वे आमोद-प्रमोद के लिए दैनिक कार्य स्थगित कर देते हैं । होली-दीपावली इनके यहाँ नहीं मनाए जाते । फाल्गुन में वसन्त-पंचमी का त्यौहार इनके यहाँ धूम-धाम से संपन्न होता है । प्रत्येक महीने पूर्णमासी को भोटिया स्त्रियाँ चंद्रमा पूजन करती हैं और एक दूसरे के घर खिचड़ी खाती हैं ।

इनका स्थानीय देवी देवताओं पर इतना विश्वास है कि उनपर औषधियों से अधिक निर्भर करती है । विभिन्न ग्रामों 'वाद रुंगस', 'पुज्यु रंस', 'साजिरंस', 'ज्युति गबला', 'स्याँग से लारें' आदि देवता प्रसिद्ध हैं । स्त्री पुरुष और बालक के गले में कोई तावीज अथवा डोरा डाले रहते हैं । सारे दाँरमाँ में दातु ग्राम का प्रसिद्ध देवता 'गबीला, या 'गवला' है । इसकी पूजा के लिए पहले गाँव का एक आदमी चुन लिया जाता है जो उस दिन व्रत रखता है । तदुपरान्त सामूहिक भोज होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दारमाँ भोटियों का जीवन और साहित्य अन्योन्याश्रित है । इस साहित्य को संर्वागीण रूप में समझने के लिए उनके सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू से परिचित होना चाहिए । साहित्य में गीतों की प्रधानता है जिनमें प्राकृतिक कारणों से एक अपूर्व मादकता है । पुरुष वर्ग जब व्यापार से लौटता है, स्त्रियाँ जब कृषि कार्य से निवृत्त होती हैं तो श्रुति सुखद गीतों की स्वर लहरियाँ शांत वातावरण में फैलने लगती हैं । आकर्षक नृत्यों के पद विन्यास दर्शकों को मुग्ध कर लेते हैं जहाँ से लोकगीतों की धारा बह निकलती है ।

गीत जिस स्थानीय भाषा में हैं वह कुमाउँनी-नैपाली-तिब्बती मिश्रित है। कुमाउँनी शब्द-विन्यास का इस पर अधिक प्रभाव अब भोटियों का तिब्बत से संपर्क कट जाने के कारण बढ़ गया है।

जन्मोत्सव से लेकर मरण तक सब संस्कारों में यहाँ गीत और नृत्य का सम्बन्ध रहता है। किसी नवजात शिशु की मंगलकामना, विवाह एवं अन्य शुभकार्यों में 'छीरा' नामक मंगलगीतों की मधुर झंकार ग्रामीण वातावरण में भर जाती है। स्त्रियाँ काँसे के बर्तनों में जलभर कर पुष्पों द्वारा अभिषेक करती हुई गीत गाती है जिसमें एक गीत का भाव इस प्रकार है—

आपके मार्ग के नीचे निर्मल जल से जलाशय सदा भरे रहें और मार्ग के ऊपर पंक्तियों वाले वृक्ष मधुर फलों से भरे रहें! पुष्पों से झुकी शाखाओं से नम्र कुंज पुष्पलता के विकसित गुच्छों की तरह आप फूलें और बंगवाफल के गुच्छे के समान फलें! नये तथा पके गेहूँ की मंगलचिह्नांकित पूरियाँ, उत्तम जौ की मदिरा आपको सुलभ हों। आपके मंगल कार्य में हमेशा दो कटोरे और जलपूर्ण मंगलघट सुशोभित रहें! आप सदा कैलाश पर्वत के समान बढ़ें तथा मानसरोवर की भाँति गंभीर हों!

प्रवास से लौटा हुआ कोई युवक अपनी प्रयसी से एक ओर धीरे-धीरे प्रियदेश की ओर चलने के लिए निवेदन करता है तो दूसरी ओर यौवन की उपेक्षा करने वाले प्रियतम को लक्ष्य करके कोई विरहिणी कहती है कि सुसज्जित पहाड़ी में पीपल की सघन छाया है जिसकी उपेक्षा करने वाले उस निर्दयी के प्रेम का क्या ठिकाना। फिर उसे सहसा ध्यान आता है कि शायद यह प्रेम की उपेक्षा नहीं है बल्कि किसी कारण यह उसकी विवशता है। वह कहती है कि सहदेई नामक वृक्ष के पत्ते ऊपर से हमेशा हरे ही जान पड़ते हैं किन्तु ऊपर से देखने पर उसके पतझड़ का कौन अनुमान कर सकता है।

नये गीतों में समाज सुधार की भावनाएँ झलकने लगी हैं जैसे कलियुग को संबोधित करके एक गीत में कहा गया है कि कोई आनंदमय जीवन बिता रहा है तो कोई कष्टमय, निर्धन परिवारों के बच्चे धनियों की भाँति व्यसनों में लिप्त रहने लगे हैं। चरित्र और इज्जत के बदले फैशन की प्रमुखता हो गई है। बच्चे बड़े बन गये हैं और बड़े छोटे हो गये हैं। वे स्वयं बैठकर वृद्धजनों से काम करवाते हैं।

इस प्रकार भोट-वासियों के गीतों पर समय की गहरी छाप पड़ रही है। उनमें गाँधी की सरकार और शेरछाप के नोटों तक की चर्चा हुई है। इनके

कुछ गीतों के विशेष नाम हैं—'वाज्यू गीत', 'तिमली' और 'तुवैड़ा गीत' 'डंडयाला गीत', 'दुसुका गीत' आदि।

'वाज्यू गीत' मंत्रों की भाँति मंद स्वर में धीरे धीरे गाए जाते हैं। ये गोलाकार नृत्य आरम्भ करते समय गाये जाते हैं। इनमें पूर्वजों की वीरता सम्बन्धी कथाएँ, देव-स्तुतियाँ, तूफान विजली जैसी प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन वातावरण का सौंदर्य जैसे विषय सम्मिलित रहते हैं। इनकी पंक्तियाँ पिता द्वारा अपने पुत्र को कंठाग्र कराई जाती हैं। इनमें स्वच्छन्द विनोद पूर्ण सरल भावनाएँ रहती हैं। वृद्ध और वयस्क समाज में ये विशेष लोकप्रिय हैं।

'तिमली' और 'तुवैड़ा गीत' प्रेम-भावना प्रधान हैं जिनमें युवावस्था का उल्लास और उत्कट प्रणय की अभिव्यक्ति होती है। ये शृंगार-प्रधान गीत हैं जिनमें स्पष्ट प्रणय निवेदन किया जाता है। यही स्पष्टता इनकी विशेषता है।

'डंड्याला गीत' मुख्यतः नृत्य गीत है जो गुजरात के 'रास-गरवा' नृत्य से मिलता जुलता है। पुरुष एवं स्त्रियाँ सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित होकर हाथों में छोटी-छोटी छड़ियाँ लेकर परस्पर बाजाते हुए गीत गाते हैं। जिनका विषय कोई घटना या देव कथा होती है।

'दुसुका' भी नृत्य गीत है जिसमें कभी एक पुरुष और एक स्त्री अथवा स्त्री और पुरुष की अलग अलग जोड़ियाँ सम्मिलित होती हैं। नर्तक अपने साथी पुरुष या स्त्री की कमर पर हाथ रखकर एक गोल घेरा बना लेते हैं। 'जुमला दुसुका' केवल दो व्यक्तियों का होता है। पुरुष नर्तक अपने कंधों पर स्त्री नर्तक को खड़ा करते हैं और दोनों टोलियाँ बारी बारी से गीत गाती हैं जिसमें प्रेम, कलह या और कोई विषय रहते हैं। अब इसमें नृत्य के स्थान पर केवल गीत रह गया है।

भोटिया गीत प्रायः नृत्यों के साथ संयुक्त रहते हैं जो वृत्ताकार होते हैं। नर्तक ही गीतकार होते हैं जो एक घेरा बनाकर बाँए से दाएँ, फिर दाएँ से वाएँ कदम रखते हुए पहले धीरे-धीरे, फिर शीघ्रता पूर्वक घूमते हैं। स्त्री-पुरुष विना किसी भेद भाव के इनमें सम्मिलित होते हैं। कुछ गीत कोरस हैं जिन्हें पुरुषों द्वारा आरम्भ करने पर स्त्रियों द्वारा दुहराया जाता है। एक समूह के गाने पर दूसरा समूह चुप रहता है और केवल नृत्य करता है। कभी पूरी टोली का नेता या अन्य प्रमुख व्यक्ति घेरे के बीचों बीच खड़े होकर ढोल बजाते हुए अंग संचालन द्वारा नर्तकों को निर्देश देता है ताल व लयैका पूर्ण ज्ञान, स्वर वैचित्र्य, नर्तकों की संतुलित गति, हलकी व तीव्र पगध्वनि, वाद्य-संगीत सारे प्रभाव को मनोहारी बनाते हैं।

इसी प्रकार के वृत्त नृत्यों की यहाँ प्रधानता है जिनमें गीत साथ साथ चलते हैं। इन गीतों की भाषा यद्यपि कुमाउँनी कही जायगी, उसमें हिन्दी के प्रयोग नगण्य हैं। स्थानीय प्रयोगों की बहुलता है जिस कारण गीतों-कथाओं के भाव प्रायः समझ में नहीं आते।

इस क्षेत्र के स्त्री और पुरुष दोनों बड़े आभूषण प्रिय हैं। इनकी वेषभूषा और आभूषण मेलों मंदिरों में विशेष आकर्षक होते हैं। स्त्री पुरुष विशुद्ध ऊनी वस्त्र पहनते हैं जिसे भोटिया स्त्रियाँ स्वयं कातती रंगती और बनाती हैं। अविवाहित लड़कियों की पोशाक में 'जुगों', जीव्यांग', 'च्यूति', 'बोक्जा', (लंबा झगुला, लम्बा दुपट्टा, बुट्टे दार टोपी, ऊनी जूता)प्रमुख हैं। विवाहित स्त्रियों के वस्त्रों में च्युंग, (ऊनी कपड़े का गाउन)' 'गेजू' (ऊनी पेटीकोट)' 'रायल्दा' (धारीदार आस्तीन), 'च्योगुला' (ऊनी कपड़े की टोपी), 'जीव्यांग' (लंबा दुपट्टा), 'बोकजा' (ऊनी जूता), 'कपसू' (ऊनी दुशाला) प्रमुख हैं।

पुरुषों की वेशभूषा सीधी-सादी है वे हाथ का बुना सफेद रंगीन, ऊनी ओवरकोट पहनते हैं जिसे 'रगा' करते हैं। नैपाली ढंग की टोपी धारण करते हैं जिसे 'छप्पा टोपूसी' कहते हैं। इसके ऊपर पगड़ी पहनी जाती है। ऊनी पट्टू का चूड़ीदार पाजामा पहनते हैं जिसे 'गजू' कहते हैं। ओवरकोट के चारों ओर कमर में सफेद कपड़े का दुपट्टा बाँधा जाता है जिसे 'जीव्यांग' कहते हैं। इस कोट के भीतर पहना जाने वाला वस्त्र वास्कट कहलाता है। सफेद मलमल की लंबी पगड़ी 'सिंल' कही जाती है।

भोटिया स्त्रियाँ गहनों की शौकीन होती हैं जो चार पाँच सेर तक भारी चाँदी के बने होते हैं। इनमें चाँदी की गले की हँसुली 'खुगंला' कहलाती है। नाक में पहनने की चौड़ी फुल्ली 'बोहरा कहलाती है जो सोने की होती है। कान में सोने के मुनड़े, 'रज्जू लाक्याप' कहे जाते हैं। चाँदी के बड़े दानों की माला 'च्युंग चौं' गले में धारण की जाती है। मूँगों के दानों की माला, जो गले में पहनी जाती है 'मैगशाल' कही जाती है। गोल चाँदी के दानों का हार 'तिलरी' कहलाता है। चमड़े की डोरी में चाँदी के रुपयों की लम्बी माला जो कंधे से पैरों तक पहुँचती है 'वलठङ्ग' कही जाती है। हाथ में पहने जाने वाले चाँदी के कड़े 'नाग' कहलाते हैं। उंगली में पहनी जाने वाली चाँदी की नग दार अंगूठी 'लाकछत्रप' कहलाती है। स्त्रियाँ माथे पर दोनों कानों तक लटकने वाली चाँदी की चौड़ी जंजीर पहनती हैं जिसे 'वजनवाली' कहते हैं।

इन आभूषणों को धारण करने वाली भोटिया स्त्रियाँ जब लोकोत्सवों में सम्मिलित होती हैं तो उनकी शोभा सचमुच सराहनीय होती है।

२. जोहार खण्ड—

इस भूभाग के निवासी भोटिया न कहे जाकर 'शौका' या 'शौकिया' कहे जाते हैं। पहले ये दारमाँ भोटियों की भाँति ही रहे होंगे किन्तु अब रहन-सहन एवं प्रथाओं में परिवर्तन हो जाने से कुछ भिन्न हो गए हैं।

कुमाऊँ के दक्षिणी भागों से इनका अधिक संपर्क है, शिक्षा का अधिक प्रचार है और इनकी सामाजिक स्थिति अपेक्षाकृत ऊँची है अपने पूर्वी भोट भाइयों की तुलना में ये समृद्ध हैं। रीति-रिवाज, प्रथा परंपराओं एवं बोलचाल में कुमाऊँ के अन्य वर्गों के निकट हैं। तथा पूर्वी भोटियों से अपने को पृथक भी समझते हैं। जोहार के दक्षिण में इन्हें 'जेठौरा भोटिया' कहते हैं जो व्यापारी न होकर कृषक अधिक हैं। ये अपने को यहाँ का प्रथम निवासी मानकर भोटियों से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं।

पूर्वी भोटियों की अपेक्षा जोहरीं भोटियों के समाज में ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों का अधिक प्रभाव स्पष्ट है। इनकी स्त्रियों को समाज में ब्राह्मणों के स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। वैसे ये लोग भी घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं और तीन चरणों में अपने निवास स्थान बदलते हैं। दीपावली के उपरान्त दक्षिणाभिमुख यात्राओं में पहले लद्दू जानवर, और व्यापारी चलते हैं। तीसरी बार अन्य चरने वाले पशु एवं घर के बड़े बूढ़े लोग जाते हैं।

यहाँ के साहित्य में उन 'बुग्यालों' का वर्णन है जो इनके चरागाह हैं। ये जाड़ों में हिम से ढक जाते हैं। धाकुरी और रोकङ्ग साई के चरागाह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मिलम और दानपुर के ऊपरी भागों में स्थित चरागाह भी काम आते हैं। इनके ग्रीष्म कालीन स्थान मिलम मरतोली, बुरफू आदि हैं और शीतकालीन स्थान तेजम्, थल, सोबला आदि हैं।

यहाँ ग्रीष्म ऋतु बहुत छोटी होती है, शीतऋतु बहुत लम्बी होती है। अब यातायात की सुविधा के कारण मैदानी व्यापारी सीधे बागेश्वर थल के मेलों तक पहुँचने लगे हैं जिस कारण जोहारी व्यापारियों की स्थिति कमजोर हो गई है।

जोहार क्षेत्र हिमालय, गढ़वाल, दरमाँ और दानपुर से घिरा हुआ है। इसकी तीन पट्टियाँ हैं—मल्ला जोहार, तल्ला जोहार और गोरीफाट जहाँ लोक साहित्य की सामग्री बिखरी पड़ी है।

गोरी नदी की दायीं ओर ढका पहाड़ प्राचीन ग्रंथों में 'जीवार' कहा गया है जिसके आधार पर कहते हैं कि इस क्षेत्र का नाम जोहार पड़ गया। ये

लोग अपने देश को बहुत बड़ा मानते हैं। इनके गीतों में ऊँटा धुरा, नंदा देवी, त्रिशूल आदि पर्वत शिखरों का, बुर्फू गंगा, मिर तोली गंगा, आदि नदियों का प्रायः उल्लेख मिलता है। प्रत्येक नदी के साथ गंगा नाम जोड़ देना केवल जोहार की नहीं अपितु संपूर्ण कुमाऊँ की विशेषता है। जिन विशेष स्थानों से होकर नदी बहती है, उसी का नाम गंगा शब्द के पहले जोड़ देते हैं।

जोहार में प्रचलित दन्तकथाएँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं। एक प्रकार की ग्राम्य देवी देवता सम्बन्धी कथाएँ हैं। नंदा देवी प्रत्येक गाँव में स्थापित हैं जहाँ उसकी कथा किसी स्थानीय रूपान्तर सहित प्रचलित है। 'साईं' और 'रागा' यहाँ के प्रमुख ग्राम देवता हैं। इन दोनों में 'साईं' की कथाएँ अधिक व्यापक हैं जिसका कारण यह कहा जाता है कि एक बार मिलम वालों पर शत्रु ने चढ़ाई की। लोग बेखबर पड़े हुए थे। 'साईं देवता ने ऊँची आवाज से पुकारा —मिलम वालो भागो, शत्रु चढ़ आया है।' यह सुनकर सभी शौकिये अपना सामान और धन छिपाकर भाग गए। इस प्रकार उनकी सुरक्षा हुई। तबसे इस देवता की अधिक प्रतिष्ठा है। अन्य देवस्थानों की अपेक्षा यहाँ एक बकरा अधिक चढ़ाया जाता है।

दूसरे प्रकार की कथाएँ जाति वंश सम्बन्धी हैं। जिस प्रकार दारमाँ क्षेत्र में 'घ्याँकी वंश वाले भोटियों की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा प्रचलित है उसी प्रकार जोहार की ओर दो दलीय नेताओं हल्दुआ-बिंगलुआ की कथाएँ प्रचलित हैं जिनके आधार पर अनेक स्थानों के नाम पड़े हुए हैं। कहते हैं कि शाकिया लामा की पूजा करते रहने के कारण इन लोगों का नाम शौका पड़ गया। ऊँटाधुरा, मिलम जैसे नाम पड़ने के कारण, इसी कथा से जोड़े जाते हैं। यही दन्तकथाएं जंग पांगी लोगों का सम्बन्ध नाग वंश के साथ जोड़ती हैं।

तीसरे प्रकार की कथाएँ व्यापारियों, अथवा यात्रियों से सम्बन्ध रखती हैं जिनमें प्राचीन-नवीन का मिश्रण होना स्वाभाविक है। लाभहानि अथवा मार्ग की भयंकरता का वर्णन इन कथाओं में होता है।

चौथे प्रकार की कथाओं में काल्पनिक कथाएँ, परिगणित होती हैं जिनमें नदियों की उत्पत्ति, डफिया, मुनाला आदि। स्थानीय पक्षियों की कथाएँ बरड़, बरीजया, थड़वा बाघ आदि जानवरों के किस्से सम्मिलित हैं। इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य बालकों का मनोरंजन करना है। इनके सहारे शीत-प्रधान रात्रियाँ सरलता से बीत जाती हैं।

इनकी कहावतों में स्थानीय भावनाओं की विशेष अभिव्यक्ति होती है। एक कहावत है—'आधा संसार, आधा मुस्यार', अर्थात् ये अपने निवास-स्थान

को इतना श्रेष्ठ व बड़ा मानते हैं कि कहावत के अनुसार ईश्वर ने सारी सृष्टि के आधे भाग में तो मुस्यार-जोहार के गाँव बासाये और आधे भाग में शेष संसार बसाया। यह स्थान विशेष के प्रति उनकी श्रद्धा पूर्ण उक्ति है।

एक दूसरी कहावत है 'मुंस्यारी को जसो बल्द' अर्थात् शरीर से हृष्ट पुष्ट, स्फूर्तिमय और कठोर श्रम कर सकने वाला प्राणी किन्तु बुद्धि से कुछ हीन। स्पष्टतः यह उनके जीवन की आलोचना है। इनके गीत संस्कारों और त्योहारों से सम्बन्ध होते हुए भी समकालीन समाज की स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं।

भेड़ बकरियों को दिन भर जंगल में चराने के पश्चात् शाम को घर लौटना इनके दैनंदिन जीवन का एक सामान्य पक्ष है। कहीं इनके जीवन का उल्लास संध्या कालीन बादलों को देखकर छलक पड़ता है। बिल झाड़ी के छोटे पेड़ों से गुजरते हुए जब किसी टीले से कोई गड़रिया मस्त होकर तान छेड़ता है तो उसकी गूंज दूर घाटियों तक फैल जाती है। दूसरा गड़रिया या कोई अन्य व्यक्ति गीत में ही उसे उत्तर देता है। उत्तर-प्रत्युत्तर का यह क्रम गीतों को रोचक बनाता है।

जैसे एक गीत में जीजा और साली का वार्तालाप वर्णित है। जीजा कहता है कि मैं मार्ग शीर्ष (नवम्बर) के महीने देश चला जाऊँगा। और चैत्र (मार्च) के महीने लौटूंगा हे सूरमा ! कब होगी। घाटी के उस पार से साली उत्तर देती है हे जयसिंह ! तुम मेरे बहनोई हो, चम्पा चोरडी लताओं के बीच तुमसे भेंट होगी किन्तु देश जाकर तुम क्या लाओगे ? जीजा उत्तर देता है कि तुम्हारे लिये पैरों के नूपुर और का गोखर लाऊँगा।

यह शैली न केवल गीतों को आकर्षक बनाती है बल्कि स्त्री पुरुषों को जीवन की विषमता सहने की क्षमता प्रदान करती है।

सामूहिक नृत्य गीतों में यहाँ 'चाँचरी' का बड़ा प्रचार है। दिन भर के श्रम की थकान उतारने का यह एक मनोरंजक माध्यम है। एक प्रकार से यदि कहा जावे कि जोहार के लोक जीवन की सर्वाधिक अभिव्यक्ति 'चाँचरी' के माध्यम से होती है तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इसमें नर्तकों की संख्या निश्चित नहीं होती। छः सात से लेकर सौ, दो सौ और तीन सौ तक व्यक्ति इस नृत्यगीत में एकत्र हो जाते हैं। इसके द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समूह की भावनाएँ अभिव्यक्ति होती हैं। किसी भी मेले या उत्सव में, वर्ष के किसी महीने में जहाँ कहीं समतल भूमि मिली 'चाँचरी'

आरंभ हो गई। फिर चाहे वसंत ऋतु का आगमन हो, पावस की झाड़ियों में नाग पंचमी का दिन हो, माघ के महीने उत्तरायणी की ठंड हो—जहाँ किसी उन्मुक्त हृदय गायक ने हुड़के पर थाप मारी, वहीं पाँच-दस साथियों ने उसी को घेर कर एक दूसरे की बाँह थामकर वृत्त बनाया और नाचना आरंभ कर दिया।

गायक स्त्री पुरुष स्वतः दो दलों में बँट जाते हैं। पुरुषों द्वारा गीत आरंभ होकर स्त्रियों द्वारा दुहराया जाता है। गीत के साथ संगीत व नृत्य का सबंध कितना घनिष्ट है इसे इनके 'चाचरी' गीत प्रमाणित करते हैं। ये नर्तक नृत्य-संगीत में प्रशिक्षित न होने पर भी स्वरों के उतार-चढ़ाव में कोई त्रुटि नहीं करते। एक दल के थक जाने पर दूसरे दल के गायक उनका स्थान ग्रहण करते हैं और 'चाचरी' का क्रम पुनः आरंभ होता है। कभी तो दिन भर और रात भर चाँचरी का अनवरत क्रम चलता है।

इस भूभाग में ऋतु संबंधी गीत विशेष उल्लेखनीय है जो कोलाहलपूर्ण जीवन से एक दम दूर रहने वाले नर नारियों की सहज कल्पनाओं का प्रकाशन करते हैं। उनके धार्मिक गीतों में सहज रूप से ही ये प्रश्न पूछा जाता है कि किसने ये नौखंडी भवन बनाए हैं। किसने ये उद्यान बनाए हैं? फिर उत्तर दिया जाता है कि ईश्वर ने ही यह सारा संसार बनाया है! वही सृजनकर्त्ता और नाशकर्त्ता है। ऐसे परम पिता के प्रति लाखों शुभकामनाएँ अर्पित हैं!

जोहार में विरह गीतों का विशिष्ट स्थान है। पति के वियोग में पत्नी का कष्ट 'मैतुरा देश' शीर्षक एक प्रसिद्ध लोक गीत में व्यंजित हुआ है। विरहणी स्वयं मायके नहीं जा सकती तो सामने पड़े हुए कोहरे से दूर हट जाने की प्रार्थना करती है ताकि यह मायके की दिशा देखकर ही संतोष कर ले।

इनके त्योहार विषयक गीत चरम उल्लास के द्योतक हैं। प्रत्येक त्योहार साल भर में अपने क्रम से एक बार घूमकर आता है इसलिये उस समय की प्रकृति लोगों के साथ हँस-बोल लेती है। जब मासी का फूल खिलता है तो प्रचलित रीति के अनुसार उसे सर्वप्रथम देवी के मंदिर में चढ़ाना चाहिये। अतः स्त्री-पुरुष उसे जंगल से बटोरकर गीत गाते हुए मंदिर में ले जाते हैं।

जोहार के संस्कार गीत कुमाऊँ के अन्य भागों से मिलते-जुलते हैं। जन्मोत्सव, विवाह आदि संबंधी प्रथाएँ प्रायः समान रूप से मानी जाती हैं अतः उनमें व्यक्त भावनाओं में समानता है। नामकरण के समय अच्छे नाम के स्थान पर भद्दा नाम रखते हैं। ताकि लोक विश्वास के अनुसार वह दीर्घायु हो। लड़की की नाक नामकरण के दिन ही छेदी जाती हैं। लगातार तीन पुत्र होने

के उपरान्त चौथा पुत्र उत्पन्न होने पर पिता एक बकरी काटता है जिसे सारे गाँव को खिलाया जाता है ।

तत्संबंधी लोकगीतों में प्रकृति के धनधान्य की विशेष चर्चा होती है । इनमें मंगल घट की स्थापना, एवं सरसों का फूलना शुभ संकेत माने जाते हैं । कुछ गीत झाली-माली देवी और बद्रीनाथ को संबोधित कर गाये जाते हैं । ज्ञात होगा कि ये स्थानीय देवताओं के अतिरिक्त पौराणिक देवताओं की पूजा भी करते हैं ।

नृत्य गीतों में 'चाँचरी' का एक अन्य रूप 'झोड़ा प्रचलित है जो सुविधा नुसार किसी उल्लासपूर्ण अवसर पर आयोजित किया जा सकता है । 'चौंफुली' एक अन्य गीत है जिसमें हाथों को परस्पर मिलाकर ताली बजाई जाती है । यह वस्तुतः गढ़वाली गीत है जो दानपुर से होकर अब जोहार बासियों में प्रचलित हो गया है । 'चाखुली माखुली' नामक ग्रामीणों के कुछ अन्य प्रेम-गीत हैं जिनमें अभिव्यंजना की सरलता, प्रेम की उद्दाम भावना और आवेश दृष्टिगत होते हैं ।

जोहार के 'शौक' लोगों में भोटियों की 'राँग बाँग जैसी कोई प्रथा प्रचलित नहीं है। इनके छठी नामकरण और व्रतबंध जैसे सभी संस्कार प्रायः हिंदू धर्म के अनुसार होते हैं जिन्हें ब्राह्मण पुरोहित संपन्न कराते हैं । पहले खानपान तथा विवाह आदि में स्वतंत्र होने के कारण, तथा तिब्बतियों के साथ भोजन करने के कारण कट्टर धर्मी लोग इनके हाथ का पानी पीने में संकोच करते थे । किन्तु अब इनकी स्थिति बदल गई है विद्या, व्यवसाय और सभ्यता में उन्नति करने के कारण अब ये कुमाउँनी समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति बन गए हैं ।

इधर पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप दरिद्रता निवारण, काँग्रेस राज्य एवं वोट देने की प्रथा जैसे विषयों पर सम सामयिक लोक गायकों की दृष्टि है, और भूमि सुधार एवं नवीन प्रणाली के नापतोल जैसे विषय भी उनकी दृष्टि से उपेक्षित नहीं रहे हैं ।

इन लोक गीतों की शब्दावली कुमाऊँनी है जिसमें कठिनाई से दस प्रतिशत शब्द स्थानीय होंगे । 'बुंग' (गधा), पा (तरकारी) 'कलपा' (रोटी), 'हुआ' (दूध) 'अचरा' (जोगी), 'रवीं' (कुत्ता), 'उमजे' (ब्राह्मण) जैसे कुछ शब्द न तो हिन्दी के हैं और न कुमाऊँनी शब्द भंडार में सम्मिलित हैं । संभव है कि ऐसे कुछ प्रयोग इन्होंने तिब्बत या भोट से ग्रहण किये हों ।

अब तो इनकी बोलचाल और साहित्य में हिन्दी कुमाऊँनी शब्दों की संख्या बढ़ती जा रही है।

३. असकोट खंड

आजकल के राजी लोग कुमाऊँ में कत्यूरी राजाओं के वंशज हैं। कत्यूरी राज्य का विघटन होने पर उनकी एक शाखा इधर बस गई थी। 'राजी' शब्द का अर्थ स्थानीय बोलचाल में जंगल का निवासी होता है। अठकिंसन ने इन्हें पौराणिक राजकिरातों से संबद्ध किया है। अपना राज- वंशी होना ये लोग कभी नहीं भूलते। इनमें मूर्तिपूजा का विधान नहीं है, केवल नंदा देवी त्योहार को छोड़कर न तो किसी हिन्दू त्योहार को मानते हैं और न उनके देवी-देवताओं को मान्यता देते हैं।

असकोट पहले डोटी (नैपाल) में सम्मिलित था। अभी तक मल्ला अस-कोट डोटी लोगों से बसा हुआ है। अतः रहन-सहन, गीत, भाषा आदि में डोटी नैपाल का प्रत्यक्ष प्रभाव है। ऊँचे पहाड़ों में और 'राची', जुमा, कनार आदि गावों तक अब ये आदि निवासी सीमित रह गए हैं जिनकी विचित्र प्रथाएँ दर्शकों को आश्चर्य में डाल देती हैं। इन लोगों की संख्या धीरे-धीरे घट रही है।

ये लोग जंगली वृक्षों की छाल को वस्त्र की भाँति लपेट लेते हैं और सारी प्रकृति को देवता मानते हैं। वह प्रकृति-पूजा एनिमिज्म का विशिष्ट रूप है। एक ओर ये श्मशान के भूतों को पूजते हैं, दूसरी ओर महादेव, देवी और गंगा को मानते हैं। निम्नवर्गीय शिल्पकार उनके लिये अस्पृश्य हैं।

पहले जब अछूत लोग राजियों के घर भीतर घुस जाते थे तो ये कई स्थानों से पानी लाकर घर लीपते थे और अपने बरतनों को धोकर सुखाते थे। नगर तथा गाँव के आदमियों से अपनी स्त्रियों का परदा रखते थे। बालटन ने अपने अल्मोड़ा गाजेटियर में इनके रीति रिवाजों की विसृत चर्चा की है।

राजी लोगों का साहित्य विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। मेलों-त्योहारों के अवसर पर जो इनकी नृत्य गीतात्मक रचनाएँ सुनायी पड़ती हैं उनकी भाषा अधिकतर समझ में नहीं आती। छिपुला देवता के संबंध में यहाँ अनेक रोचक कथाएँ कही जाती हैं। नाजुरकोट पर्वत की एक बड़ी गुफा में प्रत्येक तीसरे वर्ष इस देवता के स्मृति स्वरूप एक भारी मेला लगता है। चंपाचल पहाड़ में मल्लिकार्जुन महादेव की पूजा होती है जिसकी कथाएँ भी प्रचलित हैं।

अपने प्राचीन वंश व इतिहास के विषय में पूछने पर ये लोग प्रायः एक परंपरा का उल्लेख करते हैं कि संसार के राजा बनने का अधिकार उन्हीं का था क्योंकि उसके पूर्वज संसार के राजाओं व क्षत्रिओं के सगे बड़े भाई

थे। जब दुनियाँ बनी तो उस समय दो भाई राजपूत थे। बड़े भाई को शिकार खेलने का शौक था इसलिये वह जंगलों में रहने लगा। छोटे भाई को राज्य मिल गया। राज्य में स्थिर होने पर छोटे भाई ने बड़े भाई से कहा कि चूंकि उन्हें शिकार का शौक है वे अपने को जंगल का स्वामी समझें। तब से बड़ा भाई जंगल में ही रहने लगा और अपने को राजी कहने लगा। उसकी संताने जंगल में रहकर फलफूल व कंदमूल खाकर गुजर करने लगीं।

राजियों की एक अन्य प्राचीन कथा राजा वेन के पौराणिक आख्यान से मिलती जुलती है वह चंदवंशी सम्राट था और वेदशास्त्रों का विरोधी था।

राजियों के गीत नृत्य अधिकतर जौल जीवी के मेले में सुने जाते हैं जो इस क्षेत्र का ही नहीं बल्कि कुमाऊँ—तिब्बती सीमान्त का सबसे बड़ा व्यापारिक मेला है। यह मेला सर्वप्रथम सन् १६१४ में आरंभ हुआ। यहाँ पर नैपाल, असकोट, जोहर और दारमाँ चार मुख्य स्थानों को जाने वाले मार्ग मिलते हैं।

नृत्य-गीतों में चाँचरी के स्थान पर नैपाली वृत्त नृत्यों (रिंघड़ांस) तथा भोटिया नृत्यों की प्रधानता मिलती है जिसमें स्त्री पुरुष संगीत की लय के अनुसार घड़ी की सुइयों के क्रम में गोलाकार घूमते हैं। यहाँ हुड़का वाद्य कम प्रचलित है और रात्रिकालीन समारोह कम होते हैं। दिन के मेले अधिक दर्शनीय हैं। इनकी वेशभूषा और रीति रिवाजों में अन्य स्थानों की अपेक्षा पर्याप्त अंतर है।

राजी लोगों के शासक रजवार कहलाते हैं जो अपनी उत्पत्ति दो प्रकार से बतलाते हैं राज+बर=रजवार अर्थात राजाओं में श्रेष्ठ होने के कारण अथवा राज+बारह अर्थात् बारह राजाओं में एक होने के कारण उस समय जो कत्यूरी,चंद, गल्ला खस, बम, मणकोटी वंश राज्य करते थे उन्हीं में से एक रजवार कहे गये जिनकी शाखा असकोट में रजवार कही गई है। इन्हीं की एक शाखा बन रौत लोगों की है जिनकी भाषा कुमाऊँनी से भिन्न है। डा० शोभाराम शर्मा ने इनकी भाषा का अलग अध्ययन किया है। सामान्य शब्दों के अतिरिक्त इनकी बोली में गिनती और दिनों के नाम पृथक हैं।

उत्तरी क्षेत्र के लोक समारोहों में जो वाद्य प्रयुक्त होते हैं उनमें पर्याप्त विविधता लक्षित होती है। दारमाँ—जोहार की ओर बड़े नगाड़े, दमुआ और 'झाँझ' मुख्य वाद्य हैं। दुरुँग के अवसर पर तुरुही जैसा लंबा बाजा 'भोकर कहा जाता है। आजकल आधुनिक वाद्य ढोलक मजीरा, चिमटा और करताल प्रयुक्त होने लगे हैं। यद्यपि विशेष अवसरों पर प्राचीन वाद्य ही प्रयुक्त होते हैं।

जोहारी क्षेत्र में पुरुष बाँसुरी तथा मुरली का अधिक प्रयोग करते हैं। स्त्रियाँ विर्णाइँ नामक तार का बाजा बजाती हैं एक बाँस का छिद्रयुक्त वाद्य बाँसुरी कहलाता है और दो बाँसों का जुड़ा हुआ वाद्य मुरली अथवा जौल मुरली कहलाता है। 'विणाई' में एक छोटा सा तार होता है जिसका एक सिरा लोहे या लकड़ी में बाँध देते हैं। इसे होठों के बीच में रखकर जब उंगली से तार का दूसरा सिरा बजाया जाता है तो उससे मधुर झनझनाता हुआ स्वर निकलता है दूरस्थ गांवों में युवक-युवतियां इन लोक वाद्यों का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग करते हैं।

६. मध्यवर्ती कुमाऊँनी क्षेत्र

कुमाऊँनी लोक-साहित्य का मध्यवर्ती भूभाग सर्वाधिक विस्तृत और समृद्ध है जहां इसके विविध रूप मूल और शुद्ध रूप में प्राप्त होते हैं। यदि कहा जाय कि मध्यवर्ती क्षेत्र की सांमग्री ही संपूर्ण कुमाऊँनी क्षेत्र की उपयुक्त आधार शिला है तो अत्युक्ति नहीं होगी। यही कुमाऊँनी लोक-साहित्य का केन्द्रवर्ती अंश है।

इसे तीन प्रमुख खंडों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) उत्तर मध्यवर्ती खंड में दानपुर, गंगोली, सोर, शीरा आदि भाग सम्मिलित है;

(२) मध्यवर्ती खंड में पाली पछाऊँ, बारा मंडल और काली कुमाऊँ के तीन मुख्य भाग सम्मिलित हैं;

(३) दक्षिण मध्यवर्ती खंड में जिला नैनीताल के पर्वतीय भाग वाले निवासियों की मनोरंजन प्रधान साहित्यिक सामग्री है जो नैनीताल, भीमताल, पहाड़ कोटा में प्रचलित है।

१. उत्तर मध्यवर्ती खंड-

दानपुर पिंडारी-असकोट वाली रेखा इसे उत्तरी क्षेत्र से अलग करती है। दानपुर का भाग प्राकृतिक सौंदर्य तथा अपने विशाल हरे भरे मैंदानों के लिये प्रसिद्ध हैं। विश्वप्रसिद्ध पिंडारी ग्लेशियर इसी भाग में है। स्थानीय लोक गीतों में डफी, लुंगा और मुन्याल (हमालयी मोर) पक्षियों का विशेष उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त कौतेला, धाकुरी, किलटोप और लोधुरा शिखरों का एवं नामिक लमतारा जंगलों का नाम मिलता है। दानपुर के संबंध में अनेक किंवदंतियों तथा जन श्रुतियाँ प्रचलित हैं।

स्थानीय नृत्य गीतों में 'चांचरी' अत्यन्त लोकप्रिय है जिसके विविध रूपान्तर नीचे कत्यूर घाटी तक प्रदर्शित किये जाते हैं। यहां के मूलनिवासी अपने को 'दाणू' अर्थात दानव-देवताओं की सन्तान कहते हैं। कथाओं में कुछ गाँवों का संबंध पौराणिक दानवों के साथ स्थापित किया जाता है। नंदा देवी पर्वत के पश्चिम एक स्थान कौवालेख है जहाँ कौओं के लाखों पर पड़े रहते हैं। विश्वास है कि यहाँ मृत्यु होने पर आत्मा वैकुंठ चली जाती है। बधियाकोट

में नंदा देवी की जो कथाएँ सुनी जाती हैं उनसे ज्ञात होता है कि देवी के बद्री नाथ से आते समय यह पहला विश्राम-स्थल था।

स्थानीय ग्राम देवताओं की कथाओं में नंदा देवी के अतिरिक्त मुलेणा अर्थात् मूलनारायण की कथाएँ मिलती हैं। कुछ भूत-प्रेत व देवता जो दाणू कहे जाते हैं वे लाल दाणू, धामसिंह दाणू, बीरसिंह दाणू आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। दानपुर वीर पुरुषों की गीत—कथाओं के लिये प्रसिद्ध है। जिन्हें कुमाउँनी में 'भड़ो' कहते हैं। जो वीर पुरुष अपने कृत्यों से प्रसिद्ध हो कर जन साधारण को प्रेरणा देने वाले बने वे मृत्यु के उपरान्त ग्राम-देवताओं के रुप में पूजे जाने लगे।

कुछ स्थान पौराणिक अनुश्रुतियों से संबंध रखते हैं जैसे शंभुगढ़ को शुंभ निशुंभ नामक दैत्यों से जोड़ा जाता है' जिन्हें शिला तोड़कर देवी ने मारा था। एक स्थान पांडुशिला है जहाँ पाण्डवों के पदचिन्ह कहे जाते हैं। एक स्थान पर अर्जुन ने पृथ्वी में वाण मारकर पृथ्वी से ठंडा पानी निकाला था, उसे अब पिंडर पार्णा कहते हैं।

दानपुर का सबसे अंतिम गाँव भुनी है जिसके विषय में यह लोकोक्ति प्रचलित है—

नड़ माथी माँसुनै, भुनि माथी गौं ने''

अर्थात् जिस प्रकार नाखून के ऊपर मांस नहीं होता उसी प्रकार भुनि गाँव के आगे और कोई गाँव नहीं है।

इधर प्रचलित दन्तकथाओं, आख्यानों को देखने से ज्ञात होगा कि ये अधिकतर पौराणिक हैं। 'महाभारत' की घटनाओं से इनका अधिक संबंध है।

प्रसिद्ध कत्यूर घाटी इसी भूभाग में सम्मिलित की जा सकती है। यह घाटी कपकोट से लेकर, बागेश्वर, गरुड़ और शोमेश्वर तक, और पश्चिम की ओर चौखुटिया गगाई तक जुड़ी हुई है। इतिहास की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण घाटी है क्योंकि कुमाऊँ का प्रथम कत्यूरीवंश यहीं शासन करता था। इस वंश की स्थापित मूर्तियाँ अभी तक बागेश्वर-बैजनाथ-द्वाराहाट आदि पर मिलती हैं जिनकी कलागत विशेषतओं का विवेचन होना अभी शेष है। यह स्वाभाविक है कि स्थानीय दन्तकथाओं का संबंध कत्यूरी शासकों से अधिक है।

कुमाऊँ का प्राचीन कत्यूरी जागर, जियारानी का जागर-इसी भाग में लगता है। धामदेव और बिरम देव की प्रसिद्ध वीर-कथाएँ मूलतः इसी भाग

की हैं। जो कत्यूरी राजवंशी थे। इनकी लंबीं-लंबी कथाएँ मूलतः वर्षाऋतु में धान वोते समय गाई जाती हैं जिन्हें हुड़किया बौल कहते हैं। हरज्यू सैम और नृसिंह लोक देवताओं के जागर इसी भाग में दूर दूर तक प्रचलित हैं।

कुमाऊँ का सर्वाधिक चर्चित लोक महाकाव्य मालूशाही मूलतः इसी भाग से संबंध रखता है जिसमें राजुला सौक्याणी और द्वाराहाट के राजा मालूसाही की रोमांचक प्रेमगाथा वर्णित है। इस महाकाव्य के चार पांच रूपान्तरों का पता लगा है जिनमें सबसे प्राचीन, व्यापक और पूर्ण कत्यूरी रूपान्तर है।

'यहाँ' बागेश्वर का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है जो प्राचीन काल से न केवल धर्म का बल्कि व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ प्रतिवर्ष उत्तरायणी के अवसर पर चाँचरी के विविध रूप प्रदर्शित होते हैं। कार्त्तिक पूर्णिमा, गंगा दशहरा, तथा शिवरात्रि के अवसरों पर मेले जुड़ते हैं जिनमें सैकड़ों व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। यहाँ के लोक-गीतों में कभी ऐतिहासिक महत्व की सामग्री मिलती है और लोक-कथाओं में निश्चित रूप से पूरे राजवंश का वैभव वर्णित किया जाता है जिसे लोकगायक अपनी सुविधानुसार घटा बढ़ाकर गाते हैं।

यहाँ नाकुरी नामक स्थान प्राचीन नागवंश का केन्द्र कहा जाता है जिसके सम्बन्ध में शिवशक्ति सम्बन्धी कथाएं प्रचलित हैं। इन कथाओं की पृष्ठ भूमि सरयू-गोमती नदियों की घाटियों द्वारा निर्मित हुई है जिनमें शैव धर्म का व्यापक प्रभाव है। बागेश्वर नाम पड़ने के सम्बन्ध में ही दो प्रकार की कथाएँ हैं। एक कथा के अनुसार पार्वती-महादेव जब यहाँ निवास करने के लिये आये तो आकाशवासी देवताओं ने उनकी प्रशंसा की। इसलिये स्थान का नाम वाक्+ईश्वर=बागीश्वर पड़ गया।

दूसरी कथा ऋषि मार्कंडेय सम्बन्धी है। शिव जी बाघ का रूप धारण कर पार्वती रूपी गाय पर झपटे। मार्कण्डेय ऋषि जब गाय की रक्षा के लिये उठे तो सरयू नदी के आगे बढ़ने का रास्ता मिल गया। ऋषि ने रहस्य ज्ञात होने पर शिव-पार्वती की स्तुति की। और कहा कि आपका एक नाम व्याघ्रेश्वर भी है। इसलिये स्थान का नाम बागेश्वर पड़ गया।

दानपुर में इसी प्रकार के आख्यान अन्य स्थानीय नामों के नामकरण के विषय में प्रचलित हैं। स्थानीय नामों (प्लेस नेम्स) की व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह भूभाग अत्यन्त समृद्ध है। रामगंगा,, दूनागिरि, कोसी, दानपुर, पाताल भुवनेश्वर आदि स्थानों के विषय में जो अनेक रोचक किंवदंतियाँ मिलती हैं वे सब इसी भूभाग से संबंध रखते हैं। उदाहरणार्थ, नागों के नाम पर

नागपुरी > नाकुरी की व्युत्पत्ति बताई जाती है। दानपुर में नाग मंदिरों की संख्या भी अधिक है।

नाग देवता सम्बन्धी अन्यकथाएँ यहाँ प्रचलित हैं, जिनके नाम पर काली नाग, वेणीनाग, पिंगल नाग, धौल नाग, फेनी नाग, खरहरी नाग, अठगुली नाग आदि स्थान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण द्वारा कालीनाग के मंथन की पौराणिक कथा इस भूभाग की ओर मोड़ ली गई है।

पुराणों के अनुसार काली नाग को श्रीकृष्ण ने रमणक द्वीप में चले जाने का आदेश दिया था। यह रमणक द्वीप कहाँ था, यह तो ज्ञात नहीं हैं किंतु निस्कासन के उपरान्त दंत कथाओं के अनुसार कालीनाग का निवास स्थान दानपुर का यही भूभाग माना जाता है। उसी के साथ उसके मित्र धौलीनाग, पिंगलनाग यहाँ आकर बस गये। गढ़वाल में सेम-मुखेम नामक धार्मिक स्थान श्रीकृष्ण से सम्बद्ध किया जाता है। कहते हैं कि जब द्वारिका में श्रीकृष्ण का मन ऊब गया तो वे गढ़वाल के सेम-मुखेम स्थान में आकर बस गये। वहाँ का सामन्त गंगू रमौला था जिसका पुत्र सिदुवा कृष्ण का सहायक बना। सिदुवा की बहिन से कृष्ण ने विवाह कर लिया।

यदि इस प्रकार के पौराणिक वृत्तान्त सही हैं, जैसा कि 'महाभारत' की कथाएं सिद्ध करती हैं, तो दानपुर की ओर प्रचलित, पौराणिक वृत्तान्तों का ऐतिहासिक आधार समझा जा सकता है। दानपुर का क्षेत्र गढ़वाल से लगा हुआ है, इसलिये महाभारत संबंधी कथाएँ गढ़वाल से लेकर यहाँ तक फैल गई हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

गंगोली

पाताल भुवनेश्वर संबंधी दन्त कथाओं में शैव-शाक्त वैष्णव तीनों मान्यताएँ घुली-मिली हैं यहाँ के मंदिरों में शिव-पार्वती, देवी जगदम्बा और भगवान विष्णु की मूर्तियाँ साथ-साथ बनी हुई हैं। पाताल भुवनेश्वर गंगोली हाट से पाँच छः मील उत्तर पूर्व की ओर रमणीय स्थान है जहाँ से एक प्राचीन गुफा किंवदंती के अनुसार सेतुबंध रामेश्वर तक चली जाती है। इसके बाहर की ओर ऐरावत हाथी की प्रस्तर आकृति हैं, विश्वास है कि सतयुग आने पर यह हाथी जीवित हो उठेगा। मंदिर के आँगन में हनुमान की एक मूर्त्ति इस प्रकार स्थापित की गई है कि उनका खुला हुआ मुंह दक्षिण की ओर है बाएँ पैर से राक्षस दबा हुआ है, पूंछ सिर के ऊपर उठी हुई है। दायीं ओर कटार है, कानों में अलंकार और गले में माला है।

कहते हैं कि यह मूर्त्ति उस कथानक की प्रतीक है जब अहिरावण ने अंतिम बार राम लक्ष्मण से अपने इष्ट मित्रों का स्मरण कर लेने को कहा था। राम ने जब हनुमान का स्मरण किया तो उन्होंने विशाल रूप धारण कर राक्षस

को मार डाला। कहते हैं कि पाताल भुवनेश्वर में शिव पार्वती जुआ खेलते थे। मान्यता के अनुसार इस गुफा के दर्शन से ब्रह्महत्या—गौ हत्या के पाप मिट जाते हैं और समस्त तीर्थ यात्राओं का फल प्राप्त हो जाता है।

स्थानीय लोक-कथाओं में मणिकोटी राजाओं के वर्णन प्रमुख हैं जो संभवतः नैपाली वंश के थे। कुछ वर्षों तक उन्होंने गंगोली के आस-पास शासन किया था। गंगोली का निकटवर्ती भूभाग ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। रामगंगा और सरयू दो नदियों के बीच बसे होने के कारण इसे 'गंगावली' कहा गया जो फिर गंगोली हो गया। दो नदियों के बीच होने के कारण यहाँ का साहित्य पश्चिम में दानपुर से और पूर्व में शोर, शीरा से कुछ विशिष्टता रखता है।

संस्कृत के विद्वानों का केन्द्र होने के कारण यहाँ संस्कृत की हस्त लिखित सामग्री प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। जातीय दृष्टि से कुमाऊँ के श्रेष्ठ ब्राह्मण पंत लोगों का यह प्राचीन केन्द्र रहा है जिनका स्थानीय समाज और राजनीति पर बहुत प्रभाव रहा। इसी प्रभाव को देखकर अठकिंसन ने अपने गजेटियर में लिखा था—

"दीज वेरी पंन्स हू वेयर आलवेज, एण्ड आइ सपोज ऑलवेज विल बी डिस्टिंगुइज्ड बाई देयर टेलेंट फॉर इंट्रीग इट वॉज दिस स्पिरिट ऑफ इंट्रीग दैट लेड दी पंत पार्टी इन गंगोली टु सो डिस्टर्ब दी पीस ऑफ कंट्री इन देयर एफर्टस टु डिस्ट्रॉय उप्रेतीज, दैट राजा वाज ओब्लाइज्ड टु इंटरफीयर (हिमालयन डिस्ट्रिक्स', खंड २ पृ० ५५८)।

पचास साठ वर्ष पूर्व यहाँ भयंकर बाघ होते थे जिन्हें अंग्रेज शिकारी जिम कॉर्बेट ने मारा था। "गंगोली को बाघ" एक कहावत ही इस पर प्रचलित हो गई है।

यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है। जमोली नामक चावल अत्यन्त स्वादिष्ट होता है। घी, शहद, केले, नारंगी बहुत प्रसिद्ध हैं। कुमाऊँ के प्रसिद्ध कवि गुमानी पन्त गंगोली के ही थे जिन्होंने इसकी महिमा स्थान स्थान पर गाई है। यहाँ के भोज्य पदार्थों में गडेरी, च्यूड़ा, शुद्ध दूध आदि की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है—

"केला, निम्दु, अखोड़, दाड़िम रिखू, नारिंग आदो दही,
सासो भात जमालि को कलकलो भूला गडेरी गवां
च्यूड़ा सघ उत्योल दूध बाकलो घ्यू गाय को दाणेदार,
खानी सुंदर मौणिया धबडुआ गंगावली रौगियाँ॥"

गुमानी ने अपने गाँव उपराड़ा को सर्वोत्तम 'थात' माना है जो कि स्वाभाविक है ।

देवियों के वृत्तान्त दुर्गा काली के भिन्न रूपों से संबंध रखते हैं । महाकाली पूर्व की ओर देवदारू जंगल के बीच स्थित है जो जनश्रुति के अनुसार पहले ऊँचे स्वर से बागेश्वर महादेव को पुकारती थीं । चैत-कुंवार में इसकी कथा सुनाई जाती है । सानी ओडयार के आस पास जन-श्रुतियाँ शांडिल्य के रूप में की जाती हैं : पोखरिया की ओर चामुंडा की कथाएँ प्रचलित हैं ।

नृत्य-गीतों में इस ओर 'झोड़ा' की प्रधानता है जो चोचरी का आधुनिक रूप है । झोड़ा गीतों का भाषा एवं विषय वस्तु वर्त्तमान देशकाल की स्थिति के अनुसार बदलती रहती है । 'जागरों' में हर ज्यू, सैम, नृसिंह के अतिरिक्त गर देवी और भोलानाथ के जागर लगाए जाते हैं । रमील नामक लोक गाथा के अनेक गायक हैं जिनकी संख्या अब घटती जा रही है ।

चौगर्खा पट्टी में जागेश्वर; बिनसर, मोरनौला से संबंध रखने वाली पौराणिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक कथाएं प्रचलित हैं । सरयू-सुआल नदियों का तो लोकगीतों में प्रायः उल्लेख मिलता है । जागेश्वर में इतने अधिक देवी देवता हैं कि एक कहावत प्रचलित हो गई है—

"देवता देखण जागेश्वर, गंगा नाणी बागेश्वर" ।

अर्थात् अगर देवताओं के दर्शन करने हों तो जागेश्वर जाओ और यदि गंगा-स्नान करना हो तो बागेश्वर जाओ ।

कहते हैं कि किसी समय जागेश्वर में पाँच सौ से अधिक मूर्त्तियाँ थीं । यह शिव की तपस्या भूमि मानी जाती है । यहाँ एक स्थान का नाम झाँकर सैम है । कहते हैं कि शिव ने दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस करके सती की राख लपेट कर यहीं तपस्पा की थी । यहाँ के लोकगीतों में पडयार जाति की वीर कथाएँ सुनने को मिलती हैं ।

इस समय जागेश्वर में महा मृत्युंजय, महिषासुर मर्दिनी, बालेश्वर, कालिका, सूर्य, नवग्रह, नील कंठेश्वर, पवनसुत, राम, नवदुर्गा आदि के प्रमुख मंदिर हैं । मंदिर के दक्षिण में देवदारु वृक्षों का एक घना जंगल है जिसे दारु का वन कहते हैं । जागेश्वर धाम के महत्त्व की अनेक कथाएं प्रचलित हैं ।

बिनसर नामक स्थान के महात्म्य के लिये कहा जाता है कि इस स्थान से यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को अर्पित अथवा उसके भक्त की किसी वस्तु को उठा लेता है तो बदला लेने वाली एक दैवीय आत्मा उस पुरुष के साथ लग जाती है जो उसे बीस गुना अधिक लौटाने पर बाध्य करती है। अविश्वासी और बेईमान लोग तक बिनसर आकर सुधर जाते हैं । इसलिये एक कहावत

प्रसिद्ध है—''भाई बिनसर लू जाणी लियो, समजी लियौ'' अर्थात् हे भाई ! बिनसर का लोहा (प्रभुत्व) जान लो, और समझ लो ।

बिनसर के पहाड़ पर कलविष्ट देवता का मंदिर है और एक बिनेश्वर-महादेव का मंदिर है जिसे राजा कल्याण चंद ने बनवाया था । मंदिर के निकट थोड़ा सा पानी है जो स्वयंभूत है । इसे देवता का दिया हुआ पानी कहते हैं ।

(सोर सीरा)—उत्तर मध्यवर्ती खंड का तीसरा भाग सोर-सीरा का है जो दो प्रमुख कारणों से कुछ अलग जैसा है । एक तो यहाँ के निवासी नौकरी की तलाश में सैनिक जीवन बिताने के कारण दूर दूर तक जाते रहे हैं । पुरुषों को वर्ष दो वर्ष में घर आने का अवसर मिलता है । स्त्रियाँ और बच्चे गाँवों में प्राय: एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं । इस स्थिति ने लोक-साहित्य को प्रभावित किया है, दूसरे काली नदी की सरहद पर होने के कारण यहाँ के लोक जीवन पर नैपाली प्रभाव स्पष्ट है ।

अधिकतर यह भूभाग डोटी राज्य के साथ मिला रहा है इस लियेबोल-चाल और वेश भूषा पर नैपाल का प्रभाव प्रत्यक्ष है । ध्वजेश्वर तथा जयंती देवी की कथाएँ प्रचलित है । उन शूरवीरों की कथाएँ प्रचलित हैं जिन्होंने युद्धों में प्राणों की आहुति दी । प्राचीन किस्सों के आधार पर ज्ञात होता है कि यहाँ समाज में स्त्रियों का प्रभुत्व अधिक रहा होगा । ''ज्वे जै ठुलि, खसम जे नानौ ''जैसी उक्तियों इसी तथ्य का संकेत करती हैं ।

पिथौरागढ़ किले का निर्माण चंद राजाओं के समय १६२१ ई० में किसी पीरू गोसाईं द्वारा हुआ था । इधर कालीनदी इतनी तीव्र और गतिशील है कि उसकी गहराई का पता नहीं चलता । प्रचलित मान्यता के अनुसार उसमें स्नान करना अथवा भालू के द्वारा खाया जाना बराबर है । लोकगीतों में स्थानीय शहद और केलों की प्राय: चर्चा होती है जो अत्यन्त स्वादिष्ट होते हैं । झूलाघाट के पास नदी इतनी सँकरी है कि पहले कहते हैं कि यहाँ पर लोग बैलों का जुआ रखकर नदी पार कर लेते थे । अब यहाँ लोहे का झूलने वाला पुल बना है । शायद इसी कारण झूलाघाट नाम पड़ गया है ।

यहाँ के गाँवों में पेंशन प्राप्त गोरखा तथा अन्य लोग अधिक रहते हैं । लोक जीवन में एक प्रकार का अवसाद मालूम पड़ता है क्योंकि नवयुवक तो सेना में चले जाते हैं । घरों में वृद्ध तथा स्त्रियो रह जाती हैं जिन्हें कठोर जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पड़ता है । शायद इसी का प्रभाव लोकगीतों पर है जिनमें उदासीनता, निराशा और मानव जीवन के प्रति एक दार्शनिक की झलक मिलती है ।

सीरा का भूभाग सोलहवीं शताब्दी तक डोटी राज्य का अंश था पुरखूपन्त ने इसे रुद्रचन्द्र के राज्य में मिलाया। यहाँ घंटेश्वर महादेव की कथाएँ प्रचलित हैं प्रतिवर्ष घंटे चढ़ाये जाने के कारण शायद इसका नाम घंटेश्वर पड़ गया है। रामगंगा के किनारे बालीश्वर महादेव का मंदिर है जिसे त्रेतायुग में वानर-राज बाली द्वारा स्थापित कहते हैं।

सीरा में नया किला बनाने की यह घटना कही जाती है कि एक बार इस चोटी पर जब राजा शिकार खेलने गए तो जंगली हिरन 'काकड़' ने उनपर हमला किया। राजा ने इसे भूमि का गुण माना और एक किला बना दिया। इधर के स्थानीय नामों में 'तड़' शब्द बहुत प्रयुक्त होता है जैसे दिगतड़, पीपल-तड़, दुबतड़, अमतड़, बलतड़, आदि ग्राम देवताओं की शक्ति पर लोग अधिक विश्वास करते हैं।

२. मध्यवर्ती खण्ड

इस खंड का लोक साहित्य पाली पछाऊँ, बारा मंडल और काली कुमाऊँ के तीन भागों में फैला हुआ है। यह संपूर्ण कुमाऊँ का केवल मध्यवर्ती भाग ही नहीं है बल्कि वन्य संपदा, कृषिभूमि, प्रकृति एवं धन-धान्य की दृष्टि से भी अत्यन्त समृद्ध है। इस खंडन सदियों से अनेक राजवंशों का उतार-चढ़ाव देखा और यहाँ सीमित तथा विस्तृत कुमाऊँ को प्रभावित करने वाली एकाधिक घटनाएँ घटीं। इस स्थिति का प्रतिबिंब लोक-साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा है-

पाली पछाऊँ

पाली पछाऊँ की ओर कत्यूरी राजाओं तथा परवर्ती क्षत्रियराजपूतों की कथाएँ अधिक प्रचलित हैं। रामगंगा, गगास जैसी नदियों ने अनेक जातियों को फलने फूलने का अवसर दिया। द्वाराहाट तो यहाँ की द्वारिका ही है जहाँ एक एक मंदिर, पोखर और जलाशय किसी न किसी पौराणिक वृत्तान्त से जुड़े हैं। यहाँ के वर्त्तमान निवासी साहु और सुनार लोग पूर्वजों के कथावृत्तान्त सुनाते समय प्राचीन राजवंशों के साथ अपना सम्बन्ध स्थिर करते हैं। कोट-काँगड़ा देवी की कथा सुनाते समय द्वाराहाट के चौधरी लोग अपना मूल स्थान काँगड़ा-पंजाब बतलाते हैं।

वैशाख संक्रांति पर यहाँ स्यालदे का प्रसिद्ध मेला लगता है जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसके सम्बन्ध में जो कथाएँ प्रचलित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि यहाँ द्वारिका बनाने का उपक्रम हुआ था। देवताओं ने कोसी-रामगंगा नदियों को द्वाराहाट में मिलने के लिए कहा। संदेश देने का कार्य एक सेमल वृक्ष को सौंपा गया। जब रामगंगा द्वाराहाट को लौटने के मार्ग

पर पहुँची तो सेमल का पेड़ सो जाने के कारण उससे संदेश नहीं कह सका। रामगंगा के तल्ले गिवाड़ चले जाने पर वह जागा और उससे संदेश कहा। रामगंगा ने उत्तर दिया कि अब लौटना असंभव है। इसलिए द्वाराहाट में द्वारिका नहीं बन सकी।

तब से संदेश देने में जो आलस्य करता है उसे सेमल का पेड़ कहते हैं। दूसरी किंवदंती है कि रामगंगा तो आई किन्तु कोसी नहीं आसकी क्यों कि उसे संदेश देने वाला दही खाने में देर कर गया।

द्वाराहाट के ऊपर पर्वत शिखर का नाम दूनागिरि है। कहते हैं कि जब हनुमान संजीवनी औषधि लेकर, लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने के लिए आकाश मार्ग से उड़कर जा रहे थे तो उसी औषधि का एक टुकड़ा वहाँ गिर पड़ा। तभी से इस स्थान की जड़ी बूटियों में इतना चमत्कार आगया कि एक बार किसी घसियारे की लोहे की दराँती एकाएक सोने की हो गई।

चरागाह की दृष्टि से दूनागिरि का जंगल अवश्य प्रसिद्ध है क्यों कि यहाँ की घास और वनस्पतियाँ खाकर गाय-भैंसे खूब दूध देती हैं। द्वाराहाट गढ़वाल की सरहद पर कुछ वीर कथाएँ स्थानीय युद्धों से सम्बन्ध रखती हैं। वीर इन कथाओं में 'पैका' कहे जाते हैं।

गिवाड़ पट्टी की लोकरचनाएँ तीन दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखती हैं। एक तो यहाँ पाँडव सम्बन्धी कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। दूसरे यह पट्टी कत्यूरी-राजा आसंति देव-वासंति देव का राज्य स्थान रही है। तीसरा महत्व कुमाऊँ के जातीय महाकाव्य मालूसाही की दृष्टि से है।

इस क्षेत्र को विराट-नगरी भी कहते हैं जहाँ जनश्रुति के अनुसार पांडव गुप्त वनवास में रहे थे। रामगंगा के किनारे एक कीचकघाट है। लखनपुर में कत्यूरी राजाओं की वंशावली गाई जाती है। मासी और भिकियासैन की ओर जो स्थानीय कथाएँ प्रचलित हैं उनमें सोमनाथ की कथा प्रसिद्ध है। नागार्जुन पर्वत पर फचुवा दोराल का किला अभी तक बना हुआ है जिसका नाम कुमाउँनी लोकगाथाओं में अनेक स्थानों पर आया है।

यहाँ के रजवार तथा मनराल लोग, जो कत्यूरियों के वंशज हैं, पूर्वजों की चर्चा किये जाने पर चित्तौड़ के राणा वंश से अपना सम्बन्ध बतलाते हैं। 'जागर' गाथाओं में घर के भीतर लगने वाले जागरों में गरदेवी, मसान, गोल्ला मरसिंह तथा कत्यूरियों के वृत्तान्त अधिक प्रचलित हैं जिनमें गोल्ला विशेष रूप से प्रतिष्ठित है। इन गाथाओं के पूर्व गायन क्रम में महाभारत के पांडव, अभिमन्यु, कुंती आदि के आख्यान गाए जाते हैं। इधर चंद राजाओं के

'जागर' नहीं गाए जाते जिसका कारण संभवतः यह है कि यह प्रदेश प्राचीन काल से कत्यूरी राजाओं का केन्द्र रहा है।

नृत्य-गीतों में यहाँ चाँचरी के स्थान पर 'झोड़े' का अधिक प्रचार है। चाँचरी से झोड़े में कुछ संगीतात्मक अंतर होता है। इसकी विषय वस्तु नारी के शारीरिक सौंदर्य से लेकर आधुनिक प्रवृत्तियों तक को समेट लेती है। जैसे भूमि नाप पर कई झोड़े बने हैं जिनमें नाप-जोख करने वाले कर्मचारियों के शुष्क व्यवहार पर व्यंग्य किया जाता है। इन झोड़ों में इस प्रकार की पंक्तियाँ सुनाई देती हैं—

(१) "त्वील किलै पीछ शांती अमीनूं जुठी चा,
अमीन लहै गई भल, चौकोटा तुलै कि बटी जा॥"
(२) "राजुलि सौब्यारा, राजुलि भली कै नाप,
दुगुणि चौंगुणि रकम करि दे माफ॥"
(३) "बणियै की चेलि जमाना भलि कै तोल,
कलजुग, उजाड़ि गोछ झूठनि बोल॥"

उक्त पंक्तियों में न केवल भूमि सम्बन्धी करों की चर्चा हुई है बल्कि उन बनियों की बेईमानी पर भी व्यंग्य किया है जो दृष्टि ओझल होते ही तौल मार देते हैं।

फल्दाकोट की ओर ताड़ी खेत के आसपास गोरिल्ल देवता की कथाएँ अधिक मिलती हैं। भुजाण की ओर भैरव और कलविष्ट ग्राम देवताओं की अधिक मान्यता है। लोक गायक कलविष्ट के बाँसुरी बजाने का उल्लेख बड़े उत्साह से करता है। वीर कथाओं में खाती वंश वालों की प्रधानता है। कत्यूरियों के बाद पाली पछाऊँ पर इसी वंश का शासन हुआ था। मालूसाही लोकगाथा का प्रचार इधर कम है। स्थानीय देवी देवताओं की कथाओं का प्रचलन इस बात का द्योतक है कि लोकमानस की उन पर अधिक आस्था है।

बारा मण्डल

बारामंडल का भूभाग बहुत विस्तृत है और लोक रचनाओं की विविधता के लिए दर्शनीय है। यहाँ के गीतों और कथाओं में गणानाथ, भटफोट और बानड़ी जैसी पर्वत चोटियों का; नन्दा-चामुंडा जैसी देवियों का और बोरा, कैंड़ा आदि जातियों का प्रायः उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रचलित बड़ादित्य तथा कटार मल के सूर्य मन्दिरों की कथाएँ इतिहास से प्रमाणित हैं। बारा-मण्डल को जातीय आधार पर 'खस परजिया' भी कहते हैं जिसके सम्बन्ध में दो व्युत्पत्तियाँ दी जाती हैं। एक मत यह है कि यहाँ चन्द राजाओं के

विशेष—खास कर्मचारी रहते थे इसलिये खास प्रजा के आधार पर खस परजिया हो गया। दूसरा मत यह है कि यहाँ खस जातीय प्रजा की प्रधानता थी, इसलिये यह नाम पड़ा।

अलमोड़ा नगर के नामकरण के विषय में कुछ रोचक दंतकथाएँ मिलती हैं। इस ओर के जंगलों में चिलमोड़ा, किलमोड़ा, मिलमोड़ा जैसी घास पत्तियाँ बहुत पाई जाती हैं। मंदिरों को साफ करने के लिये इन घास पत्तियों को जिस स्थान पर ले जाया जाता था, उस स्थान का नाम अलमोड़ा पड़ गया।

अलमोड़ा शहर की स्थापना सन १५६० में हुई थी। उस समय तक चंद राजाओं की राजधानी चंपावत में थी। इस सम्बन्ध में श्री बद्रीदत्त पाँडेय ने एक दन्तकथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार जब राजा कल्याण चन्द यहाँ पर्वत पर शिकार खेलने आए तो उन्हें एक खरगोश दिखाई दिया। जो भीतर जाकर बाघ बन गया। इस पर ज्योतिषियों ने कहा कि यह भूमि शेर जैसी है। यहाँ नगर बसाने से शत्रु उसी प्रकार भयभीत होंगे जैसे लोग बाघ से भयभीत रहते हैं अतः यहाँ पर नगर की नींव डाली गई। लोहे की शलाका शेषनाग के सिर तक पहुंची। लोगों ने कहा कि राजा का राज्य स्थायी होगा। किन्तु राजा को संदेह हुआ। मना करने पर भी लोहे की कील उखाड़ी गई जिसमें लोहू लगा था। तब ज्योतिषियों ने कहा कि चूँकि कील उखाड़ी गई है इसलिये यह राज्य स्थिर नहीं रहेगा (कुमाऊँ का इतिहास, पृष्ठ, ८५)

बारा मंडल के इस भूभाग में शताब्दियों तक माँडलिक शासकों की प्रधानता रही। इस कारण स्यूनरा, तिखून, काली गाड़, अठागुलि, रिउँणी द्वारसौं, उच्यूर आदि स्थानों में उन ऐतिहासिक वंशों और व्यक्तियों की कथाएँ प्रचलित हैं। इन कथाओं का मुख्य विषय कत्यूरी और चन्द राजाओं का पारस्परिक युद्ध है। इन वृत्तान्तों से अच्छी तरह ज्ञात होता है कि किस प्रकार कत्यूरी वंश का प्रभुत्व घटता गया।

बौरारौ, कैड़ारौ, रैलकोट, कवमटिया जैसे विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। जैसे कलमटिया नामकरण का आधार है उस स्थान की मिट्टी का काला होना। यह मिट्टी काली क्यों हुई ? इस पर दन्तकथा बनी है। किसी ने तांत्रिक विद्या का प्रयोग करके यहाँ लोहे के डंडों का होम कर डाला था जिस कारण पहाड़ जलकर काला हो गया। कैड़ारौ में पारकोट गाँव के वैद्य जड़ी बूटियों के प्रयोग में कुशल माने जाते हैं। लोक गायक जब देवताओं को नचाता है तो पारकोट की जड़ी का उल्लेख करना नहीं भूलता।

यहाँ कत्यूरी राजाओं के 'जागरों' की प्रधानता है यद्यपि चंद राजाओं के जागर सुने जाते हैं। एड़ी और कलविष्ट यहाँ के प्रसिद्ध लोक-देवता हैं जिनकी

चर्चा हमने धार्मिक पृष्ठभूमि में की है। गीतों में जोड़ा, बैर और भगनौलों को प्रधानता है। 'झोड़ा' सामूहिक नृत्यगीत है जो गोले घेरा बनाकर प्रदर्शित किये जाते हैं। 'बैर' में गायकों के दो दलों का उत्तर-प्रत्युत्तर होता है जिसकी तार्किक शैली सुनने योग्य होती है। एक पक्ष दूसरे पक्ष को हराने के लिये कल्पना और यथार्थ का विलक्षण समन्वय करता है। 'भगनौलों' में स्त्री पुरुष सम्बन्धी शृंगार की कोमल भावनाएँ व्यंजित होती हैं। यहाँ की प्रत्येक नदी किसी न किसी शुभ या अशुभ देवता का निवास मानी जाती हैं।

सोमेश्वर की घाटी में धान की रोपाई के समय जो क्रियागीत प्रचलित हैं वे 'हुड़की बौल' कहे जाते हैं। वैसे तो ये गीत सारे कुमाउं के प्रतिनिधि गीत हैं, फिर भी इस क्षेत्र की विशेषताएँ इनमें अधिक उभरती हैं। हुड़का वाद्य के साथ धीरे-धीरे गाए जाने के कारण ये 'हुड़की बौल' कहे जाते हैं। 'बौल' का तात्पर्य गायक द्वारा किया जाने वाला श्रम है। रोपाई का काम बड़ा श्रम साध्य और कमर तोड़ने वाला होता है। दिन भर कड़ी धूप सह कर और पानी में खड़े रहकर स्त्री बालक धान के एक एक पौधे को रोपते हैं। इन्हीं की एक रसता और थकान को दूर करने के लिए तथा कार्य की गति बढ़ाने के लिये ये उत्साह प्रद गीत गाए जाते हैं।

इनमें देवी देवताओं के वृत्तान्तों के साथ ऐतिहासिक अथवा जातीय व्यक्तियों के वीर कार्यों का उल्लेख होने के अतिरिक्त कपोल कल्पित घटनाओं की भरमार रहती है। इन्हीं वीर गीतों में हमें रतनीचंद और विक्रमचंद जैसे राजाओं के कृत्यों का वर्णन मिलता है। सफल गायक के लिए यह आवश्यक है कि वह इनके लंबे लंबे आख्यानों को याद रक्खे।

(काली कुमाऊँ)—काली कुमाऊँ का भूभाग ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सोम वंशी चन्द राजाओं का आरंभ यहीं से हुआ था। यहाँ पौराणिक और महाभारत के वृत्तान्तों की संख्या प्रचुर है। चंपावत से लगभग एक मील की दूरी पर फुंगर पहाड़ में एक मंदिर है जिसे अब घटकू देवता कहते हैं। यह भीमसेन द्वारा उसके पुत्र घटोत्कच की स्मृति में बनाया गया समझा जाता है। कहते हैं कि कृष्णावतार के समय यहाँ अनेक स्थलों पर पांडवों तथा स्थानीय क्षत्रियों के बीच युद्ध हुए थे।

यहाँ बहुत से गढ़ और किले हैं जो प्रायः किसी शूरवीर की जीवन कथा से जुड़े हैं। यहाँ का सबसे पुराना किला कोटालगढ़ है जिसे जनश्रुतियों के अनुसार बांणासुर दैत्य ने अपने लिये बनाया था। सुई नासक स्थाम शोणितपुर कहा जाता है। पुराणों के अनुसार वाणासुर को श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने

मारा था किंतु यहाँ प्रचलित कथा के अनुसार जब वाणासुर विष्णु से नहीं मारा गया तो महाकाली ने प्रकट हो कर उसका वध किया। लोहा नदी को उसी के रक्त से निकला हुआ मानते हैं।

देवी पुरा में वाराही देवी का मंदिर है जहाँ श्रावणी पूर्णमासी को इस क्षेत्र का प्रसिद्ध मेला लगता है। चंपावत के पूर्व में बड़ा ऊँचा पर्वत है जहाँ क्रान्तेश्व महादेव स्थापित हैं। इसे काननदेव भी कहते हैं जो कूर्मदेव का विकसित रूप माना जाता है। कूर्मदेव के आधार पर कुमूँ-कुमाऊँ की व्युत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। यहाँ के लोकगीतों में विभिन्न स्थानों में उत्पन्न होने वाली प्रसिद्ध वस्तुओं का उल्लेख मिलता है जैसे चौंसाल के पिनालू, सुई के गाबा पाड़ास्थूँ का दही, मछिमाड़ के गेहूँ, सालम की बासमती आदि।

कुछ वर्षों पूर्व यहाँ के निवासी नियमित रूप से जाड़ों में सपरिवार भावर की ओर चले जाते थे और गरमियों में पहाड़ों की ओर लौटते थे। अब यह आवागमन कम हो गया है किंतु कहावतों में इसका उल्लेख है—

"दस दशैं बीस बगवाल, कुमूँ फुल भाँग भंगवाल।"

अर्थात् दशमी की तिथि और बगवाल (दीपावली) के बाद इनके जाने का समय निश्चित था। तब काली कुमाऊँ में भाँग फूल जाती थी।

इसी भूभाग में चंद राजाओं के प्रसिद्ध 'जागर' गाये जाते हैं। कुछ जागर 'कुमाईं राजा' के नाम से सामूहिक रूप में गाए जाते हैं। हरूका प्रसिद्ध जागर चंद राजाओं से ही संवंध रखता है। कहते हैं कि वह पहले चम्पावत का राजा हरिश्चन्द्र था जो राजपाट छोड़कर हरिद्वार जाकर तपस्या करने लगा। वहाँ से बद्रीनाथ, केदारनाथ, जगन्नाथ, द्वारिका के चारों धामों की यात्रा करके उसने अपने राज्य में लौट कर धर्म-कर्म से जीवन व्यतीत किया। उसके भाई और नौकर चाकर स्यूरा-प्यूरा, कठायत, खोलिया, मंगलिया, उजलिया, सैम बारू आदि सभी उसके शिष्य बन गये।

अपनी तपस्या और सदाचार के कारण राजा इतना पूज्य हुआ कि लोग उसके दर्शनार्थ आने लगे। उसकी कृपा से पुत्र धन, सुख की प्राप्ति होती थी। उसकी पूजा से आकांक्षा पूरी हो जाती थी। अभी तक काली कुमाऊँ में यह मान्यता है कि जहाँ हरू रहते हैं वहाँ सुख संपत्ति विद्यमान रहती है।

काली कुमाऊँ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि कत्यूरी राजाओं के अथवा उनके संबंधी वीरों के न तो कोई जागर गाये जाते हैं और न कोई 'भड़ौ' प्रचलित है। 'भड़ौ' शब्द यहाँ वीरगाथाओं के लिए प्रयुक्त होता है।

'ग्वाल्ल' लोक देवता की उत्पत्ति जिस कत्यूरी राजा झल राव से मानी जाती है। वह कभी चम्पावत का भी शासक था किन्तु आश्चर्य की बात है कि कुमाउँनी ग्राम देवताओं में सर्वाधिक लोक प्रिय होते हुए भी काली कुमाऊँ में 'ग्वाल्ल' का जागर नहीं मिलता। ऐड़ी, भूमियाँ, चौमूं आदि ग्राम देवता की कथाएँ और पूजा अवश्य प्रचलित है।

'हुड़की बौल' जैसे श्रमगीत इधर प्रचलित नहीं हैं किंतु लंबी रातें बिताने के लिए रमौल, तथा महाभारत की कथाएँ सुनाई जाती हैं। लोक गीतों में नैपाली गीत नृत्यों की प्रधानता है। उत्तर की ओर 'न्योली' गीत का बड़ा प्रचार है जिसकी लंबी और खिची हुई तानें, आवेग पूर्ण स्वर लहरियाँ बड़ी मार्मिक होती हैं।

'न्योली' का अर्थ संभवतः नवेली है। जंगलों में खेतों में जब कोई अकेला व्यक्ति दूर किसी प्रिय व्यक्ति को सुनाकर 'न्योली' द्वारा अपने उद्गार प्रकट करता है तो उसके स्वरों से एक करुणा सी उमड़ती हुई प्रतीत होती है। जीवन की गहरी अनुभूतियाँ इन गीतों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। गीत प्रायः दो दो पंक्तियों के होते हैं जिन्हें एक पदांश दुहरा कर तीन पंक्तियों का बना लिया जाता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

१. जर्मन जहाज आयौ अदम सरगा
तेरी मेरी माया मांजि के पड़ो फरका।
के पड़ो फरका, न्योली के पड़ो फरका।"

२. चावल भला बरमा का ग्यूं भला पालीका
दन्त भला भिनाज्यू का, काजल सालीका।
काजल साली का, न्योली काजल सालीका।

३. गाई गोठा झन जाये कलड़ी तरकली
हिया हार झन होए फिर माया फरकली।
फिर माया फरकली, न्योली फिर माया फरकली !"

पहले उदाहरण में प्रेमी यह जानना चाहता है कि प्रेमिका के साथ उसके प्रेम में क्या अंतर पड़ गया है। दूसरे उदाहरण में वर्मा के चावल और पाली के गेहूँ की प्रशंसा करते हुए जीजा की दंतपंक्ति की और साली के कागज की सराहना की गई है। तीसरे उदाहरण में यह आस्था प्रकट की गई है कि प्रेम पुनः पल्लवित होगा। इसलिए हृदय में हार मत मानना।

अन्य गीतों में कृषिगीतों के अतिरिक्त व्यापारिक विषयों पर ध्यान दिया जाता है। स्थानीय आवागमन से संवद्ध गीत अब कम मिलते हैं। जो लोग

स्थायी रूप से पहाड़ों में ही रहने लगे हैं जो लोग पहाड़ी जंगलों से कुली या ठेकेदार का काम करने लगे हैं अथवा तराई की ओर जाकर नौकरी करने लगे हैं, उनके गीतों में कुली मजदूरों की भावनाएँ उत्पन्न हो गई हैं जो सामयिक जीवन की गति विधियों को जानने के लिए उपयोगी है।

काली कुमाऊँ के निवासी भूत-प्रेतों को बहुत मानते हैं जिनमें बालचन्द। कालचन भूसी, नीलू साईं, नाग थान, और छड़ौंज देव प्रसिद्ध हैं। अविवाहित व्यक्तियों के भूत 'टोले' कहलाते हैं जो रात में घूमते हैं। रूनियाँ नामक भूत अधिकतर स्त्रियों पर आता है। वह पत्थरों के घोड़ों पर चढ़कर एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमता है। उसके वश में पड़जाने वाली स्त्री अत्यन्त निर्वल हो जाती है। उसका अदृश्य प्रेमी जब उसके निकट आता है तो वह मरने के बाद प्रेतयोनि में उसकी स्त्री बन जाती है। एड़ी के हाथ पैर पीछे की ओर मुड़े हुए तथा आँखे सिर के ऊपर कही जाती है। इसी प्रकार की रोचक कथाएं इधर प्रचलित हैं जिनके द्वारा निवासियों के लोक विश्वासों, जीवन-स्तर तथा दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

३. दक्षिण मध्यवर्ती खंड—

यह जिला नैनीताल का पहाड़ी भूभाग है जिसके निवासी ग्रीष्म में पहाड़ और शीतकाल में भाबर की ओर चले जाते हैं। यहाँ नैनीताल-भीमताल, पहाड़कोटा, धनियाँ कोट, कुटौली, रानगढ़, महरयूड़ी, चौभैंसी, छखाता, ध्यानीरौ आदि पट्टियों में प्रचलित लोकगीतों, कथा-कहावतों आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें विषय वस्तु अथवा शैली की दृष्टि से यही नवीनता है कि आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। लंबे कथात्मक गीत कम सुनाई देते हैं और भाषा हिन्दी शब्दावली के निकट होने लगती है।

चौभेंसी—

चौभैंसी में मलुवाताल किस प्रकार बना इस संवंध में एक रोचक कथा प्रचलित है। मलुवा रैकवाल जाति का जमींदार था, स्वेच्छाचारी था। किसी की जो वस्तु पसन्द आती उसे छीन लेता। एक बार किसी सुन्दर स्त्री को भगाकर वह पहाड़ की गुफा में छिप गया। बरसात में जब अत्यधिक वर्षा हुई तो पहाड़ टूटकर गिर पड़ा। मलुवा उस स्त्री सहित नीचे गौला नदी में बह गया। जहाँ पर पहाड़ गिरा था वहाँ एक तालाब बन गया, जो उसी के नाम से मलुवा ताल कहा गया।

ध्यानीरौ में कैड़ा और बोरा जातियों की वीर गाथाएँ कहीं जाती हैं जो किसी समय पाली-पछाऊँ की विजय करने के लिए गये थे। धनियांकोट के लोग गोरिल्ल देवता को बहुत मानते हैं। छखाता में शिव के भिन्न-रूप भीमेश्वर, चित्रेश्वर, गर्गेश्वर आदि नामों से प्रतिष्ठित हैं। कर्कोटक यहाँ का जाग्रत देवता है जिसके लिए कहा जाता है कि जहाँ तक इसकी दृष्टि पहुँचती है वहाँ तक सांप काटने का जहर नहीं लगता भीमेश्वर को भीमसेन पांडव द्वारा प्रतिष्ठित मानते हैं।

छखाता—

इस भूभाग में तालाबों की संख्या बहुत है। छखाता, सष्ठिखात नाम इस बात का द्योतक है कि कभी यहाँ साठ ताल रहे होंगे। नलदमयंती ताल के सम्बन्ध में किंवदन्ति है कि महाभारत के नल दमयंती जुए में सर्वस्व खोकर जंगलों में भटकते हुए यहाँ चले आए। खाने के लिए इस तालाब से मछलियाँ पकड़ीं। दमयंती ने जब उन्हें पकाना चाहा तो हाथ में अमृत होने के कारण वे मछलियाँ जीवित होकर भाग गईं।

इस तालाब की मछलियाँ कुछ लाल रंग की तथा मुहँ और पूंछ की ओर चौड़ी हैं। इसी लिए इन्हें कटे हुए टुकड़ों से बना कहते हैं। गागर पहाड़ का आख्यान गर्ग ऋषि की तपस्या से सम्बन्ध रखता है पुराणों में इसे गर्गाचल या गर्ग गिरि कहा गया है।

पूर्वी छखाता में पीरा सम्मल नामक किसी वीर की कथा सुनाई जाती है जिसका राजा त्रिमल चन्द से युद्ध हुआ था। गौला पार राजा विजयचन्द के सम्बन्ध में किंवदंतियाँ प्रचलित हैं जो जाड़ों में शिकार खेलने और धूप सेकने के लिये यहाँ आते थे। रानीबाग ऐतिहासिक स्थान है जहाँ कत्यूरी राजा धामदेव और ब्रह्मदेव की माता जियाराणी का निवास-स्थान था। अब एक छोटी सी गुफा में जियाराणी का मंदिर है जहाँ उसकी तपस्या सम्बन्धी वार्ताएँ प्रचलित हैं। यहाँ उत्तरायणी के दिन विशेष उत्सव होता है।

इसी के पास बटोखरी नामक प्रसिद्ध गढ़ी है जो गोरखा काल में नष्ट हो गई। किसी समय यहाँ एक हाट थी और यहाँ से लेकर कोटाभाबर तक घनी बस्ती बसी हुई थी। इस स्मृति के अवशेष अब एक स्थानीय कहावत में जीवित रह गए हैं—

"हाट की नाली क्वाटा, क्वाटा की नाली हाट।"

अर्थात् यहाँ से अनाज की नाप 'नाली' कोटा तक पहुँचती थी तथा कोटा की 'नाली' यहाँ तक आती थी।

हाट बोलचाल में बाजार को कहते हैं। वैसे प्राचीन नगरी अथवा राज धानी के लिए भी इसका प्रयोग माना जा सकता है जैसे तैलीहाट, द्वाराहाट आदि नामों से प्रतीत होता है। भीमताल के ग्राम देवताओं में भूमियाँ की बड़ी प्रतिष्ठा थी जो अब जनता के शिक्षित होते जाने के कारण घट रही है।

नैनीताल—

नैनीताल का सरोवर यद्यपि प्राचीन है किन्तु नगर सन् १८४१ में बसाया गया। इसके पास कुटौली में जीना, नेगी जातियाँ रहती हैं। महरयूड़ी पट्टी में नागदेव की कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि इस पट्टी को निर्मित करने के लिए आस-पास के गाँवों की भूमि को मिलाकर स्वतंत्र इकाई का रूप दिया गया। इसी कारण "जोड़ी जोड़ी बेर की महरयूड़ी" अर्थात् जोड़ जोड़ कर महरयूड़ी बनी-यह उक्ति प्रचलित है।

रामगढ़ आगर स्थानों की ओर गजुवा ठिंगा का किस्सा प्रचलित है जो वीर खस शासक था। उसने राजा भीमचन्द को सोते हुए मारा और स्वयं कल्याण चन्द द्वारा मारा गया।

कोटा की ओर का भूभाग पहाड़ और भावर दो भागों में फैला है। यहाँ सीतावनीं नामक स्थान का सम्बन्ध रामायणकालीन कुछ घटनाओं से जोड़ा जाता है। कहते हैं कि यहाँ वाल्मीकि ऋषि का आश्रम था। सीता ने यहाँ आकर तपस्या की। ढिकुली एक ऐतिहासिक स्थान है जहाँ कत्यूरी और चन्द राजा जाड़ों में धूप सेकने आते थे। देवीचन्द ने देवीपुरा नामक स्थान बसाया। कमौला-छमौला भी कुछ प्राचीन आख्यानों का केन्द्र है जिसके आसपास चंद राजाओं के टूटे फूटे मंदिर दिखाई देते हैं। ऐसे ऐतिहासिक अवशेष अन्य स्थानों पर भी हैं।

गीतों की दृष्टि से नैनीताल का यह पहाड़ी भूभाग विशेष मौलिक और समृद्ध नहीं प्रतीत होता। भाषा भी नाम मात्र की कुमाउँनी कही जा सकती है।

१२. दक्षिणी कुमाउँनी क्षेत्र

इसके क्षेत्र के अंतर्गत जिला नैनीताल क भात्रर तराई का संपूर्ण भाग सम्मिलित है। रामनगर, काठगोदाम और टनकपुर को यदि एक रेखा से मिलाया जाय तो वह रेखा भावर के दक्षिणी क्षेत्र को मध्यवर्ती क्षेत्र से पृथक करेगी। लोक साहित्य की दृष्टि से उत्तरी भागों की अपेक्षा यहाँ मुख्य अंतर यह है कि लोक रचनाएँ अन्य कुमाउँनी रचनाओं से विषय वस्तु में तो मिलती हैं किंतु उनकी रूपरेखा क्षीण हो गई है और भाषा बदल गई है।

जो कुमाऊँनी जाड़ों में धूप सेकने के लिए अथवा घमतप्पों का जीवन व्यतीत करने के लिए यहाँ बस गये हैं, वे तो अपनी पर्वतीय परंपराओं का यत्किंचित निर्वाह करते जाते हैं। किंतु यहाँ के अन्य निवासी 'थारू' और 'बोक्सा' चूँकि कुमाउँनी लोगों से भिन्न है, अत: उनके त्योहार, लोकोत्सव और गीत आदि सभी विशिष्ट हो गए हैं, फिर भी इनका साहित्य कुमाउँनी लोक साहित्य का एक अंग है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उक्त दक्षिणी क्षेत्र के स्पष्टत: दो खंड किये जा सकते हैं--

(१) भावर खंड, और

(२) तराई खंड

१. भावर खंड--

'भावर' शब्द कैसे बना यह स्पष्ट नहीं है। यहाँ के निवासी जैसा कि ऊपर कहा गया है अल्मोड़ा-नैनीताल और पिथौरागढ़ जिलों के पर्वतीय भागों से संबंध रखते हैं जो शीतकाल में हलद्वानी, काला ढूँगी, बाजपुर, चोरगल्या, रुद्रपुर, और किछा आदि स्थानों तक फैल जाते हैं। इनमें घमतप्तों की जीवन-चर्या लोक जीवन को देखने की दृष्टि से आकर्षक है। कुमाउँनी ग्रामों में शीत काल में पशुपालन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जंगलों में सर्वत्र उत्तम घास नहीं मिलती, पतझर में तीव्र हिमपात होता है और धान, मडुवा के डंठल उनके लिये पर्याप्त नहीं होते।

इस समय पशु पालक पूरी तैयारी सहित सपरिवार भावर की ओर चले आते हैं। ग्राम देवता की वन्दना करके बीस-तीस स्त्री पुरुषों का समूह अपनी गाय-भैंसों सहित चल पड़ता है। पहाड़ों से मैदान तक स्थान-स्थान पर पड़ाव

बने हैं जहाँ सूर्यास्त के पूर्व ये लोग ठहर जाते हैं। इनकी मैदानी यात्रा दस-पन्द्रह दिनों में पूरी हो जाती है।

किसी-किसी घमतप्पे के पास चार सौ पाँच सौ तक गाय-भैंसे होती हैं जिन्हें वे अपने तैयार किये हुए 'खरकों' में बाँधते हैं। 'खरक' मैदानी चरागाहों में जंगल की लकड़ी काट कर बनाए गए विशाल बाड़े हैं। जिन घमतप्पों के पास कम गाय भैंसे होती है वे अपने झोंपड़ों में पशुओं को रखकर दूध-घी का व्यवसाय करते हैं। जिन घमतप्पों के पास अपने पशु नहीं होते वे घरेलू नौकरी अथवा खेत मजदूरी करके जीवन यापन करते हैं। अब ये लोग प्रायः भाबर में ही बस गए हैं। इनके लोक गीतों और कथाओं में वही विशेपताएँ लक्षित होती हैं जो पर्वतीय भूभाग के लोक साहित्य में विद्यमान हैं।

इधर पंजाबी व्यापारियों का भावर में प्रवेश होने के कारण बाहरी प्रभाव बढ़ गया है। फलतः स्थानीय गीतों ने कीर्त्तन का रूप ले लिया है और सामूहिक भावना कम हो गई है। नैपाली कुली, जो बड़े बड़े कृषि फार्मों में सौ दो सौ की संख्या तक काम करते हैं, न्योली गीत गाते हैं। इस प्रकार के 'न्योली' गीत चूंकि सोर-सींरा की ओर प्रचलित है, यहाँ इनमें कोई नवीनता नहीं मिलती।

'जागर' गाथाओं में गोरखनाथ का जागर अवश्य नवीन तथा आकर्षक कहा जा सकता है। अन्य नाथों के जागर भी गाए जाते हैं जिनके कुछ अंश केवल स्त्रियाँ गाती हैं। स्त्रियों द्वारा गायन अवश्य एक नवीनता है

जसपुर की ओर मुसलमान पीर, जाहर पीर का बड़ा प्रचार है। गाँव गाँव में सारंगी बजाकर घूमने वाले, कनफटे साधु रात रात भर बैठ कर उसकी लंबी गाथा गाते हैं। इस गाथा के छब्बीस खंड यदि संपूर्ण रूप में गाए जाएँ तो लगभग तीस रातें लग जाएँगी। यह वही जाहर पीर है जो 'गुरु गुग्गा' के नाम से आगरा-मथुरा की ओर प्रसिद्ध है।

भावर में जातीय गीतों का एक प्रकार से अभाव है। यहाँ धोबी, चमार, कोली जुलाहे आदि जातियाँ अवश्य रहती हैं किंतु उनकी अपनी कही जाने वाली रचनाओं का प्रचार नहीं है। छोटी टिपरियों पर बसे हुए गाँव 'कोरे' कहलाते हैं, जहाँ धीरे-धीरे सिनेमा के गीत प्रवेश करते जा रहे हैं।

तराई खंड—

'तराई' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। जो स्थान तर अर्थात् नीचे हो वह तराई है। अथवा जिस स्थान में तरी = नमी हो (तरी = आई) वह तराई है। यहाँ स्थान-स्थान पर दस पन्द्रह फीट मिट्टी खोदने पर

पानी निकल आता है। जमीन से स्वतः फूट निकलने वाले जलस्रोत 'भाँते' कहे जाते हैं। तराई खंड पश्चिम में काशीपुर से लेकर पूर्व में शारदा-नदी के किनारे बनवसा तक फैला हुआ है।

बोक्साड़—

तराई के लोक-साहित्य का विवेचन यहाँ रहने वाली दो प्रमुख जातियों के आधार पर किया जा सकता है। गदरपुर के पश्चिम में रहने वाली बोक्सा जाति के आधार पर और गदरपुर के पूर्व में रहने वाली थारु जाति के आधार पर यह विभाजन संभव है।

काशीपुर गूलर बोज और बाजपुर नामक स्थान बोक्सा लोगों के मुख्य केन्द्र हैं।' ये लोग यहाँ के कितने पुराने निवासी होंगे इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस भूभाग को ही 'बुकसाड़' कहते हैं। 'बुकसाड़ै की विद्या मारूँ'—यहाँ की पुरानी कहावत है जो इन लोगों के जादू टोने पर विश्वास और झाड़ फूंक की कुशलता पर प्रकाश डालती है। किसी समय मनुष्यों को पशु बना देने में ये लोग बड़े निपुण माने जाते थे।

'बोकसा' लोग अपने को पँवार राजपूत मानते हैं। उनके नेता उदयजीत का धारा नगर के राजा जगजीत के साथ युद्ध हुआ। उदयजीत हार गया। उसके साथ ये लोग शारदा नदी के किनारे बरबसा में आकर बस गये। जब कुमाऊँ के राजा ने इनसे सहायता माँगी तो पँवारों ने उसकी सहायता करके विजय प्राप्त कराई। तब इन्हें यह 'बुकसाड़' का भाग जागीर में दे दिया गया और ये बनबसा छोड़कर यहाँ बस गये।

यह किंवदंती कितनी सत्य है, यह तो नहीं कह सकते किंतु पँवार राजपूतों का काली-कुमाऊँ की ओर बसना इतिहास प्रसिद्ध है। ये लोग कोटालगढ़ और लोहाघाट के इलाकों में बसे हुए थे। लक्ष्मण सिंह परमार ने इनके विषय में सुंदर पुस्तक लिखी है। जिससे ज्ञात होता है कि परमार वंश का कोई राजा मारवाड़ से यहाँ चला आया था जिसके अनुयायी दर्शन के ज्ञाता थे। छठीं शताब्दी में कुमाऊँ के किसी परमार राजा ने दिल्ली के किसी राठौर वंशी प्रदेश पर आक्रमण किया था। कोटालगढ़ में परमार वंश की संतानें १८१७ ई० तक विद्यमान थीं। परमारों को महरा भी कहते हैं। (पृ० ६, ४४)

पँवार ज़ाति के साथ 'बोकसा' लोगों का संबंध चाहे जिस प्रकार का रहा हो किंतु इतना सत्य है कि 'आइने अकबरी' में वर्त्तमान रुद्रपुर-किलपुरी परगने को 'भुकसा' नाम दिया गया है। ('कुमाऊँ'-राहुल सांकृत्यायन, पृ० २५८) इस

उल्लेख से इन लोगों की प्राचीनता सत्रहवीं शताब्दी तक की सिद्ध होती है। इस समय इनकी जनसंख्या चार पाँच हजार के लगभग है और रीति-रिवाज में ये थारुओं से मिलते जुलते हैं। थारुओं से इनका अंतर भी है। एक तो ये उनकी तुलना में पिछड़े हुए हैं दूसरे ये जनेऊ पहनते हैं। थारुओं में जनेऊ का रिवाज नहीं है।

'बोकसा' लोगों की मान्यताएं सामान्य हिन्दुओं जैसी हैं जैसा कि इनमें प्रचलित शिव-विष्णु की कथाओं से ज्ञात होता है। जागर जैसी लंबी धार्मिक गाथाओं का यहाँ प्रचार नहीं है। इधर खड़ी बोली में प्रचारित भक्त कथाओं का प्रसार बढ़ रहा है। स्थानीय देवताओं में पीर नत्थे और पधान की पूजा होती है जिन्हें माँस मदिरा चढ़ाई जाती है। होलियाँ और फाग इनमें विशेष रूप से गाये जाते हैं। होली के अनेक स्थानीय रूप मिलते हैं जिन्हें 'झगड़ा' 'भरताल', 'करहा' जैसे नामों से संबोधित, किया जाता है।

इनके कुछ लोकप्रिय गीतों के नाम हैं—'चेलटा' 'रसोता' 'चिलका' 'मल्हार' 'बिहागरो' 'लीला' 'दिन-प्रभाती' 'खयाल' 'कन्हरी' 'कान्हरो' आदि। कुछ गीतों में साल भर की विशेषताएँ संक्षेप में गिनाई जाती है जिन्हें 'बारह-मासा' कहते हैं। एक पंक्ति में चैतमास की विशेषताएँ कही जाती हैं तो दूसरी में, 'बैसाखी रितु गरमी आई, चलत पवनसुत आगी बरसै' जैसी पंक्तियों द्वारा बैशाख मास का वर्णन किया जाता है।

स्थानीय 'कन्हरी' और 'कान्हरों गीतों का मुख्य अंतर यह है कि पहले में राधा का इतिवृत्त मुख्य रूप से गाया जाता है जब कि दूसरे में कृष्ण लीला की प्रधानता रहती है। आषाढ़ और श्रावण में हल जोतते समय अथवा धान बोते समय 'चित्रका' नामक गीत गाया जाता है जिसमें शृंगारिकता रहती है। रात्रि के आरंभ से लेकर प्रातःकाल गायी जाती है। गीतों की प्रश्नात्मक शैली वही है जो अन्यत्र देखी जाती है। एक पंक्ति में प्रश्न, तो दूसरी पंक्ति में उत्तर —यही इनका क्रम है। इसी प्रकार के गीत बोकसा लोगों की संपत्ति है जिनके माध्यम से ये लोग मनोरंजन कर लेते हैं।

अब नवीन प्रभावों के कारण न केवल बोकसा लोगों के गीत कम होते जा रहे हैं बल्कि इनकी जनसंख्या भी सामाजिक कारणों से घटती जा रही है। इनकी शब्दावली हिन्दी मिश्रित कुमाऊँनी है जिसमें कुछ विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं। इनकी बोलचाल में स्त्री को 'बैयर' जूड़ा को 'मूड़' पलंग को 'पलका,' लहंगा को 'गुनिया' बिस्तर को 'खतरी, और माँ को 'अइया' कहते हैं।

'बोकसा' जाति के प्रमुख लोक वाद्य ढोलक, मँजीरा, मृदङ्ग और खँजरी हैं। बरसात के दिनों में, अथवा जाड़ों की लंबी रातों में जब कृषिकार्य हलका होता है तो इनके जीवन का उल्लास निखरता है। इनकी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ उत्सवों और गीत-नृत्यों में भाग नहीं लेती। इसका मुख्य कारण सामाजिक है क्योंकि वे पुरुषों की अपेक्षा अपना स्थान ऊँचा मानती हैं।

अलग गीतों में अलग वाद्य प्रयुक्त होते हैं जैसे कान्हरों के साथ मृदङ्ग और पखावज बजते हैं। इसमें सात आदमी भाग लेते हैं। प्रत्येक का कार्य बंटा रहता है। दो मँजीरा बजाते हैं, दो टेक देते हैं, एक मृदङ्ग बजाता है, एक नचनियां होता है अर्थात् नाचता है और एक आदमी बीच में दीपक लेकर वृत्ताकार घूमता है कथा कहानी सुनाने की ओर बुकसाड़ में विशेष रुचि नहीं प्रतीत होती।

इनमें जो संस्कार गीत प्रचलित हैं वे अन्य कुमऊँनी गीतों से मिलते जुलते हैं। इनमें कृष्ण जन्म, रामजन्म तथा इनके विवाह संबंधी प्रसंग मुख्य हैं। नृत्य-गीतों में भजनों की संख्या अधिक हैं कुछ गाँवों की स्त्रियाँ ढोलक बजा कर गीत गाती हैं जिन्हें वे 'गजल' कहती हैं। इन गजलों में रात्रि के किसी स्वप्न की, प्रिय दर्शन की अथवा भाई बहन के विशुद्ध प्रेम आदि की चर्चा होती है। विवाह संबंधी गीतों में कहीं अश्लीलता आ जाती है।

थरुवाट—

तराई की दूसरी प्रमुख जाति थारुओं की है जो गदरपुर के पूर्व टनकपुर तक शारदा नदी के किनारे फैले हुए हैं। थारु जाति बिहार के उत्तर में पूर्णिया जिले तक पाई जाती है। टनकपुर से ले कर पूर्णिया जिले तक यह सारा भाग नैपाल की तराई का है इसलिए थारु समाज में अत्यन्त विविधता एवं जातीय समिश्रण का होना स्वाभाविक है।।

जहाँ तक प्रस्तुत लोक साहित्य का संबंध है, जिला नैनीताल के दक्षिण में किछा, खटिया, नानकमता, सितारगंज, किलपुरी और बनबसा नामक स्थान इनके प्रमुख केन्द्र हैं। यह पूरा थारू क्षेत्र बिलारी अथवा 'बिलहरी के नाम से भी प्रसिद्ध है। कुमाऊँनी लोकगीतों में अपनी ग्रीष्मकालीन प्रखरता के लिये प्रसिद्ध जिस छाना-बिलौरी नाम का उल्लेख मिलता है वह संभवतः यही होगा। पहाड़ी कन्या इसी कारण अपने पिता से अनुनय करती है कि छान बिलौरी नामक स्थान् में मेरा विवाह मत करना क्योंकि वहाँ के घाम लगते हैं।

थारु लोगों की संख्या कुछ समय पूर्व लगभग सोलह हजार थी। पिछली शताब्दी में यही लोग तराई के राजा थे क्यों कि प्रचंड मलेरिया के डर से

दूसरे लोग यहाँ आने का साहस नहीं करते थे। थारुओं की कथाएँ या तो इनके ग्राम देवताओं से संबंध रखती हैं या इनके पूर्वजों से। इनके यहाँ गृह देवताओं अथवा कुल देवताओं की बड़ी प्रतिष्ठा है जिनमें 'पछउवा,' हनू-मान; नगर भाई, पर्वतिया, बूढ़े बाबू, दुर्गा, सवानी, कालका, पौना आदि मुख्य हैं।

प्रत्येक थारु के घर और गाँव के बीच में किसी पीपल या बरगद के नीचे बड़ी बड़ी वेदियाँ बनी रहती हैं जिनके चारों ओर बैठकर ये इन देव-ताओं की पूजा करते हैं और कथा कहते हैं। विशेपकर 'भुइयाँ' देवता की पूजा फसल काटने के उपरान्त आपाढ़ के महीने सामूहिक रूप से होती है। कुल देवता प्राय: घर में किसी के बीमार होने पर पूजे जाते हैं।

थारुओं के लोक-साहित्य को समझने के लिये इनके रहन-सहन आचार-विचार, सामाजिक व्यवस्था आदि को समझना आवश्यक है जिससे लोक रच-नाओं का स्वरूप निर्धारित होता है। इनके परिवार में सबसे उल्लेखनीय बात स्त्रियों की मान्यता संबंधी है। स्त्रियाँ अपनी रसोई के भीतर पुरुषों को नहीं आने देतीं।

स्त्रियों का स्थान समाज में पुरुषों से इतना ऊँचा है कि कितना अन्न रखना है, कितना बेचना है, क्या भोजन बनेगा, अतिथि सत्कार कैसे किया जाएगा, इन बातों में पुरुष का विशेष संबंध नहीं रहता। वह केवल खेती करता है, शिकार खेलता है और जंगल से लकड़ी ले आता है जब कि थारू स्त्री अपने खेतों तक से परिचित नहीं होतीं। इस समाज में यौन संबंध परदे का विषय नहीं है। छोटे बड़े सबके सामने तत्संबंधी बातें कर ली जाती हैं। स्त्री चाहे तो एक से अधिक बार अपने पति को बदल सकती है।

थारू समाज में विवाह संबंधी कुछ स्थानीय परंपराएँ हैं। मँगनी के दिन जिसे 'दिखनौरी' कहते हैं पुत्र का पिता भांग, मिठाई, बकरा, मछली और मदिरा लेकर होने वाले समधी के घर पहुँचता है। विवाह तक वर प्रतिवर्ष इसी प्रकार भेंट पहुँचाता है जिसका तात्पर्य है कि वह खिला कर बहू को स्वस्थ्य बना रहा है। मँगनी टूट जाने पर कन्या के पिता को उसका मूल्य चुकाना पड़ता है।

विवाह के दिन दूल्हा सज-धज कर पगड़ी, सुतन्ना (पाजामा), झँगिया, (अंगरखा) पहनता है। हाथ में ढाल लेता है और कमर में कटार बांधता है। बारात में ब्राह्मण पुरोहित को ले जाते हैं किंतु वह कर्मकांड नहीं करता।

एक प्रकार की अंचलग्रंथि बांधकर घर में घूम लेने से विवाह संपन्न मान लिया जाता है।

थारू लोग अपने मुर्दों को गाड़ते हैं। इनमें जलाने की प्रथा भी है किन्तु यह भूत-प्रेत की बाधा से मरने वाले लोगों तक सीमित है। मृत्यु के आठवें दिन तथा दसवें दिन मृतक के घर वाले गाँव की सारो विरादरी को भोज देते हैं। जिसमें भात, शिकार, और मदिरा की प्रधानता रहती है।

मृतक के लिये यही भोजन एक टोकरी में रखा जाता है उस टोकरी में एक दिया जलाकर रख दिया जाता है। दीपावली के समय मृतक का पुतला बनाकर उसे नये कपड़े पहना कर नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है इस अवसर पर वे मृतक की याद करते हुए और "पंक्षी करियो विसराम, कौन से भेष बन आये हो—जैसी पंक्तियों के गीत गाते हुए रोदन करते हैं। इसी कारण दीपावली यहाँ अशुभ त्योहार माना जाता है।

थारू लोग देवी देवताओं से अधिक भूत-प्रेतों पर विश्वास करते हैं। दिया जलाकर रख दिया ऐसी मान्यता है कि देवता के रुष्ट हो जाने पर भूत कष्ट देते हैं कुमाऊँ के पहाड़ी भागों में तो भूत उतारने के लिये घागर लगाए जाते हैं किन्तु थारू लोगों के यहाँ 'गणत' कराईं जाती है। 'गणत' करने वाले व्यक्ति ओझा अथवा सयाने इनके यहाँ 'भराड़ा' कहलाते हैं जो गांव के वैद्य भी होते हैं।

गाँव में किसी के बीमार होने पर ये लोग भूतात्माओं का आवाहन करके उन्हें संतुष्ट करते हैं। रोगी की कलाई थाम कर नाड़ी परीक्षा करने के बाद वे चावल या धान के कुछ दाने थाली में डाल कर कुछ गिनते हैं और बतलाते हैं कि अमुक अमुक भूत-प्रेत का प्रकोप हुआ है। इसके लिये अमुक देवता की पूजा करनी होगी, इतनी मुर्गियाँ और शराव चढ़ानी होगी आदि। भूतों की पूजा करनी होगी आदि। भूतों की पूजा पंचमेवा, सुपारी, नारियल और लौंग से की जाती है। थारू लोग अगाध विश्वासों को देखकर नैनीताल गजेटियर के लेखक नेविल ने आज से सत्तर वर्ष पूर्व लिखा थ—

"कंसीववेंटली दे आर, लाइक ऑल फारेस्ट ड्वेलिंग रेसज, इंटेसली सुपरस्टीशस ए मोर हाटेड डेविल रिडेन रेस, कुड नाट बी फाउंड; एण्ड दिस इज ए परफेक्ट कर्स, टु देम" (पृ० १०८)

अंधविश्वासों ने ही थारुओं में काल्पनिक भूत-प्रेतों की कथाओं को जन्म दिया है। भूत-प्रेतों के नाम मात्र अलग होते हैं। उनकी चारित्रिक विशेषताओं में कोई विशेष अंतर नहीं होता उनका स्वभाव, वेश भूषा, आकृति एक समान

वर्णित की जाती है। सचमुच आज भी भूत-प्रेतों की कृपा-आकृपा पर निर्भर रहने वाले इस प्रकार के संभवतः दूसरे लोग नहीं मिलेंगे।

थारू लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती है। गौण रूप से शिकार खेलना, मछली बेचना इसी में सम्मिलित है। ये लोग नदियों के निकट जंगलों में रहना पसन्द करते हैं। पहले परिवार सहित एक स्थान से दूसरे स्थान बदलते थे किंतु अब एक स्थान पर जमकर रहने लगे हैं। इनके पास एक सौ बीघे से लेकर तीन सौ बीघे तक की जमीन होती है और इनके संयुक्त परिवार के सदस्यों की संख्या तीस-चालीस तक पहुँच जाती है।

थारू कर्ज में डूबे रहते हैं। स्वभाव से डरपोक हैं। यहां तक कि पुलिस पटवारी से तो डरते ही हैं, उनके चपरासी तक से डरते हैं, इनमें राव श्रेष्ठ जाति होती है। राना ठाकुर, गिरनामा, गोसाईं जैसी उपजातियाँ हैं जिनके गाँवों को 'भुड़िया' कहते हैं। समाज का मुखिया भला मानुष कहलाता है। समस्याओं के निदान हेतु समय पर इनकी पंचायतें चुनी जाती हैं जो सर्वोच्च संस्था होती है। यहीं पर इनके कायदे कानून बनते हैं, झगड़े सुलझते हैं और विवाह संबंधी मामले तय होते हैं।

इनके मकान यद्यपि घास-फूस से छाए, अथवा खपरैलों से बने होते हैं, किंतु साफ होते हैं दीवारें मिट्टी में गेहूँ की भूसी सानकर बनती है जिनमें छोटे छोटे दर्पण जैसे काँच के टुकड़े जड़े रहते हैं मकान के सामने धान कूटने की ढेंकी पशु बाँधने के छप्पर आदि पड़े रहते हैं जिनके ऊपर कद्दू, पेठा लौकी, तरोई आदि की बेलें चढ़ी रहती हैं।

थारुओं के भोजन में चावल, मांस, मछली और मदिरा की प्रधानता होती है। अतिथि सत्कार में भात अवश्य परोसा जाता है। बरसाती गढ्ढों में से मछली पकड़ कर खाने के ये शौकीन होते हैं। बड़ी मछलियाँ खाकर छोटी मछलियों को सुखाने के लिये छप्परों पर डाल देते हैं इसलिये किसी थारू गाँव का दूर से पता लग जाता है। थारू परिवार में यौन संबंधों की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता है। घर के भीतर अलग कोठरी या कमरा जैसा कोई स्थान नहीं होता। खुले बरामदे में स्त्री पुरुष लेटे रहते हैं, एक दूसरे को देखकर किसी कुंठा के शिकार नहीं होते।

इनके समाज में मित्र का विशेष महत्व है मित्र के सुख दुख में खुलकर सम्मिलित होते हैं जिसे वे मिताई निभाना कहते हैं। स्त्री पुरुष और बच्चे सभी मदिरा पान करने के अभ्यस्त होते हैं कच्ची शराब के लिये, जिसे ये ठर्रा कहते हैं खटीमा प्रसिद्ध है।

जहाँ तक थारुओं के त्योहार और मेलों का संबंध है, ये उनकी सजीवता और समृद्धि के सूचक हैं। उनके त्योहारों में कुछ पुरुषों के कुछ स्त्रियों के माने जाते हैं। पुरुषों के त्योहारों में होली-दीपावली मुख्य हैं स्त्रियों के त्योहारों में 'चराई' और आसाढ़ी मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तीज और नाग पंचमी को सभी लोग मानते हैं।

होली का त्योहार धुलैंड़ी के बाद मनाया जाता है। स्त्री-पुरुष अलग-अलग घेरों में नाचते हुए प्रत्येक प्रकार के राग में होली गाते हैं। इसी आधार पर होली के अलग अलग नाम रक्खे जाते हैं। दीपावली के दिन चूँकि मृतात्मा को रोटो दी जाती है, इस लिये यह अशुभ त्योहार माना जाता है। दीपावली की रात्रि में नृत्य और संगीत द्वारा ये अपना दुख प्रगट करते हैं।

'चराई' अथवा 'चरहाई' त्योहार चैत और बैसाख में दो बार मनाया जाता है जिसमें स्त्रियाँ गांव के बाहर एकत्र होकर खैरापती देवता के सामने प्रातः से लेकर संध्या तक नृत्य करती हैं। संध्या को जलपूर्ण घड़ा लेकर लौटते समय पहले प्रधान के द्वार पर जल छिड़कती हैं फिर घर आकर एक मिट्टी की मूर्ति पर उसे चढ़ाती हैं। चैत्र भास में छोटी चराई और बैसाख मास में बड़ी चराई मानी जाती है। इस अवसर पर स्त्रियां ढोलक और मजीरे के साथ गीत गाती हैं।

तीज अथवा झूला थारुओं का ऋतु त्योहार है। इसमें स्त्रियाँ हाथ-पैरों में मेंहदी रचाकर झूला झूलती हैं और दिन में एक बार प्रधान, जिसे 'सयाना' कहते हैं के यहाँ अवश्य जाती हैं। नागपंचमी त्योहार में नागों को दूध चढ़ाया जाता है जिन्हें ये लोग देवता मानते हैं। इनका विश्वास है कि जब से सृष्टि बनी, तब से नाग देवता की पूजा चली आई है।

थारुओं के चक्रपुर, नानकमता, बिजरी, खटीमा आदि स्थानों में मेले लगते हैं। इनमें एक तो वे लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदते हैं, दूसरे लोक-समारोहों में सम्मिलित होकर आनंदित होते हैं चक्रपुर के मेले में लगभग दो हजार व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं। वहाँ एक उद्यान में शिवजी का छोटा सा मंदिर है। थारू झुंड के झुंड पैदल या बैलगाड़ियों से आकर इसकी पूजा करते हैं। नानकमता के मेले में गुरु नानक संबंधी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।

इन मेलों में होने वाले स्त्री पुरुषों के सामूहिक नृत्य को 'खिचड़ी नृत्य' कहते हैं। इनमें एक स्त्री और एक पुरुष गोलाकार वृत्त में खड़े हो कर आगे पीछे पग संचालन करते हैं। वृत्त के अन्दर ढोल बजाने वाले विभिन्न मुद्राओं में अंग संचालन करते हैं। कभी ये लोग दो टोलियों में विभक्त हो जाते हैं।

एक टोली जिस पंक्ति को गाती है, उसे दूसरी टोली वाले दुहराते हैं। इन नृत्यों द्वारा उल्लास, अवसाद दोनों की अभिव्यक्ति होती है।

लोक नृत्यों के समय सम्मिलित होने वाले स्त्री पुरुषों की एवं नर्तकों की विशिष्ट वेशभूषा होती है। पुरुष तसमों वाला कोट, धोती अथवा सुतन्ना (पाजामा) धारणा करते हैं। सिर पर पगड़ी अथवा दो तल्ली टोपी पहनते हैं। नृत्य करते समय वे पूरे शरीर को ढकने वाली सफेद वस्त्र की 'झिंगुलिया' पहनते हैं। इसके ऊपर लाल बनियान अथवा काली 'फतुई' (वास्कट) ओढ़ लेते हैं कमर और गले पर लाल रंग की टूल डालते हैं। पैरों में घुंघरू पहनते हैं जिन्हें 'पांसरा' कहते हैं।

स्त्रियों की वेशभूषा प्राय: एक जैसी रहती है वे चौड़ी काली गोट का लाल और ऊँचा लहँगा पहनती हैं जिसे घाँघरों अथवा घंघरिया कहते हैं। कमर के ऊपर आधे अस्तीन की तंग लाल अंगिया अर्थात चोली पहनती हैं। सिर पर काली ओढ़नी डाले रहती हैं। इनका जूड़ा नुकीला और ऊँचा रहता है।

थारू स्त्रियाँ गहने पहनने की शौकीन होती हैं। इनके पैरों में तंग छल्ले, हाथों में चूड़ियाँ, गले, सिर, नाक और कानों में चाँदी की जंजीरें कहीं पर भी देखी जा सकती हैं इन्हें लालरंग विशेष प्रिय है। स्त्रियाँ मस्तक पर मांग टीका धारण करती हैं जिसे 'बन्दी' कहते हैं। गले में हँसुली और हरवा पहनती हैं। आँखों में काजल और सुरमा का प्रयोग स्त्री पुरुष दोनों करते हैं। थारू लोक गीतों में इन सभी आभूषणों का न्यूनाधिक उल्लेख मिलता है। एक उदाहरण है—

> **"दस उंगरी दस मुदरी बैंदा दिपत लिलार,**
> **नाक फूल नकबेसरि, लटकन झोंका खाय ।।"**

कहीं-कहीं आभूषण बनाने वालों अथवा बेचने वालों का नाम लिया जाता है जिसमें बिसाती, सुनार और भरिया प्रमुख हैं। भरिया सुनारों की ही एक जाति है जो काँसे पीतल के गहने बनाते हैं।

यहाँ पर थारू लोक गायकों का परिचय दिया जा सकता है जिनके अपने अपने गुण होते हैं। अधिकांश गीत नृत्य-गीत होते हैं। गायकों के कुछ विशेष नाम हैं मोढ़ी, मदारी, नचनियाँ, भरारा आदि। गाँव के बड़े बूढ़े जो गीतों के अच्छे जानकार होते हैं, उन्हें 'मोढ़ी' कहते हैं। ये लोग नृत्य कला में प्रवीण होते हैं। स्वांग में अभिनय कहते हैं और घंटों तक गीत सुना सकते हैं।

'मदारी' मुख्य गायकों का सहायक होता है जो पर्वतीय खंड के होवार का स्थानापन्न है। यह मुख्य गायक के साथ मृदङ्ग या अन्य वाद्य बजाता है। 'नचनियाँ' उस पुरुष नर्तक को कहते हैं जो स्त्रियों के कपड़े पहनकर नाचता है। 'भरारा' का महत्व इतने से स्पष्ट है कि यह न केवल जादू टोना और झाड़-फूंक का ज्ञाता होता है बल्कि भूतों-चुड़ैलों को भी अपने वश में रखता है।

उक्त पृष्ठभूमि में थारुओं की लोक रचनाओं को देखने पर कई बातें ज्ञात होती हैं। जैसे इनमें सभी संस्कारों के अवसर पर गीत प्रचलित नहीं है। विवाह संबंधी गीतों में प्रमुख उद्देश्य वर-वधू पक्ष को चिढ़ाना होता है इनमें राम-सीता का सौंदर्य-वर्णन, कृष्ण गोपीचन्द की जैसी कथाएँ प्रधान रहती हैं। भोजन पक्वान्नों की नामावली के साथ विवाह के प्रसंग भी जुड़ जाते हैं। मुंडन संस्कार किया जाता है किंतु तत्संबंधी गीत नहीं है। छठीं को छट्ठावन कहते हैं। इस समय के गीतों में पारिवारिक संबंधी की मधुर अभिव्यक्ति होती है।

थारू परिवार केवल पति पत्नी तक सीमित नहीं है। उसमें माता-पिता, बाबा-दादी, सभी सम्मिलित रहते हैं। स्त्री अपने पति का नाम न लेकर उन्हें 'ननद जी के बीरन' कह कर संबोधित करती है। नामकरण का कोई निश्चित दिन नहीं। अंत्येष्टि संस्कार विस्तार से किया जाता है किंतु गीत नहीं गाये जाते।

विवाह के समय आम की पूजा करना थारुओं के यहाँ बड़ा शुभ माना जाता है। उसके चारों ओर धागा लपेट कर लकड़ी तोड़ी जाती है जिससे विवाह का भोजन बनता है। इनका कहना है कि मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित होकर इनके पूर्वजों ने आम के पेड़ पर अपना जनेऊ लपेट दिया था, जिसका ये अभी तक निर्वाह करते हैं। थारू लोग जनेऊ नहीं पहनते। आम के चारों ओर धागा लपेटना इनके जनेऊ पहनने का प्रतीक है।

यहाँ पर व्रत केवल कथा एवं भण्डारे के अवसर पर किये जाते हैं। ये तीर्थों को बहुत मानते हैं। साल भर में किसी भी समय कोई व्यक्ति तीर्थ यात्रा के लिये प्रस्थान कर सकता है। लौटने पर श्रावण मास से कार्तिक मास तक भंडारे किये जाते हैं जिन्हें 'जग्य' कहते हैं। इन उल्लास पर्वों में पुरुष मृदङ्ग और पखावज लेकर गाते हुए नाचते हैं। यात्रा को जाते समय मल्हार गाया जाता है। कथाओं के अवसर पर 'गंगा हँदाय चले आवो रे सब तीरथवासी'-जैसे गीत गाये जाते हैं।

गीतों का एक मनोहर प्रकार 'भंगन लीला' कहा जाता है। 'भंगन' एक प्रकार की मछली होती है जिसका शिकार करते हुए थारू लोंग मस्त होकर

गीत गाते हैं 'भंगन रही तराई, तौ ठाड़ो समदा देख रहौ'—पंक्ति से आरंभ होने वाले इस गीत में जाल डालने का, मछली के इधर से उधर भागने का और अंततः जाल में फँसने का रोचक वर्णन है।

कथा गीतों में झींझी, के अंतर्गत नीवां का व्याह प्रसिद्ध है जिसमें रूपवती नीवां के जन्म से लेकर उसके विवाह तक का वर्णन है। पनघट पर उसका एक परदेसी से प्रेम हो गया। घर वालों को उसके विवाह की चिंता हुई। नाई-ब्राह्मण ने वर देखा और विवाह कर दिया। होली पर आने को कहकर नींवा अपने प्रिय जनों से बिदा होती है। इसमें स्थानीय प्रथा उल्लेखनीय है जिसके अनुसार लड़कियाँ होली के अवसर पर अपने मायके आती हैं। यह कल्पना प्रधान कथा गीत है।

कहीं प्राचीन जनश्रुतियों का कथा गीतों में वर्णन मिलता है। जैसे 'हन्ना' नामक कथागीत में गोस्वामी तुलसीदास के विषय में प्रचलित उस किवदंती को गीत बद्ध किया गया है। जिसके अनुसार वे पत्नी के मायके चले जाने पर उसका वियोग नहीं सह सके अँधेरी रात में नदी को पार कर जब वे पत्नी के पास पहुंचे तो उसने फटकारा। थारू गीत पत्नी की इस फटकार से समाप्त होता है—'जैसी प्रीत तुम हम सों कीनी, ऐसी करियों श्री राम से'।

'हन्ना' के गीत थारू समाज में लड़कों के गीत हैं जिनमें दस से पन्द्रह वर्ष तक के लड़के भाग लेते हैं। लड़कियों के गीत 'झींझीं' कहे जाते हैं जिनमें आठ से लेकर बारह वर्ष तक की लड़कियाँ भाग लेती हैं।

थारू लोगों की लोक रचनाओं का एक उल्लेखनीय रूप 'स्वाँग' है जिसकी चर्चा अवश्य होनी चाहिये। ये स्वाँग पद्य और गद्य दोनों में होते हैं इसलिए लोक नाट्य के अच्छे उदाहरण हैं। यह तथ्य इसलिए उल्लेखनीय है कि कुमाऊँ में रामलीला अथवा पाडंव लीला को छोड़कर लोकनाट्यों का विशेष प्रचार नहीं है। अतः थारूओं के ये लोकनाट्य उसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्वाँग अधिकतर भादों में अथवा कार्तिक की पूर्णिमा को गंगा नहाते समय अथवा होली के अवसर पर खेले जाते हैं। थारू लोग इसमें सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। रंगमंच पर वे दो समूहों में खड़े होकर गीत गाते हैं। रंगमंच पर नचनियाँ के अवतरित होने पर वे दूसरा गीत गाते हैं तब अभिनेता उपस्थित होकर भिश्ती, मेहतर, आदि के रूप में लोगों की नकल करते हैं। इन अभिनयों का एक ही उद्देश्य है—जनता का मनोरंजन करना।

इन स्वाँगों में संगीत, नृत्य और अभिनय तीनों संयुक्त रहते हैं। कथानक इतना ढीला-ढाला होता है कि उनमें कथा की अपेक्षा लोक विश्वास तथा परं-

पराएँ अभिव्यक्त होती हैं। इन स्वाँगों में स्त्रियाँ भाव नहीं लेतीं। वे स्त्रियों के आभूषण पहन कर घूंघट में मुंह छिपाए रहते हैं।

रंगमंच उसी प्रकार के खुले मंच हैं जैसे अन्य प्रदेशों में पाये जाते हैं। दर्शक मंच के चारों ओर वैठते हैं और अभिनेता चारों ओर घूम घूम कर अपने गीतात्मक संवादों को जोर जोर से दुहराता है। गाँव में सुविधा से प्राप्त हो जाने वाली सामग्री जैसे ग्रामीण वस्त्र, कोयला, काजल, सिंदूर, खड़िया आदि से उनकी साज सज्जा हो जाती है। लोकनाट्य के अध्येता जानते हैं कि इसी प्रकार के सहज, स्वाभाविक, अकृतिम अभिनय से लोकमंच का रूप निखरता है।

थारू समाज में प्रयुक्त होने वाले मुख्य लोकवाद्य ढोलक, डफ, मृदङ्ग, खँजरी, चमेली वाजा आदि हैं। ढोलक का प्रयोग स्त्री पुरुष दोनों करते हैं। स्त्रियों की ढोलक अर्थात् ढोलकी अपेक्षाकृत छोटी होती है। डफ काठ का बना वाद्य है जिसका एक सिरा खाल से मढ़ा जाता है। मृदंग लंबा और गोल होता है जिसे नृत्यगीतों के समय कमर में बाँधा जाता है। खँजड़ी एक छोटा सा वाद्य यंत्र है जो गोह की खाल से मढ़ा जाता है। चमेली वाजा चिलम जैसा होता है जिसका चौड़ा सिरा बकरे की खाल से मढ़ा जाता है। उत्साहित होने पर थारू स्त्री पुरुष थाली, लोटा, घड़ा जो भी मिले उसे बजाने लगते हैं। इस प्रकार थारू लोग अपने जीवन की विषमताओं को नृत्य-गीत द्वारा हल्का करने का प्रयत्न करते हैं;

थारू लोगों का निवास स्थान उनकी बोलचाल में 'थरुवाट' अथवा 'थरुहाट' कहा जाता है। उनके मूलवंश एवं यहाँ बसने के विषय में दो प्रकार की किंवदंतियाँ प्राप्त होती हैं। एक मत के अनुसार ये लोग अपने को चित्तौड़ से आया हुआ कहते हैं। दूसरे मत के अनुसार थारू लोग यहीं के मूल निवासी हैं जो मातृपक्ष में किसी राजवंश से संबंध रखते थे। चित्तौड़ पर जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ तो राजपूतों ने अपनी पत्नियों, बहू बेटियों को नौकर चाकरों के साथ तराई के सुरक्षित जंगलों में भेज दिया। कालांतर में इन स्त्रियों का संबंध इन्हीं पुरुषों से जुड़ गया और इनकी संतानें थारू कहलाईं।

अधिकतर थारू मानते हैं कि वे मूलत: चित्तौड़ के राणावंश से सम्बन्ध रखते हैं। सोलहवीं शताब्दी में उन्होंने अपनी मातृभूमि छोड़ दी। उनका पहला जत्था बारह राणाओं का था जिन्होंने अपने को उत्तरी भारत की तराई में छिपाया। यह स्थान अभी तक चोरगल्या के पास बारहराना गाँव कहलाता है जो खटीया से लगभग बारह मील की दूरी पर है। इसके बाद वे पहाड़ी स्थियों

के सम्पर्क में आये और जो सन्तानें हुईं वे थारू हैं। अर्थात् थारू राजपूतों और पहाड़ी स्त्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न हुए :

जहाँ तक थारू शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। इन विभिन्न मतों की गहराई में जाना यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं है किन्तु लोक व्युत्पत्ति (फोक इटिमॉलॉजी) पर ये अच्छा प्रकाश डालते हैं। किसी के अनुसार थारू शब्द 'थार' से बना जो संस्कृत शब्द 'थर' का रूपान्तर है। 'थर' का अर्थ स्थल होता है। राजस्थान मरुस्थल थार कहलाता है। वहाँ रहने के कारण थार, थारू नाम पड़ गया।

एक कल्पना है कि 'दारू' शब्द से थारू बना होगा। ये लोग अत्यधिक मदिरा का प्रयोग करते हैं। इसी कारण थारू कहा जाने लगा। एक कल्पना यह है कि तराई में रहने वाले निवासियों को पहले 'तारु' कहा जाता था जिससे थारू बन गया।

इस समय थारू लोग अपने मूल स्थान और पूर्वजों को भूल चुके हैं। इनके व्यक्तित्व का स्थानीय विकास हुआ है और ये 'थरुवाट' नाम की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

इनकी लोक रचनाओं की भाषा ब्रज और कन्नौजी से कितनी प्रभावित है, यह उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है। 'सारो' इनकी बोलचाल का प्रिय संबोधन है। 'ससुर' शब्द इनकी भाषा में गाली न होकर निकटता का वाचक है। इसीलिये बात बात में ये लोग 'हितुवा आय रहो है सारो' 'दउवा ससुर टेर रहो है', जैसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इनकी भाषा में आदर सूचक बहुवचन का प्रयोग नहीं किया जाता। पत्नी के लिये ''तैयार'' शब्द का प्रयोग अथवा पति के लिये 'लोगा' शब्द का प्रयोग राजस्थानी प्रभाव का द्योतक हो सकता है। किंतु अब तो इनकी भाषा हिन्दी मिश्रित कुमाउँनी ही कही जायेगी।

इनके साहित्य में प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द हैं—'परहल' (खेती), गुदरिया (रजाई) 'घल्ला' (घड़ा) 'सिकरी' (बिस्तर), 'दउव' (पिता) 'कुठिया' (नाज रखने के स्थान), 'ललउ' (छोटी बहिन), 'हेदाय' (नहाकर), 'गहराय' (कड़कना). 'बिजली' (पंखा), 'मुघनों' (सब्जी), 'हुनैसे' (वहीं से), पन्हैया' (जूतें), 'करिलिया' (करेला) आदि।

विकास योजनाओं के अंतर्गत थारू जनजाति में शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। वहां कृषि की उन्नति, बागवानी, भूमिसुधार, मुर्गी पालन आदि के लिये

निरंतर प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रौढ़ शिक्षा का भी प्रवन्ध किया गया है। इन सुधारों के फल-स्वरूप थारुओं का लोक जीवन बड़ी तेजी से बदल रहा है। वे लोग यह जानने लगे हैं कि उनका किस प्रकार शोषण किया जाता है। नये गीतों में प्रगति के नये स्वर गूंजने लगे हैं।

थारू गायक गतिशीलता को आलोचना की दृष्टि से देखता है। इसी कारण वह राष्ट्रीयकरण की नीति पर अथवा कर लगाने की नीति पर अथवा बदलती हुई सामाजिक पृष्ठभूमि के द्वारा उसके नवीन स्वरों की अच्छी तरह व्याख्या की जा सकती है।

११. लोक साहित्य की रूपरेखा

पिछले अध्यायों में हमने भौगोलिक, जातीय, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए कुमाउँनी लोक साहित्य के उन तत्वों का सामान्य परिचय दिया है जो इसके विभिन्न रूपों का निर्माण करते हैं। अब आवश्यक है कि इस लोक साहित्य की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जाये जिसके आधार पर इसकी विविधताओं एवं विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इस रूपरेखा द्वारा पर्वतीय लोकसाहित्य एवं उसका स्वरूप निर्धारित करने वाली परिस्थितयों के पारस्परिक गतिशील संबंधों पर भी रोचक प्रभाव पड़ेगा। वस्तुत: इन्हीं अन्त: संबंधों की स्थिरता अथवा सापेक्षिक गतिशीलता द्वारा किसी समाज के विशिष्ट काल खंड में विशिष्ट साहित्य का प्रादुर्भाव होता है।

संक्षिप्त विवेचन के लिए संपूर्ण कुमाउँनी लोकसाहित्य को सात प्रकार का मान सकते हैं---(१) लोकगीत, (२) कथागीत, (३) लोकगाथाएँ, (४) कथाएँ, (५) लोकोक्तियाँ, (६) पहेलियाँ, (७) अन्य रचनाएँ।

ये सभी प्रकार परस्पर विषय वस्तु एवं गायन शैली में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। और सब मिलाकर कुमाउँनी लोक-संस्कृति का समन्वित रूप उपस्थित करते हैं।

लोकगीत---(फोक साँग्स)

कुमाऊँ का लोक साहित्य गीतों की दृष्टि से विशेष समृद्ध है जो अनेक कारणों से अभी तक बहुत कम प्रकाशित हुये हैं। इनके द्वारा स्थानीय समाज की अभिव्यक्ति मुख्यत: दो रूपों में हुई है---(१) परम्परागत गीतों के रूप में जिन्हें संस्कार गीत कह सकते हैं और, (२) ऋतु त्योहार आदि विषयक गीतों के रूप में जिन्हें मुक्तक गीत कह सकते हैं।

संस्कार गीत---

पहले प्रकार के गीत पुत्र जन्म, छठी, नामकर्ण, विवाह जैसे पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर मुख्यत: स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। इनमें संस्कारगत शास्त्रीय विधान अनुष्ठान आदि किसी पुरोहित द्वारा संपन्न किए जाते हैं। स्त्रियाँ केवल तत्संबंधी प्रयोजनों के अनुकूल गीत गाती हैं। अत: संस्कार गीतों

के संरक्षण का पूरा श्रेय कुमाउँनी नारी समाज को मिलना चाहिये जिन्होंने न केवल इनके द्वारा हिन्दू संस्कारों को जीवित रक्खा है बल्कि अपनी परम्परा प्रियता का भी परिचय दिया है।

घर या समाज का प्रत्येक शुभ कार्य 'शकुनास्वर' से आरम्भ होता है जिसमें हिन्दू धर्म के सभी देवी देवता आमन्त्रित किये जाते हैं। गणेश, राम, ब्रह्मा आदि देवताओं से कार्य को सफल करने की प्रार्थना करते हुए घर के सभी निकटवर्ती एवं दूरस्थ संबंधियों को बुलाया जाता है। इन गीतों में गायक चर अचर जगत के साथ भी भावात्मक संबंध स्थापित करता है। वह पशु पक्षियों को न केवल स्वागत करता है बल्कि उन्हें विशिष्ट काम सौंपता है।

सुवाल-पथाई के एक गीत में तोते को सम्बोधित करते हुये ऐसी ही भावनाएँ व्यक्त की गई हैं जब विवाह के पूर्व लड़की के घर पर तैयारी होती है और सब स्त्रियाँ सुवाले, लड्डू आदि बनाने के लिए बुलाई जाती हैं। इस गीत में वनखंडी तोते के हरे गात की, पिंगलवर्ण चोंच की, ललछौंही आँखों की और बांकी नजर की प्रशंसा करते हुये सारे नगर को निमंत्रण देने का काम सौंपा जाता है। जब तोता पूछता है कि किस गाँव में किस घर की नारियों को निमंत्रण दें तो गायक अपने अपने संबंधियों का उल्लेख कर देता है। भावों की इतनी व्यापकता लोकगीतों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं दिखाई देती।

विवाहोपरांत पुत्री का विदा होना सभी स्थानों पर बड़ा करुण प्रसंग है। यही स्थिति कुमाउँनी लोक गीतों में वर्णित है। वह अपनी माँ की बड़ी दुलारी है जिसने उसे पाल पोस कर इतना बड़ा किया। उपयुक्त गृहणी होने के लायक उसे सभी बातें सिखाईं। किन्तु आज वह अनुभवी माता अपने को असहाय पाती है। पुत्री भी अपने माता पिता की छत्रछाया छोड़ने में अनमनी होती है। उसे यह चिंता सताती है कि जब परदेस में भूख प्यास लगेगी। तो क्या होगा ? उधर माता लोगों को सुनासुना कर कहती है—

"अरि अरि लोको, पंडित लोको, मेरि धिया दुख झन दीया !"

अर्थात् अरे पंडित लोगों मेरी पुत्री को दुख मत देना। कंधों पर भारी गृहस्थी सँभाले हुए, समाज में कठिन जीवन संघर्षों का सामना करते हुये और शताब्दियों से अपने लिये कुछ भी अवकाश न पाते हुए कुमाउंनी नारी समाज ने इसी प्रकार के गीतों द्वारा अपनी भावनाओं को प्रवाहित किया है। इसी प्रकार के गीत सारी मानव जाति के प्रति उसके अनन्त स्नेह और वात्सल्य के परिचायक हैं।

मुक्तक गीत—

दूसरे प्रकार के लोक गीत मुक्तक गीत हैं जो एक प्रकार से कुमाऊँनी लोक साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि वातावरण जन्य विशेषताओं के साथ इनमें सभी प्रकार की प्राचीन और नवीन भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। ये गीत भाव प्रधान हैं जिनमें सुख-दुख दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मिलती हैं। इनमें एक प्रकार का विरोधाभास मिलेगा। एक ओर प्रेम सौंदर्य की ऊँची कल्पनाएँ हैं, दूसरी ओर करुणा अवसाद और विशाद की सूक्ष्म अंतर्धारा विद्यमान है। कहना न होगा कि यह विरोधाभास इनकी भौगोलिक विषमताओं के कारण उत्पन्न हुआ है।

ये मुक्तक गीत नौ श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—

(१) नृत्य-प्रधान गीत
(२) अनुभूति प्रधान गीत
(३) तर्क प्रधान गीत
(४) संवाद प्रधान गीत
(५) स्फुट गीत
(६) ऋण गीत
(७) देवी देवता गीत
(८) व्रत त्योहार गीत
(९) कृषि गीत।

(१) नृत्य प्रधान गीत—

नृत्य प्रधान गीतों का मुख्य आधार न केवल नृत्य है। बल्कि इनका नामकरण ही विशिष्टि नृत्य-शैलियों के आधार पर हुआ है। इनमें 'झोड़ा', 'चांचुरी' और 'छपेली' मुख्य हैं।

अत्यन्त प्रसिद्ध नृत्य-गीत 'झोड़ा' है जो किसी भी शुभ अवसर पर स्त्री-पुरुषों द्वारा सामूहिक रूप से गाया जाता है। 'झोड़ा' शब्द संस्कृत के झटित शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है क्योंकि इसमें पग संचालन और लय दोनों द्रुत होते हैं। गति की तीव्रता के साथ इसका आकर्षण बढ़ता है। सामान्य झोड़ों से लेकर मिश्रित झोड़ों के अनेक रूपान्तर मिलते हैं, जिनका संगीत भिन्न-भिन्न धुनों में होता है। विषयवस्तु की दृष्टि से झोड़े धार्मिक, भाव प्रधान, और सामयिक कई प्रकार के होते हैं। धार्मिक झोड़ों में अधिकतर अवसर विशेष सम्बन्धी देवताओं का स्मरण किया जाता है। जैसे किसी गीत में भवानी माता से द्वार खोलने की प्रार्थना की गई है जिसे अनुकूल बनाने के लिये उपर्युक्त भेंट चढ़ाई जाती है।

भाव प्रधान झोड़ों में प्रेम-सौंदर्य की भावनाएँ व्यंजित होती हैं। आलंबन की चेष्टाएँ लोकगायक के मन में अनुकुल-प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करती हैं। इसलिये गीतों में सौन्दर्य का विकास होने पर किसी नायिका को झूठ बोलने के लिये कोसा जाता है। कहीं उससे देव मन्दिर में चलने के लिये कहा जाता है, कहीं भाभी अँगुली कट जाने पर अपने देवर के साथ दो क्षण बैठकर बीड़ी पीना चाहती है। कहीं प्रेमिका के आने के रास्ते पर प्रेमी बैठक लगा कर बैठ जाता है। इसी तरह की भावनाएँ इनमें प्रमुख हैं।

सामयिक झोड़ों में चारों ओर के जीवन जगत् पर दृष्टिपात किया जाता है। इनमें अंग्रेजी शासन से लेकर वर्तमान समय तक की सभी मुख्य प्रवृत्तियाँ मिल जाएँगी। इनमें राजनैतिक आर्थिक-सामाजिक और पारिवारिक सभी प्रकार की विचारधाराएँ अभिव्यक्त होती हैं। जैसे राजनैतिक झोड़े प्रायः शासन और नेताओं की टीका टिप्पणी करते हैं। अंग्रेजी सरकार की इसलिये आलोचना की गई है कि उसने छेद पड़े हुए पैसे चलाए। महात्मा गाँधी की इसलिये प्रशंसा की गई हैं कि उन्होंने स्वराज्य दिलाया।

पारिवारिक झोड़ों में मद्यनिषेध, मुर्गीपालन, चरखा कातना, खद्दर पहनना, सहकारिता बढ़ाना जैसे विषय चुन जाते हैं। गीतकार कहते हैं कि जब पशुपालन में ध्यान लगाओगे, तभी घी दूध पाओगे! मुर्गी पालने से उन्नति होगी जिसके अंडे बेचकर भैंस खरीद लोगे, भूमिदान करना चाहिये। जमीन हिस्सेदार की और आसामी सिर्तवान रह जावे तो गरीब की रक्षा कौन करेगा? इसी प्रकार के विषय लेकर कहीं आधुनिक जीवन की आलोचना की जाती हैं तो कहीं अभावों का उल्लेख होता है। कोई भी विषय किसी समय इन गीतों के लिये अग्राह्य नहीं हैं। प्रत्येक समय पर अवसर के अनुकूल ढाला जाना इनकी विशेषता है।

'चाँचुरी' अथवा 'चाँचरी' कुमाऊँ का समवेत नृत्य गीत है। इसका सबसे बड़ा आकर्षण वेश भूषा की विभिन्नता और रंगीनी है। सारा वातावरण रंग बिरंगे वस्त्रों से रंजित हो उठता है और दर्शकों की आँखे नर्तक समूह पर स्थिर हो जाती हैं।

'चाँचुरी' यद्यपि 'झोड़ा' से मिलता है और इसी कारण उसका प्राचीन रूप माना जाता है, किन्तु कुछ दृष्टियों से दोनों में भेद हैं। चाँचुरी में पद संचालन अधिक धीरे-धीरे होता है। और गीतों के स्वरों का आरोह-अवरोह भी भिन्न हैं। इसकी धुनों का खिंचाव दीर्घ होता है। जहाँ तक विषय-वस्तु का प्रश्न है, इसमें धार्मिक विषयों की प्रधानता रहती है।

धर्म-भावना प्रधान एक चाँचरी में गायक ने शिव जटाधारी भैरव की शरण में जाकर पूर्ण आत्म-समर्पण की आकांक्षा प्रकट की है। "शिव जटाधारी भैंरू तुम जे करला—"पंक्ति से आरम्भ होने वाली इस चाँचरी में सम्पूर्ण भारतवर्ष की एक राष्ट्रीय कल्पना की गई है। जिसका रक्षक शिवदूत भैरव है। हिमाचल से लेकर समुद्र पर्यन्त भूमि उसकी चौकी है इसका ध्यान उसे रखना पड़ेगा। अब वह चाहे जैसा करे।

'छपेली' प्रेमियों के नृत्य-गीत हैं जिनमें जोड़ा बनाकर नृत्य किया जाता है। अब यह नृत्य-गीत प्रेमी प्रेमिका के संदर्भ में रूढ़ सा हो चला है। इसकी विषय-वस्तु मनोरंजक, सरल एवं उल्लासपूर्ण होती है। प्रेमी अथवा प्रेमिका के एक हाथ में रूमाल और दूसरे में दर्पण रहता है। कुछ लोग हुड़का बाँसुरी लेकर अलग से गीत गाते हैं। कभी पुरुष ही हुड़के पर थाप देकर गाते नाचते हैं और स्त्री अभिनय द्वारा उस विषय को स्पष्ट करती है। इसमें नृत्य की गति तीव्र होती है। गीत में श्लील-अश्लील का अधिक विचार नहीं किया जाता। अतः वयस्क लोगों के बीच कम प्रचलित है। उल्लासपूर्ण संगीत और अर्थपूर्ण भावनाएँ इसकी विशेषताएँ हैं।

'छपेली' शब्द संभवतः 'छबीली' से बना होगा क्योंकि इसके अभिनय में न केवल छबीली स्त्रियाँ भाग लेती हैं बल्कि इनका लक्ष्य भी कोई सुन्दरी ही होती है। कहीं किसी पनुली रूपसी की चर्चा है जो चकोर पक्षी की तरह अनन्य प्रेम करती है। कहीं प्रेमिका से पूछा जाता है कि तुम इतनी सजधज कर कहाँ जाती हो। कहीं प्रेमिका को प्राप्त करने के लिये उसके घरेलू नौकर तक बनने की इच्छा प्रकट की गई है। कहीं पके हुए कीमू फल के बहाने उसके परिपक्व सौन्दर्य की चर्चा की गई है जिसका प्रेमी उपभोग करना चाहता है। "ओ साई वे किमू पाकी रया, खै जा साई वे किमू पाकी रया"—जैसी पंक्तियाँ इन्हीं भावनाओं की द्योतक हैं।

(२) अनुभूति प्रधान गीत

कुमाऊँ के दूसरी श्रेणी के मुक्तक गीत अनुभूति प्रधान हैं जिसमें नृत्य करना आवश्यक नहीं है। इनकी विशेषता भाव-सौष्ठव एवं अनुभूति की गहराई की दृष्टि से है। यदि भावों के अनुरूप बीच-बीच में अंग संचालन किया भी जाता है तो यह नृत्य की भाँति नहीं होता। ये गीत 'भगनौल' और 'न्यौली' दो प्रकार के हैं।

'भगनौल' उक्ति परक सौन्दर्य गीत है। चुनी हुई मार्मिक पंक्तियाँ एक केन्द्रीय उक्ति से मिला दी जाती हैं गायक जिसकी पुनरावृत्ति करते रहते हैं। स्वर विस्तार इनकी विशेषता है। इच्छानुसार जोड़ लगाकर पंक्तियों की संख्या

घटा-बढ़ा ली जाती है। भगनौले खड़े होकर किसी आलंबन को संकेत करके गाये जाते हैं। पुरुष गायक के साथी, जिन्हें 'होवार' कहते हैं उसके स्वरों का विस्तार करते हैं। उत्तर देने वाला व्यक्ति यदि उपस्थित हुआ तो इसी प्रकार का 'भगनौल' कहता है।

एक प्रसिद्ध भगनौल की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं—

"जागेश्वर धुरा बुरुंशी फुलि गे
मैं कै हूँ टिपुं फूला, मेरी हंसा रिसै रे ॥"

गीत का केन्द्रीय भाव यह है कि जागेस्वर पर्वत शिखर पर बुरुंश नामक फूल खिल गया है किन्तु मैं किसके लिये फूल बीनूं ? क्योंकि मेरी प्रेमिका हंसा तो रूठी हुई है। फिर अन्यान्य उपमानों द्वारा प्रेमिका के उभरते हुए यौवन का कानों की हिलती हुई बालियों का, उसके मुख की लाली का वर्णन करते हुए गीत अग्रसर होता है। इस प्रकार के जितने 'भगनौल' गीत हैं वे प्रेमिका के नख-शिख अथवा उसके शारीरिक सौन्दर्य से सम्बन्ध रखते हैं।

दूसरे अनुभूति परकगीत 'न्योली' है जिन्हें जंगलों में घास काटते हुए धीरे-धीरे स्वर बदल-बदल कर गाया जाता है। स्वरों का विस्तार इसकी संगीतात्मकता को बढ़ाता है 'न्योली' शब्द की व्युत्पत्ति नवेली शब्द से मानी जा सकती है जो इसकी शैली तथा विषय वस्तु दोनों पर लागू होती है। स्वर बदल-बदल कर गाना इसकी शैलीगत विशेषता है तो नवीन स्त्री को नवीन रूप में सम्बोधन करना इसकी विषय गत नवीनता है।

'भगनौल' की तरह इसमें भी दो-दो पंक्तियाँ चलती हैं। पहली पंक्ति असंबद्ध तथा जोड़ मात्र होती है जिसका विधान केवल तुक मिलाने के लिये किया जाता है। किन्तु 'भगनौल' की अपेक्षा इसमें जीवन चिंतन की प्रधानता होती है। इसके विरहपूर्ण स्वर आलापों को विशेष करुण एवं मर्मस्पर्शी बनाते हैं। 'न्योली' में प्रणय भावों की मार्मिक व्यंजना रजत धार जैसी उज्वल हैं। उनमें यौवनोचित मनोदशाएँ चित्रित होती हैं जिनमें विरहानुभूति की प्रधानता होती है। पर्वतीय जीवन में प्रेमियों के मिलन के क्षण कम होते हैं, वियोग के क्षण अधिक होते हैं। इसलिये भविष्य की आशंका मुखरित हो जाती है।

कुछ 'न्योली' गीत अभिव्यंजना की दृष्टि से अत्यंत मार्मिक हैं जैसे एक उदाहरण में कहा गया है कि नीचे बगीचे में जो लाई बोई थी उसकी दो पंक्तियाँ निकल आई हैं किन्तु मेरा हृदय यह सोचकर धड़कता है कि हे प्रेमी तुम्हारी स्थिति न जाने कैसी होगी—

"ताला वाड़ा लाई बोईद्वी पाती है रैं छ,
मेरो हीथा धड़कन छ तू कसो है रैं छ ।।
सुवा तू कसों है रैं छ ।।"

३. तर्क प्रधान गीत—

तीसरे प्रकार के मुक्तक गीत तर्क प्रधान हैं जिनके अंतर्गत कुमाऊँनी लोक गायकों के बीच प्रचलित प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्विता वाली शैली 'वैर' को स्थान दे सकते हैं। 'वैर' शब्द का शाब्दिक अर्थ संघर्ष है। यह संघर्ष अथवा वाक् युद्ध दो गायकों के मध्य होता है जिसका प्रमुख उद्देश्य है वाद-विवाद तथा प्रश्नोत्तर में एक दूसरे को पराजित करना। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये तथा परपक्ष का खंडन करने के लिये सैकड़ों तुकान्त—अतुकांत पंक्तियाँ तत्काल बना ली जाती हैं।

इसके विशिष्ट गायक वैरिया यदि घटना प्रवाह को समझ लें तो अन्य कथाओं के किसी भी प्रसंग को लेकर वे प्रस्तुत विषय के साथ उसका ताल मेल बैठाने में कुशल होते हैं। चूंकि इसमें तर्क वितर्क की प्रधानता रहती है अतः बुद्धि-प्रधान वैरिया अन्त में विजय प्राप्त कर लेता है। गीत-युद्ध समाप्त होने पर दोनों गायक एक दूसरे के प्रति गीतों से ही मङ्गल कामना करते हुए विदा होते हैं।

'वैर' गीतों का मूल कुमाऊँ की भौगोलिक स्थितयों में खोजना चाहिये। इस प्रर्वतीय भूमि में न केवल मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष होता है बल्कि वह कठोर भूमि से भी जूझता है। यहाँ उसे परम्परा से परिश्रम करना पड़ता है। इसी का प्रतिविम्व वैर गीतों में झलकता है। इनमें किसी संगीतवाद्य का प्रयोग नहीं किया जाता केवल दो प्रतिद्वंदी गायकों का स्वर इसका एकमात्र आधार है।

इसका गायन कठिन है क्योंकि इसके लिये ओजपूर्ण कंठ स्वर होंना चाहिये, लम्बी सांस खीचने की शक्ति होनी चाहिये। एक बार आरम्भ करने पर ये दिन रात चलते हैं। चूंकि विशाल जनसमूह को प्रभावित करने की इनमें अपूर्व क्षमता होती है अतः वैरियों की कुमाऊँ में बड़ी प्रतिष्ठा है। कहीं तो विवाहोत्सव में कन्या पक्ष वाले और वर पक्ष वाले एक एक वैरिया गायक को साथ में लेकर चलते हैं जो अपने अपने पक्ष की प्रतिष्ठा के लिये उत्तरदायी होते हैं।

प्रश्नों का अद्‌भुत होना 'वैर' गीत का मुख्य गुण है जो किसी भी प्रकार का हो सकता है। जैसे एक गायक ने पूछा कि कौन दिशा अपनी होती है कौन दिशा दूसरे की। मैंने कल रात सपने में ऐसा पुरुष देखा जिसके एक ओर लंबी चुटिया थी और दूसरी ओर लम्बी पेणो। उसकी एक आँख में काजल लगा

था और दूसरी आँख कोरी थी। वह बैताली पुरुष उभयलिंगी था। वह कौन रहा होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर भी इसी प्रकार की लाक्षणिक शैली में दिया जाता है। किन्तु उसमें भाव ग्रहण मुख्य रहता है। दूसरा गायक उत्तर देगा कि यह तो सारी सृष्टि की रचना करने वाला अर्धनारीश्वर भगवान था। वैर गीतों की विषय वस्तु का यदि विवेचन किया जावे तो ज्ञात होगा कि उनमें मध्यम वर्ग की विभिन्न स्थितियों, पात्रों के जातीय गुण दोषों का अधिक चित्रण है। वैरिया किसी भी असामान्य घटना अथवा व्यक्ति को व्यंग्य का पात्र बनाने में नहीं चूकता। यदि बनिया अपनी लोभी प्रवृत्ति के लिये उसका लक्ष्य बनता है तो गायक हरिजनों पर भी व्यंग्य कर सकता है जो उसकी दृष्टि में जनेऊ पहन कर ऊँची जातियों की नकल करने लगे हैं।

४. संवाद प्रधान गीत—

चौथी श्रेणी के मुक्तक गीत संवाद प्रधान हैं जो स्त्री पुरुषों के पारस्परिक संवादों से निर्मित होते हैं। एकान्तिक प्रेम से लेकर अत्याधुनिक विषय तक इनमें सम्मिलित हैं। ये स्त्री पुरुषों के संयुक्त रूप में अथवा अलग अलग भी गाये जा सकते हैं। स्त्री-पुरुषों में प्रेमी-प्रेमिका, पति पत्नी अथवा भाई बहिन इनके प्रमुख पात्र होते हैं। पुरुषों में पिता-पुत्र, भाई भाई, अथवा दो मित्र इसके पात्र हो सकते हैं। स्त्रियों में माँ, बेटी, सास-बहू अथवा ननद-भाभी के संवाद रूप में इनका प्रचलन मिलता है।

जैसे जीजा साली का संबंध मधुर होता है। दोनों खुलकर परस्पर ह्रास-परिहास करते हैं। एक गीत में जब साली जंगल से मालू घास काट रही है तो उसे न पहचानकर जीजा मालू काटने से वर्जित करता है। साली मनुहार करती है कि भैंस ब्याई हुई है, उसकी थोरी (पड़िया) बड़ी बहिन को प्यारी है इस लिये घास काट लेनें दो। घर-द्वार का परिचय मिलने पर जीजा उसे अनुमति दे देता है।

किसी गीत में पत्नी अपने पति से बरेली की छपी हुई चादर, अँगिया और घाघरी लाने को अनुनय करती है। पति कहता है कि तू अत्यन्त रूपवान है किंतु मैं परदेस जाने पर तेरे साहचर्य का लाभ नहीं उठा सकूँगा।

माँ-पुत्री के गीतों में कुशल कामना सबंधी भावनाएँ प्रमुख हैं किंतु सास बहू के गीतों में पारिवारिक कटुता के दर्शन होते हैं। सास-बहू को नाना प्रकार के कार्यों में उलझाती है जिसे पुराने जमाने की बहू तो सिर झुकाकर मान लेती थी। किंतु आधुनिक बहू उसका प्रतिवाद करती है। एक गीत में उल्लेख है कि

जब सास ने बहू से भूखी भैंस को घास डालने के लिए कहा तो उसने पलट कर उत्तर दिया कि मैं मिडिल पास हूँ, बड़े घर की बेटी हूँ, मुझसे न भैंस के लिये घास काटी जाती है न झूंगर मड़ुवे का मोटा अन्न खाया जाता है।

इसी श्रेणी के गीतों में जब स्त्रियाँ संवाद करती हैं तो उनके जीवन की मार्मिकता अभिव्यक्त होती है। एक गीत में दो स्त्रियों के घास काटने का वर्णन है। उनमें एक स्त्री का नाम मोती है। जंगल में वह किसी पक्षी के मुँह से मोती, मोती जैसा स्वर सुनकर चौंकती है और दूसरी स्त्री से कहती है—यह पक्षी जो बार-बार मेरा नाम ले रहा है, इसका कारण यही होगा कि या तो कोई मोती नाम की स्त्री यहाँ मर गई होगी जो पक्षी बन गई। अथवा किसी दूसरे पक्षी का नाम भी मोती होगा। दूसरी स्त्री उत्तर देती है कि यह जंगली काकड़ (पहाड़ी हिरन) होगा जो किसी पक्षी को पुकारता होगा। ये पशु-पक्षी अनेक प्रकार की बोली बोलते हैं और शिकारी उन्हें गोली मार देता है। तब मोती नामक पहली स्त्री उस वन काकड़ को संबोधित करती हुई कहती है कि तू सब स्थानों पर जाना किंतु मेरे मायके मत जाना अन्यथा मेरी माँ मेरा नाम सुनकर रोने लगेगी।

५. स्फुट गीत—

पाँचवें प्रकार के मुक्तक गीत, स्फुट गीत हैं जिनमें कुछ गीतों के उदाहरण तो मिलते हैं जैसे 'घन्याली', 'गणतउ', टोसुक', 'सोगुन' आदि। किन्तु कुछ गीतों के अब नाम मात्र शेष रह गए हैं, जिनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते जैसे 'कड़रवा', 'फाँक', 'पौड़े', 'डयोड़' आदि।

इसी श्रेणी के अंतर्गत कुछ सामान्य-गीत प्रचलित हैं जिनमें देश-प्रेम संबंधी राष्ट्रीय अथवा जातीय विषयों पर अथवा सामाजिक, आर्थिक स्थितियों पर टिप्पणी की जाती है। कहीं सुन्दर भविष्य की आशा और समृद्धि की कल्पना की जाती है। एक प्रसिद्ध गीत में अखण्ड भारत की कल्पना करते हुए हिमालय से समुद्र-पर्यंत संध्या के अवतरण का सुंदर चित्र खींचा गया है। यह गीत इस पंक्ति से आरभ होता है—

"के संध्या झूलि गे छ भगवाना नील कंठा हिमाला,
के संध्या झूलि गे छ हो रामा अकाशा, हे पताला···॥

कुमाऊँ के ऋतुगीत शैली की दृष्टि से मुक्तक और कथात्मक दो प्रकार के हैं इसलिये इनका विवेचन मुक्तक लोक गीतों एवं कथा गीतों (बैलेड) के नाम से अलग अलग होना चाहिये। किन्तु चैत्र मास में विशिष्ट ऋतु से संबंध रखने के कारण इनका पहले से ही एक स्वतंत्र वर्ग बना हुआ है। इस वर्ग को

'ऋतुरैंण' अथवा 'चैतू' कहते हैं। ये गीत केवल इसी मास में गाए जाते हैं। इसके गायक भी विशेष श्रेणी के औजी या ढोली कहे जाने वाले लोग होते हैं जो वसन्त ऋतु आरंभ होने पर गाँव गाँव में ढोल बजाकर इन गीतों द्वारा नव वर्ष की शुभकामना प्रकट करते हैं।

६. ऋतुगीत—

ऋतुगीतों में कुछ तो विशेष गीत हैं जिनमें सामान्य रूप से नव वर्ष के आगमन पर हर्ष प्रकट किया जाता है अथवा नवीन ऋतु का स्वागत किया जाता है। कुछ गीतों में ईश्वर को संपूर्ण सृष्टि का नियामक मानकर नव-वर्ष के उपलक्ष में धनधान्य की प्रचुरता, ऐश्वर्य संपन्नता प्रकट करते हुए दीर्घायु होने की मंगल कामना की जाती है।

कुछ गीतों में समयानुकूल बदलती हुई प्रकृति का चित्रण मिलता है जैसे काफल पकने का, बुरूंश के खिलने का कफ्फू पक्षी के बोलने का वर्णन रहता है। कुछ गीत अनुभूति प्रधान होने के कारण व्यक्ति विशेष की मनोदशाओं का चित्रण करते हैं। इनमें भ्रातृहीन बहिन की दयनीय और करुण स्थिति का विशेष उल्लेख होता है जो 'भिटौली' की प्रतीक्षा से मायके की दिशा देखती रह जाती है। उस घुघुता पक्षी का बोलना, अप्रिय लगता है। 'भिटौली' एक स्थानीय प्रथा है जिसमें भाई कुछ वस्त्र, मिठाई, पक्वान्न आदि लेकर चैत्र मास में बहिन को देने के लिये जाता है।

इस अवसर पर गायक एक गीतबद्ध कथा सुनाते हैं जिसमें दूरस्थ बहिन की अपने भाई से मिलने की आतुरता, भाई की कठिन मार्गों से हो कर यात्रा तथा उसकी अतीव उत्कंठा व्यक्त हुई है। यह कथागीत अपने मार्मिक प्रभाव के लिये प्रसिद्ध है और उचित रीति से गाने पर श्रोता की आँखों में आँसू उमड़ आते हैं। इसकी लय और मन्द धुन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त कुमाऊँ के ऋतुगीतों में 'काफलिया', 'रूड़ी', 'हिनौल' आदि गीतों का उल्लेख मिलता है जो प्राचीन काल में प्रचलित रहे होंगे। इन्हीं में होली गीतों की गणना की जा सकती है। फागुन के महीने सर्वत्र होलियाँ गाई जाती है। महीने भर इसका रंग चढ़ा रहता है। पहाड़ी भागों में सतराली, पाटिया, गंगोली, चंपावत, द्वारा हाट आदि स्थानों की होलियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

गायक की स्थिति के अनुसार होली के दो प्रमुख भेद हैं। एक 'खड़ी होली' जो घर के आँगन में खड़े होकर अथवा मार्ग में चलते चलते गाई जाती

है। दूसरी 'बैठकी होली' जिन्हें कुछ स्थानों में बैठकर रात रात भर गया जाता है। विषयवस्तु की दृष्टि से इन गीतों में बड़ी विविधता है। कहीं ईश्वर भक्ति संबंधी भावनाएँ प्रकट की जाती हैं जिनमें संसार की नश्वरता अन्नधन की संपन्नता जैसे विषय प्रमुख रहते हैं। कहीं उन्मुक्त शृंगार रहती है क्योंकि इस अवसर पर नैतिक छूट मिल जाती है। ऐसे प्रसंग छलड़ी के दिन विशेष सुने जाते हैं।

इन गीतों में राम-सीता-लक्ष्मण भी रंग मचाते हैं। लेकिन राधा-कृष्ण-गोरियों की रंग लीलाएँ मुख्य होती हैं। उल्लेखनीय है कि स्थानीय भाषा में होलियाँ उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। खड़ी होली के नाम से जो होलियां प्रचलित हैं वे ब्रज और खड़ी बोली की हैं।

(७) देवी-देवता गीत—

कुमाऊँ में देवी-देवताओं के अथवा व्रत-त्योहार संबंधी कुछ गीत प्रचलित हैं जो विशेष अवसरों पर सुने जाते हैं। इन्हीं के अंतर्गत पूजा गीत हैं। जिनमें पूजा-सामग्री का उल्लेख होता है। इनमें मासी का फूल अत्यन्त शुभ माना जाता है जिसे स्त्री-पुरुष विभिन्न देवी-देवताओं को चढ़ाते हैं। कल्पना की जाती है कि यह फूल किन किन देवताओं को चढ़ाया जायगा। तब कुल देवताओं के नाम लिये जाते हैं। एक गीत में जिज्ञासा है कि मासी का फूल खिला क्यों नहीं होगा? अनेक संभावनाएं प्रकट की जाती हैं—

'इजू लै फूल धूप नैं भरो, सो लेखा फूल नैं फुलो
हिमाल मासी को फूल······"

अर्थात् माता ने नहीं जलाई होगी, बुआ ने लीपा पोता नहीं होगा। इस कारण फूल नहीं खिला।

एक अन्य गीत में कत्यूर घाटी की स्थानीय देवी झाली-माली की स्तुति करते हुए घाटी की विशेताओं पर प्रकाश डाला गया है गायक की आकांक्षा है कि यदि वह देवी दाहिनी हो जाए तो वह तिब्बत जाकर चार सींगवाली भेड़ बकरियाँ खरीदेगा और सुहागा तथा घुँघराला ऊन लाएगा। देवी निसंतान व्यक्ति को संतान देती है, गरीबों को धन देती है, वह सब पर कृपालु हो! यह गीत प्रकृति पूजा का अवशेष मालूम होता है। किसी गीत में, दैंन होये, दैन पंच होये' देवा'—कह कर पंच देवों से दाहिना होने की प्रार्थना की गई है फिर क्रमशः भुम्याल, हरिज्यू, शिवज्यू, कृष्ण ज्यू, राधा ज्यू आदि देवों की पूजा करते हुए प्रत्येक से मंगल कामना की गई है।

(८) व्रत त्योहार गीत—

कुमाऊँ में छोटे-बड़े व्रत—त्योहारों की संख्या चालीस से अधिक होगी। चूँकि इनका संबंध मुख्यतः स्त्री वर्ग से है अतः इनकी गीत-कथाएँ उन्हीं के समाज में विशेष प्रचलित हैं। गीत-गायन के साथ अनेक प्रकार के अनुष्ठान किये जाते हैं। परिचय के लिये एक उदाहरण ले सकते हैं।

भाद्र शुक्ल सप्तमी और अष्टमी के स्त्रियों को दो मुख्य व्रत होते हैं जिन्हें क्रमशः अमुक्ता भरण सप्तमी और दूर्वाष्टमी कहते हैं। पहले दिन स्त्रियाँ सप्त-ग्रंथि युक्त डोर धारण करती हैं तथा शिवपार्वती का पूजन होता है। दूसरे दिन स्वर्ण, चाँदी या रेशम की दुर्ग बना कर उसे प्रतिष्ठित करके वे अपनी बाईं भुजा में बाँधती हैं।

इस समय गाये जाने वाले गीत में गणेश, राम और लक्ष्मण का शिव जी के घर के बाहर बैठकर पाँसां खेलने का वर्णन है। घर के भीतर सीत पार्वती आदि व्रत पूजा करती हैं जिनके निमित्त अपने स्वामियों से 'लांडुी को फूल' लाने की प्रार्थना करती हैं। स्वामी पूछते हैं कि सात समुद्र पार इस अंधेरी रात में गहरी नदी को पार कर कैसे जाएँगे? पत्नियाँ उत्तर देती हैं कि जाँघों तक जल में प्रवेशकर हाथों से तैरते हुए चले जाना इसी प्रकार लौट आना। तब क्रमशः उस परिवार वालों के नाम लिये जाते हैं जहाँ व्रत किया गया है।

इसी प्रकार डोर-दूबड़ नामक व्रत गीत महत्त्वपूर्ण है जिसमें नहा धोकर पार्वती जप करने हेतु बैठ जाती हैं और शिव जी से डोर दुबड़ लाने की प्रार्थना करती हैं।

इन व्रत-त्योहार संबंधी गीतों में भाभी, ननद, बहू आदि का पारस्परिक व्यवहार दर्शनीय है। न तो भाभी ननद का स्वागत करती है और न ननद चुप रह सकती है पहले खरी खोटी सुना कर भी जब उसके प्रति आदर-सत्कार प्रकट किया जाता है तो वह आशीर्वाद दे जाती है। पुत्र का होना कथा गीतों में भी शुभ माना गया है कन्या का होना एक प्रकार से अभिशाप माना जाता है।

९. कृषि गीत—

कुमाऊँ के कुछ प्रसिद्ध गीत कृषि गीत हैं जिन्हें सामान्यरूप से हुड़की बौल कहते हैं। इसी वर्ग में 'गुडैल' गीत हैं जो मूलतः गोड़ाई' की क्रिया से सम्बद्ध थे 'रोपाई' में धान के पौधे दूर दूर रोपे जाते हैं। जो 'प्रति रोपण (ट्रान्स-प्लन्टिशन) संबद्ध है तत्संबंधी गीत हुड़की बौल हैं। पौधे रोप दिये जाने के बाद घास पात की सफाई के लिए जो निराई (वीडिंग) की जाती है उसे 'गोड़ाई

कहते हैं तत्संबंधी गीत 'गुड़ैल' हैं। दोनों कृषि क्रियाओं की भिन्नता व्यवहार में बनी हुई है किंतु गीतों में मिल गयी हैं इसलिए दोनों की विषय वस्तु में कोई अंतर नहीं मिलता। इनकी चर्चा पहले हो चुकी है।

ब्वौल का शाब्दिक अर्थ श्रम होता है हुड़का प्रमुख वाद्य है। इस प्रकार हुड़की बौल का अर्थ हुआ हुड़का बजाते समय जो श्रम किया जावे अथवा हुड़के के स्वर के साथ जो गीत गाए जावें। चूंकि यह श्रम शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार का होता है, इसलिये इन गीतों को एक प्रकार से श्रम-गीत कह सकते हैं।

गीत बहुत धीरे-धीरे गाये जाते हैं क्योंकि गायक का प्रमुख उद्देश्य रोपाई करने वालों को उनके कार्य में संलग्न रखना होता है। ओजस्वी गीत गाने के साथ हुड़किया गायक रोपने वालों का कार्य भी देखता है। उन्हें शीघ्रता से काम करने का आदेश देता है। जहाँ पर गति ढीली पड़ी की वह गायन के बीच में हुड़के पर थपकी देकर कहता है—छाल हो छाल।'' अर्थात् सरासर हाथ चलाओ। रोपाई समाप्त हो जाने पर गायक मंगल कामना करता हुआ सबको आशीष देकर गीत समाप्त करता है।

विषय वस्तु के आधार पर ये 'हुड़की बौल, प्रार्थनामूलक, निमंत्रण मूलक कथामूलक, मुक्तक और मंगल कामना परक आदि होते हैं। प्रातः काल सर्व प्रथम रोपाई के पूर्व हुड़किया जो प्रार्थना करता है उसकी एक-एक पंक्ति को स्त्री पुरुष दुहराते हैं। ये प्रार्थनाएं अनेक प्रकार की हैं।

सर्वप्रचलित प्रार्थना में कहा गया है कि हे देवताओ ! इन गोतों में उत्पन्न होने वाला मोती की भाँति धान तुम्हें अर्पित किया जायेगा। हे गाँव की खेती के देवता भूमियाँ। तुम दाएँ बने रहना। पानी न बरसे, छायापूर्ण दिन बनाये रखना। यह छाया रोपने वालों और तोपने वालों पर बराबर पड़ती रहे। इससे हल चलाने वाले बैलों की क्षमता बराबर बनी रहेगी और बीज सब खेतों के लिए पर्याप्त हो जाएँगे।

प्रार्थना के उपरान्त गायक पंचनाम देवों तथा अन्य स्थानीय देवताओं को निमंत्रण देते हैं ताकि रोपाई का कार्य कुशलता से संपन्न हो। भूमि के देवता 'भूम्याल' थाती के देवता 'थत्याल' सभी से दाहिने बने रहने की प्रार्थना की जाती है। कत्यूर घाटी में झाली माली देवी को निमंत्रण दिया जाता है बौरारो की घाटी में पिनाकी देव को बुलाया जाता है।

एक गीत में रोपाई के उस दृश्य का वर्णन है जिसमें बैलों की बाईस जोड़ियाँ खेत जोतने में लगी हुई हैं छः बीसी (एक सौ बीस) स्त्रियाँ रोपाई कर रहो हैं और दस बीसी (दो सौ) पुरुष खेतों में पानी दे रहे हैं। दिन भर

ऐतिहासिक पौराणिक तथा अन्य जातीय पुरुषों के गीत गाए जाते हैं जिनकी चर्चा आगे की जाएगी।

संध्याकाल रोपाई समाप्त होने पर दो तीन गीतों में मंगल कामना करते हुए आशीर्वाद दिया जाता है। इसमें कृषकों के दीर्घायु होने सुखी संपन्न रहने की कामना के अतिरिक्त खेत के स्वामी से लेकर उसके बैलों तक के प्रति सुभ कामना प्रकट की जाती है। एक गीत में कहा गया है पुरुखों से लेकर गोदी तक का बालक जीवित रहे और गोठ के बैल भी जीवित रहें। बैल कृषि के आवश्यक अग हैं इसलिये बैलों को संबोधित करके अलग से गायक कामना करता है कि वह सींग से लेकर खुर तक इस खलिहान को भर दे—

'सैल्यों बल्दा सैल्यों सैलयों,

सींग के लयाले, खुर के ल्यालै, फिरि जालै खइ भरि जालै।···।' अंत में अनाज वृद्धि की कामना सहित गीत समाप्त होते हैं। गाय की कामना कृषक के मनोभावों को किस प्रकार मूर्तिमान करती है, इसके ये गीत अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

२. कथागीत (बैलेड)

ऊपर मुक्तक गीतों के संदर्भ में कुछ कथात्मक प्रसंगों की चर्चा हुई है जिन्हें विषय वस्तु एवं शैली की दृष्टि से वस्तुतः अलग वर्ग में स्थान देना चाहिये। एक तो ये कथागीत अपेक्षाकृत लंबे होते हैं दूसरे इनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथा के वृत्तान्त प्रमुख रहते हैं। इनका उद्देश्य किसी रीति-रिवाज, लोक—प्रथा, संस्कार आदि की झलक देना होता है। साथ ही ये इतने बड़े भी नहीं होते कि लोकमहाकाव्यों का स्थान ले सकें।

एक बात और है कि किसी क्रिया विशेष के अंग रूप में ही इनका गायन होता है। स्वतंत्र रूप में इनका प्रचार कम है। उदाहरणार्थ ये गीत संस्कारों ऋतु परिवर्तन, कृषि कार्य अथवा जागर गाथाओं की पूर्वभूमिका के रूप में गाए जाते हैं।

जैसे 'ज्यूंति पूजा' (जीव मातृका पूजन) के अवसर पर स्त्री समाज में एक कथा गीत गाया जाता है जिसमें कोई बालक अपनी माता से भोजन तैयार करने को कहता है उसे यमुना के उस पार जाना है। वहाँ से पूजा के फूल लाने हैं। माँ के पूछने पर कि तुम कैसे जाओगे? वह उसका समाधान करता हुआ डलिया बिनने वाले के पास जाता है। वहाँ से लुहार के पास जाता है। वहाँ से मार्ग की कठिनाईयों को पार करके नागिन के पास पहुँचता है जहाँ मासी का फूल है। नागिन उसे टालती है कि तू पइयाँ का फूल

ले जा। रूखी सूखी पत्ती ले जा। किन्तु बालक कहता है कि न तो पइयाँ के फूल से पूजा होती है और न झड़े-पड़े पत्तों से। मैं तो वृक्ष से तोड़कर मासी का ताजा फूल ही ले जाऊँगा। तदुपरान्त वह मासी का फूल लेकर लौट आता है।

इसी श्रेणी का एक दूसरा कथागीत वसन्त ऋतु में 'ऋतु रैण' के समय गाया जाता है। जब चैत का महीना आरम्भ होने पर भाई अपने माँ से ससुराल का पता पूछता है तो माँ उसे रोकना चाहती है। वहाँ आँगन में ऊखल कूटती हुई देवरानी-जेठानी उस नये आदमी को नहीं पहचान पाती। बहिन भी उसे नहीं पहचानती किन्तु वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर भाई-बहिन मिलकर रोते हैं। इसी बीच उसका पति आकर देखता है कि पत्नी पर-पुरुष से बातचीत कर रही है। वह पत्नी के भाई को धोखा देकर मार डालता है। रहस्य ज्ञात होने पर अत्यधिक दुख के कारण बहिन भी जीभ काटकर मर जाती है।

इस प्रकार के अन्य कथागीतों में कहीं प्राचीन वीरों के आख्यान गाये जाते हैं जिनमें उनके प्रेम शौर्य का उल्लेख होता है। कहीं कत्यूरी राजाओं के अनाचार-अत्याचार का वर्णन किया जाता है। कहीं पुराणों से भीमसेन-पांडव, दुर्योधन, रुक्मिणी-हरण, अभिमन्यु की मृत्यु, दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस आदि विषयों को आधार बनाकर गीत गाये जाते हैं।

इनके गायन में जो पूरा अख्यान नहीं गा पाता, वह हँसी का पात्र बनता है। चूँकि इन कथा गीतों की प्रभावात्मक गायक के वर्णन-कौशल पर निर्भर रहती है, इस कारण इनका कलेवर घटता-बढ़ता रहता है।

३. लोक गाथाएँ (फोक इपिक्स)

लोक गाथाओं अथवा अन्य लोकमहाकाव्यों का कथानक सुगठित और शिथिल दोनों प्रकार का होता है जिनमें स्थानीय विशेषताओं का विशद वर्णन मिलता है। कुमाऊँ में प्रचलित ये महाकाव्य, प्रमुख पात्रों के माध्यम से पूरे जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति करते हैं। ये पात्र विषम परिस्थितियों का सामना करते हुये आत्म-बलिदान कर देते हैं। किन्तु फिर किसी जादुई कृत्य द्वारा जीवित हो उठते हैं। ऐतिहासिक कही जाने पर भी इनमें पुराणों, कल्पित कथाओं का इतना मिश्रण हो गया है कि न तो इनका मूल रूप खोजा जा सकता है और न इनके कथानकों को परस्पर अलग किया जा सकता है।

विषय वस्तु अवसर विशेष और गायन परम्परा को ध्यान में रखते हुए इन्हें चार भागों में बाँट सकते हैं—

(१) परंपरागत गाथाएँ,
(२) पौराणिक गाथाएँ,

(३) धार्मिक गाथाएँ,

(४) वीर गाथाएँ ।

१. परंपरागत गाथाएँ—

इस वर्ग के अंतर्गत कुमाऊँ की दो महान लोकगाथाएँ आती हैं जो 'मालूसाही' नामों से प्रसिद्ध हैं । ये दोनों सही अर्थ में लोक महाकाव्य (फोक इपिक्स) हैं और रोमांटिक-ऐतिहासिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों से मिली-जुली हैं । 'मालूसाही' विषय वस्तु की दृष्टि से एवं क्रमागत वर्णनों को दृष्टि से परंपराओं में इस प्रकार विकसित हुई है कि इसके टक्कर की कोई दूसरी रचना कुमाऊँ में प्राप्त नहीं होती ।

हुण-देश अर्थात् तिब्बत-जोहार से लेकर काठगोदाम के ऊपर चित्रशिला तक का संपूर्ण पहाड़ी भूभाग इसके कलेवर में समा गया है । इसके तमाम सजीव वर्णन, भौगोलिक-ऐतिहासिक उल्लेख उस सामन्ती संस्कृति की देन हैं जो कुमाऊँ में विद्यमान रही है यह गाथा सारे कुमाऊँ में चार-पाँच रूपान्तरों में गाई जाती है ।

इसका इतिवृत्ति सुनपति शौका की पुत्री राजुली एवं बैराठ के राजा मालूसाही की प्रणय गाथा के चतुर्दिक गुंथा हुआ है । राजुली का नाम रैंजू, रैंजुला, अथवा राजुला भी मिलता है । मालूसाही का नाम एक जैसा है । मालूसाही संभवत: कत्यूरी वंश का शासक था जिसकी राजधानी बैराठ इस समय द्वाराहाट से भिकिया सैन जाने वाले मार्ग पर चौखुटिया-गिवाड़ से लगभग दो मील आगे है । बैराठ में उसके प्राचीन खंडहर अभी तक विद्यमान हैं । यहाँ की किंवदंतियाँ अभी तक राजुला के स्नान करने का तथा एक पनचक्की का संकेत करती हैं जो महल में घुलने वाले चावलों के पानी से चलती थी । गायक इस स्थान को 'रंगीली बैराठ' कहता है ।

मालूसाही गाथा का अभी तक व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो सका है । किंतु इतना कह सकते हैं कि यह नितान्त कल्पित नहीं है । इसमें ऐतिहासिक अंश अवश्य हैं जो गायकों के मुख में निरंतर निवास करने के कारण विकसित होते रहे हैं और अनेक प्रकार की आश्चर्यपूर्ण घटनाओं से भर गये हैं । सामाजिक दृष्टि से इसमें बहुपत्नीत्व प्रथा की झाँकी मिलती है । कन्या को बेचने की प्रथा अभी तक कुछ सीमान्त जातियों में अवशिष्ट है । राजुली संघर्षों से हार न मानकर जाति-व्यवस्था के विरोध में उठ खड़ी होती है । उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व गाथा को अत्यन्त रोमांचक बनाता है ।

दूसरी परंपरागत गाथा 'रमौल' अपेक्षाकृत शिथिल कथानाओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करती है क्योंकि इसमें रमौल वंश के पन्द्रह बीस वीरों की गाथाएँ सूत्रबद्ध हैं। गायक मुख्यतः गंगू रमौल, सिदुवा रमौल और बिदुवा रमौल की घटनाओं का वर्णन करते हैं जो रमौलीहाट में शासन करते थे। गाथा के आनुसार देवकी के जो सात पुत्र कंस द्वारा मारे गये थे उन्हीं में एक बरमी केवल थे। सिदुवा बिदुवा रमौल उनके मामा थे।

बरमी कँवल की गाथा में कृष्ण ने अपना शरीर रगड़ कर औरों को उत्पन्न किया जिनके द्वारा अपने भाई ब्रह्म कुँवर (बरमी कँवल) के पास संदेश भेजा कि तिब्बत के जूलाताल में रहने वाली मोती माला से वे चौंसर ले आवें। ब्रह्मकुँवर ब्रह्मकोट में रहते थे। सुरजू कुँवर की गाथा से ज्ञात होता है कि जब कृष्ण स्वप्न-दर्शन में तिब्बत की जोत माला पर आसक्त हो गये तब उन्होंने अपने भाई सुरजू के पास भ्रमरों द्वारा एक पत्र भेजा।

इन्हीं गाथाओं में बिदुवा को सिदुवा का छोटा भाई एवं उसी की भाँति बलवान तथा जादूगर कहा गया है। वह अजगर जैसा भयानक था, नौ मन का कंबल ओढ़ता था और उसका कमर बंद सौ हाथ लंबा था। एक 'रमौल' गाथा में भारती रमौल को रुक्मिणी का धर्म भाई कहा गया है। जिससे वह सेली सागर चले जाने का आग्रह करती है।इन गाथाओं में उल्लिखित स्थान अधिकतर गढ़वाल में हैं। गढ़वाल की ओर कृष्ण की प्रणयलीलाएँ बड़ी प्रचलित है और वे रानियों के रसिक तथा फूलों के शौकीन कहे जाते हैं।

किन्तु रमौलों का सम्बन्ध गढ़वाल से होने का तात्पर्य यह नहीं है कि कुमाऊँ में इस गाथा का कम महत्त्व है। इसके पात्रों पर एवं वर्णित आचार-विचारों पर मध्यकालीन सिद्ध नाथों का इतना प्रभाव है कि धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व बढ़ गया है। गंगू रमौल के पौत्र श्रीनाथ ने काकड़—बैराठ से बारहपंथी जोगियों को आमंत्रित किया जो भारी भारी चिमटे, लाठियाँ लेकर हाथी घोड़ों पर सवार होकर आए। गाथाओं में उन्हें स्वेच्छाचारी, नृशंस एवं पराक्रमी कहा गया है।

कुमाऊँ में इस गाथा के नाम पर रमौल-गायन की एक विशिष्ट शैली विकसित हो गई है जिसमें डमरू, काँसे की थाली ,नगाड़ा तथा शंख-घंट वाद्यों का प्रयोग होता है। गायक बहुत धीरे-धीरे गायन आरंभ करता है। वर्णन के बीच में उसके स्वरों का उतार-चढ़ाव तथा ओजस्वी स्वर सारे वातावरण को सजीव बनाए रखता है।

२. पौराणिक गाथाएँ—

• के आख्यान, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, स्वतंत्र रूप से कम,

किन्तु अन्य अनुष्ठानों की पूर्व पीठिका के रूप में अधिक गाये जाते हैं। कृषि कार्यों अथवा जागर गाथाओं के पहले उद्बोधन की भाँति इनका गायन किया जाता है। गायक अपनी बोलचाल में इन सभी प्रसंगों को यद्यपि महाभारत लगाना कहता है किन्तु विषय वस्तु का विवेचन करने पर ज्ञात होगा कि इनके अनेक वृत्तान्त राम, कृष्ण, शिव अथवा चौबीस अवतारों से सम्बन्ध रखते हैं। गायक इनकी पवित्रता पर इतना विश्वास करता है कि हर समय इन्हें सुनाने को तैयार नहीं होता।

इन गाथाओं में अधिकांश प्रसंग महाभारत सम्बन्धी हैं जिनमें अभिमन्युवध, भीम को विषदेन, शिशुपाल-प्रसंग, दुर्योधन भीम का वैमनस्य, कुंती का स्थान, अर्जुन वासुदंता का प्रेम-प्रसंग, भीम-हिंडिबा की प्रणय लीला जैसे विषय मुख्य हैं।

निसंतान कुंती ने जब लगातार बारह वर्षों तक तपस्या की तब दुर्वासा ऋषि ने उसे पाँच पुत्रों का वरदान दिया। मायके में रहते हुए जब उसने पुण्यात्मा तीर्थ में स्नान करते समय सूर्य को अर्घ्य चढ़ाते हुए उसका मंत्र जपा तो कर्ण का जन्म हुआ। बारह वर्षों तक धर्म मंत्र जपने से धर्मराज का, बारह वर्षों तक वायुमंत्र पढ़ने से भीम सेन का, इन्द्रमंत्र पढ़ने से अर्जुन का, पांडुमंत्र पढ़ने से नकुल का, तथा ब्रह्ममंत्र पढ़ने से सहदेव का जन्म हुआ।

लोकगाथा का यह वर्णन गायक की अपनी कल्पना के अनुसार ढाला गया है क्योंकि महाभारत के अनुसार कुन्ती के तीन ही पुत्र थे। इसमें जिस प्रकार पांडुपुत्रों से अधिक महत्व कुंती को दिया गया है, उसके पिता का नाम हिमपति बताया गया है, और गांधारी पार्वती को भी हिमालय की पुत्री कहा गया है, इस प्रकार कुन्ती, गांधारी, पार्वती तीनों का एक पिता की संतान होना अन्यत्र वर्णित नहीं है।

कौरव-पांडवों के वैमनस्य की इन गाथाओं में मौलिक कल्पनाएँ की गई हैं। दोनों की राज्य सीमा पर एक वृक्ष उगा था जिस पर लगे हुए मधु-मक्खी के छत्ते पर दोनों का विवाद हुआ। भीमसेन पेड़ पर एक-एक मुक्का मारकर एक-एक सीढ़ी बनाने लगे। अर्जुन ने वृक्ष पर चढ़कर सारा छत्ता तोड़कर अपनी गोद में भर लिया। उधर सौ भाई कौरव सेना सजाकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए।

एक रोचक आख्यान में पांडवों की बिल्ली और कौरवों की मुर्गी की लड़ाई वैमनस्य का मूल कही गई है। कुन्ती के पुत्र पांच भाई पांडव सेली जैंती बार नायक स्थान में रहते थे। उनकी लखिमा नामक बिल्ली हस्तिनापुर के कौरवों

की मुर्गी से लड़ते-लड़ते जब रक्त से लथपथ हो गई तो अर्जुन ने इसका कारण पूछा। कुंती ने उसको दुर्योधन के साथ युद्ध करने के लिए उकसाया।

कृष्ण का चरित्र इन गाथाओं में रसिक प्रेमी का है। उनकी प्रणय लीलाओं में यहाँ राधा की अपेक्षा रुक्मिणी और सत्यभामा की प्रधानता है। एक स्थान पर नागवंश की वंशावली गाते हुये लोकगायक वासुकी नाग को कृष्ण का पिता बतलाता है।

इस वंशावली के अनुसार राजा औक की दिति, अदिति, कद्रु और वनिता—चार रानियाँ थीं। दिति से देवता, अदिति से असुर, कद्रु से गीध और वनिता से नाग उत्पन्न हुए। कंस असुरों का राजा था। देवता-मनुष्यों पर अत्याचार करता था। उससे मुक्ति पाने के लिये ब्रह्मा से परामर्श करके देवताओं ने अपनी बाँहों को चीर कर रक्त भरा घड़ा कंस के पास भेजा। कंस ने वह घड़ा अपनी वृद्धा माता पवनरेखा को दिया। सूंघने पर उसकी नाक में घड़े की गंध पहुँची जिससे गर्भ रह गया। इस प्रकार उत्पन्न संतान देवकी कहलाई जिसके लिये ज्योतिषियों ने भविष्य वाणी की कि इसका आठवां पुत्र कंस का संहार करेगा।

उक्त गाथा की वंशावली एवं देवकी का जन्म सम्बन्धी प्रसंग न केवल पुराणों से भिन्न है बल्कि नृतत्व सम्बन्धी एक दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। यह उस प्राचीन लोकविश्वास का द्योतक है जिसके अनुसार संतान उत्पन्न करने के लिये मनुष्य का संसर्ग आवश्यक नहीं समझा जाता था। यहाँ रक्त की गंध गर्भाधान कर देती है।

कृष्ण जन्म का वृतान्त कुछ पात्रों-स्थानों के नाम को छोड़कर पौराणिक रूपरेखा पर आधारित है। उनकी रसिकता दिखाने के लिये कुसमा कोलिन का वृत्तान्त पर्याप्त है जो निम्न जाति की स्त्री थी। कुसमा स्नान करने के लिये यमुना किनारे आई। उसी घाट के नीचे कृष्ण स्नान कर रहे थे। पानी में उसका एक सुनहरा केश बहता हुआ पाकर वे उसकी खोज में चल दिये।

पौराणिक गाथाओं में राम सम्बन्धी वृतान्तों की संख्या कम है। राम का व्यक्तित्व लोक कल्याण एवं मर्यादा की भावना पर टिका हुआ है। संभवतः इसी कारण कुमाऊँनी लोक साहित्य में उसे कम स्थान मिला है। राम रावण युद्ध, मारीच वध, सीता वनवास के प्रसंग इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। सीता के वनवास का कारण वही चित्रांकन कहा गया है जिसमें रावण का चित्र बनाने पर ननद ने उसकी शिकायत कर दी थी। यह प्रसंग उत्तर भारत के अन्य भागों में प्रचलित वृत्तान्त जैसा ही है।

शिव का चरित्र गाथाओं में यद्यपि गम्भीर है, फिर भी उनके मनोविनोद की चर्चा की जाती है। वे पार्वती से न केवल हास-परिहास करते हैं बल्कि स्त्री इस पर व्यंग्य भी कहते हैं।

एक बार जब उन्हें संसार घूमने की इच्छा हुई तो गौरा पार्वती से बोले कि तुम नीलकंठ हिमालय में बैठी रहना। किन्तु गौरा हठ पूर्वक उनके साथ चलने लगी। शिव जी ने कितना ही कहा कि पुरुष को विश्वभ्रमण में नारी का साथ नहीं चाहिए। दोनों चलते चलते अलख वन पहुंचे जहाँ मक्खी तक नहीं भनकती थी। गौरा हड्डियों का एक ढेर देख कर घबरा गई। शिवजी ने विनोद किया कि संसार में तो नित्य ऐसी ही लीलाएँ हुआ करती हैं। इस प्रकार 'सुख सागर' और प्रेम सागर' की कुछ कथाएँ भी पौराणिक आख्यानों में गाई जाती है।

३. धार्मिक गाथाएँ—

जिन गाथाओं का आधार कोई धार्मिक अनुष्ठान अथवा स्थानीय विश्वास है उन्हें सामूहिक रूप से धार्मिक गाथा कह सकते हैं। ये गाथाएँ तंत्र-मंत्र, पूजा-पाठ और देवता नचाने की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है। बोलचाल में इन्हें 'जागर' कहते हैं।

'जागर' मूलतः जागरण शब्द का अपभ्रंश है जो देवता को जाग्रत करने के लिए अथवा देवता को नचाने के लिए रात रात भर गाये जाते हैं। इनके विशिष्ट गायक 'जगरिया' कहलाते हैं। अभीष्ट प्राप्ति के लिए देवता का आवाहन किया जाता है। उसे बुलाकर नचाने का तात्पर्य है अपनी ओर से संतुष्ट रखना तथा ऐश्वर्य, पशु, धन संपत्ति की रक्षा, रोगमुक्ति आदि की कामना करना।

जागरों का अविच्छिन्न अंग नृत्य है। नृत्य करके ही देवता प्रसन्न होते हैं। नाचने वाला व्यक्ति, जिस पर बुलाये गये देवता की आत्मा अवतरित होती है 'डंगरिया' कहलाता है। देवता, स्त्री या पुरुष किसी अंगों पर उतर सकता है। थाली, डमरू अथवा ढोल, नगाड़ा वाद्यों के बीच जब उसका उदबोधन आमंत्रण, और कथा गायन आरंभ होता है तो संपूर्ण वातावरण के प्रभाव से 'डंगरिया' उठकर नाचने लगता है और हुकारी भरते हुए जोर-जोर से घूमने लगता है। जगरिया उसकी गति विधि पर नियंत्रण रखता है। ऐसी स्थिति में चारों ओर बैठे हुए स्त्री-पुरुष अभीष्ट सिद्धि के लिये उससे प्रश्न पूछने लगते हैं।

नाचने की दृष्टि से, जिसे बोलचाल में 'औसाण' कहते हैं, कुमाऊँनी जागर दो प्रकार के हैं। एक धर के भीतर लगने वाले जागर जिनमें काँसे-की थाली हुड़का या डमरू बजाये जाते हैं। प्रसिद्ध ग्रामदेवता 'ग्वाल' का जागर भीतर

ही लगता है। दूसरे घर के बाहर धूणी में लगने वाले जागर हैं जिनमें बड़े-बड़े ढोल, नगाड़े बजाये जाते हैं। गंगनाथ और भोलानाथ देवताओं के जागर बाहर ही लगते हैं। चूंकि इनमें देवताओं की जीवनियाँ गाई जाती हैं इसलिये जागर घटनात्मक होते हैं।

कुमाऊँ में सब मिलाकर पचास से अधिक जागर गाथाएँ प्रचलित होंगी किंतु सभी स्थानों पर सभी देवता नहीं नचाये जाते। उनके प्रभाव के विशेष क्षेत्र होते हैं। इसलिये ग्वाल्ल, भोलानाथ, गंगनाथ और नंदादेवी के जागर बड़े व्यापक हैं जब कि इनकी तुलना में हरज्यू, निरंकार कलविप्त के जागर बड़े सीमित हैं। पश्चिमी कुमाऊँ में जहाँ कत्यूरी राजाओं के जागर प्रसिद्ध हैं वहाँ चन्द राजाओं के जागर नहीं गाये जाते। ये पूर्वी कुमाऊँ में चंपावत की ओर प्रचलित हैं।

इस प्रकार जागर गाथाएँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं—

(१) देवी देवताओं के जागर
(२) सहायक शक्तियों के जागर
(३) शासकों के जागर।

देवताओं में ग्वाल्ल, गंगनाथ, नंदादेवी आदि का उल्लेख हम लोक देवताओं के संदर्भ में पीछे कर चुके हैं। इनकी जीवनियाँ तथा कृत्य बड़े आकर्षक हैं जिनका स्थानीय इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता। कभी प्राचीन काल में कोई व्यक्ति प्रतिष्ठा पाकर पूज्य हो गया अथवा कोई राजा कारण-वश उल्लेखनीय हो गया। वे कालान्तर में लोक कल्पना के आधार बन गये। ये प्रायः अगुप्त आत्माएँ हैं जो पूजा बलि देने पर संतुष्ट होते हैं और देव रूप में प्रतिष्ठित हैं।

कुमाऊँ की सर्व प्रसिद्ध जागर-गाथा जिस ग्वाल्ल देवता से संबंध रखती है वह अनेक नामों से पुकारा जाता है। कम से कम चौदह-पन्द्रह स्थानों पर उसके मंदिर है। भूत-प्रेत उतारने अथवा कामना पूरी कराने के लिए उसकी पूजा होती है। जेठ और मार्गशीर्ष उसके विशेष महीने हैं। अन्याय होने पर ग्वाल्ल के मंदिर में घात डाली जाती है ताकि वह अन्यायी को दंड दे। चितई का ग्वाल्ल मंदिर इस दृष्टि से अत्यन्त जाग्रत माना जाता है।

देवियों की जागर गाथाओं में नंदा देवी, गर देवी, काली देवी, दुर्गादेवी आदि कई नाम मिलते हैं किन्तु नंदा देवी को छोड़कर अन्य देवियों का माहात्म्य ही अधिक वर्णित है। प्रायः किसी एक का नाम लेकर सबका जागर लगा देते हैं। नंदा देवी का जागर गाने में तीन रात्रियों से लेकर बाईस रात्रियों तक

लग सकती हैं जिसे गायक विषिष्ट वेश भूषा धारण कर गाते हैं। इसकी 'वैसी' प्रसिद्ध है। गर देवी के जागर में उसके अवतार धारण करने से लेकर दैत्यों का संहार करने, चतुर्भुज रूप धारण कर हाथ में खप्पर लेने तथा सभी दिशाओं में विद्यमान रहने का वर्णन है।

देवी देवताओं के साथ उनकी सहायक शक्तियों के जागर गाये जाते हैं जिनमें कलुवावीर, वालचन; कालूसाईं, भवानी परी, सवजीपरी आदि के नाम प्रमुख हैं। विश्वास है कि ये मुख्य देवताओं के अनुचर हैं अतः इसका आवाहन भी किया जाता है। ध्यान देने की बात है कि इन भूत प्रेतों के जागर स्थानों के अनुसार लग जाते। जैसे जोहार की ओर बालचन, कालूसाईं की प्रधानता है; असकोट की ओर वालचन भूसी, नौलू और हुसकर की प्रधानता है; सालम पट्टी में नागथान और छड़ौंज लगाए जाते हैं; कत्यूर घाटी में छुरमल्ल और शैवाज भूतों की प्रधानता है; रीठागाड़ में डॅगरिरौंल नाचता है तो लखनपुर में कलविष्ट नाचता है।

एक विशेषता प्रायः सब में है कि इनकी कथा का अंश बहुत कम मिलता है। इनकी विचित्र वेश भूषा अथवा भयंकर आकृति का वर्णन अधिक होता है। जैसे कलुवावीर की जागर में कहा गया है। कि उसे सात हाथ गहरा गढ्ढा खोदकर उसमें फेंक दिया गया, फिर भी वह सारे बंधन तोड़कर उठ खड़ा हुआ। कथानक इतना ही है,

स्थानीय शासकों को भी देवताओं की भाँति पूज्य मानकर उनके जागर लगाये जाते हैं। ये वस्तुतः वीर पूजा के उदाहरण हैं। इनमें धामदेव, बिरमदेव और जियासणी के जागर कत्यूरी शासकों से संबंध रखते हैं। बिरमा के जागर में एक अनाचार का उल्लेख है कि उसने अपनी मामी के साथ व्यभिचार किया। जियाराणी को धर्मातमा किंतु संतानहीन कहा गया है। वह चित्रशिला में स्नान करने गई थी। उसका एक बाल नदी में वहता हुआ सैयद पठान के घोड़े के पैर से उलझा। वह जियाराणी को घोड़े पर चढ़ाकर ले भागा रानी ने शर्त रक्खी की बारह वर्ष की अवधि तक तुम मेरे पिता तुल्य रहोगे। यदि इस बीच मेरी खोज खबर नहीं ली गई तो मैं तुम्हारी रानी बन जाउँगी। अंत में पता चलने पर कत्यूरी सेना उसे छुड़ा लाई।

चंद राजाओं में हरू का जागर प्रसिद्ध ही है जो स्वप्न में काई सौक्याण का मुँह देखकर उसकी दीपक सी ज्योति पर रीझ गया था। गायक कहता है—

"चित्त चंचल है गोछ मन उदेख,
उदेखा मुरुली गाड़ी कुरेश बांसुई,
ग्राधी रात माँजा, मुरुली को सुरबाजा
लटा पटा छोड़ी गंगा सेरा न्है गे ...।"

अर्थात् काई सौक्याण का रूप देखकर उसका चित्त चंचल हो गया मन उद्विग्न। आधी रात में मुरली उदास स्वर गुंजाता हुआ राज त्याग कर गंगा किनारे पड़ा।

ये जागर व्यक्तियों के चारित्रिक आधार पर किस प्रकार निर्मित होते हैं इसका एक सुंदर उदाहरण गंगोली की ओर प्रचलित पुरखूपन्त का जागर है। वे आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व गंगोली में पटवारी थे इतने क्रूर नृशंस थे कि उनके अत्याचार से सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। मरने के बाद उनकी मृतात्मा गंगोली के मनुष्यों को मनाने लगी। तब सें उन्हें जागर लगाकर संतुष्ट किया जाता है। उनके वंशज अभी तक द्वारा हाट आदि स्थानों में विद्यमान हैं। उनकी आत्मा अकल्याणकारी मानी जाती है।

जागर गाथाओं द्वारा कुमाऊँ के स्थानीय लोकविश्वासों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्रकृति पूजा और भूत-पूजा का तात्पर्य है कि लोग सामान्य वस्तुओं में पारलौकिक शक्ति का दर्शन करते हैं। ये भावनाएं एनिमिज्म की द्योतक हैं। इनमें आदिम संस्कारों के अवशेश बचे हुए हैं क्योंकि प्रायः सभी गाथाएँ पुनर्जन्म, कामनापूर्त्तिहेतु आत्मा का भटकना, पूजा द्वारा संतुष्ट होना जैसे विश्वासों पर आधारित हैं।

जागरों का नृत्यु की विभिन्न मुद्राओं से घनिष्ठ संबंध होना इस बात का प्रमाण है कि ये आदिम अनुष्ठानों की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व रखते हैं। धार्मिक दृष्टि से इनमें शैव-शाक्त तत्वों की प्रधानता है।

४. वीर गाथाएँ —

कुमाउँनी वीरों के युद्ध परक तथा व्यक्तिगत शौर्य संबंधी गाथाएँ यहाँ 'भड़ौ' कहलाती है। इसी वर्ग में 'कटकू' गाथाएँ सम्मिलित हैं जिनमें योद्धाओं की प्रशस्तियाँ गायी जाती हैं। 'कटकू' शब्द कटक—सेना से बना है। जब रणभूमि के लिए सेनाएँ चलती थीं तो उनका उत्साह बढ़ाने के लिए वीर कृत्यों का गायन किया जाता था। यही 'कड़खे', 'कड़कू' भी कहलाते हैं।

भड़ौ भट-भड़ का विकसित रूप है। कुमाऊँ अत्यन्त प्राचीन काल से वीर राजपुरुषों का केन्द्र रहा है। राजाओं के दरबार में जो वीर सेनापति होते थे वे वेतनभोगी सैनिकों को धन या जागीरें देकर अपने साथ रखते थे। ये सेनापति अपने स्वतंत्र 'बुंगा' (किले) बनाकर शक्तिशाली हो जाते थे। अपनी सहायता के लिये वे बाहर से मल्लों को बुला लेते थे। इन्हीं वीरों की गाथाएँ, 'भड़ौ' हैं।

ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर 'भड़ौ' गाथाओं का निर्माणकाल पर्याप्त विस्तृत रहा होगा यद्यपि इस समय कत्यूरी राजाओं के तीन या चार ही भड़ौ मिलते हैं। गोरखा राज्य के समकालीन ऐसी गाथा प्रचलित नहीं। अतः सामान्य रूप से दसवीं शताब्दी से लेकर अट्ठारवीं शताब्दी तक का समय इनका रचना काल है। कुछ गाथाओं में वीरों तथा राजाओं की लंबी वंशावलियाँ मिलती हैं जिनमें पीढ़ी दर पीढ़ी कुछ परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है।

ये गाथाएँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं—

(१) कत्यूरी—कंद राजाओं से संबद्ध वीर गाथाएँ।

(२) जातीय वीरों की गाथाएँ।

ये गाथाएँ स्थानीय इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्व रखती हैं।

कत्यूरी शासकों में धामदेव, विरमदेव, बीर देव, प्रीतमदेव आदि के जो आख्यान प्राप्त हैं उनसे शासकों की वीरता और दानशीलता पर प्रकाश पड़ता है। प्रीतमदेव की गाथा से ज्ञात होता है कि ब्रह्मदेव उसका भतीजा था और धामदेव उसका पुत्र। ब्रह्मदेव का विवाह डोटीगढ़ की राजकुमारी बिरमा दोतियाली से होना कहा गया है जिसके साथ चंद राजा त्रिमलचंद अपने पुत्र का विवाह कराना चाहते थे। एक गाथा में चंपावत के राजा से ब्रह्मदेव का युद्ध वर्णित है। उसे चंदों का जागीरदार कहा गया है। इतिहास में चन्दों के प्रबल हो जाने पर कत्यूरियों के सिर उठाने का वर्णन नहीं मिलता। किंतु इस गाथा के अनुसार वे पुनः स्वतंत्र हो गये थे।

चन्द राजाओं में उदयचन्द, रतनीचन्द, विक्रमचन्द, भारतीचन्द और गुरु ज्ञानी चंद के 'भड़ी' अधिक प्रचलित हैं। इनमें गरुड़ ज्ञानचंद का व्यक्तित्व अधिक आकर्षक है जिन्हें मुहम्मद तुगलक के साथ शिकार में वीरता दिखाने के लिये 'गरुड़' की उपाधि मिली थी। इनके राज्यकाल से नीलू कठायत, अजावा बम्पला, कुंजीपाल, कीर्त्तिपाल तथा सौनू-त्रिरमूँ जैसे वीरों की गाथाएं जुड़ी हैं।

जैसे अजवा बम्पला की गाथा में ज्ञानचंद ने अपने चार पहलवानों से लड़ने के लिए उसे बुलाया। अजवा बम्पला ने छः वर्ष की अवस्था में ही चारों पहलवानों को मार गिराया। दरबारियों के भड़काने पर पहले ज्ञानचंद ने उसे मार डालने की आज्ञा दी किंतु बाद में पुरस्कार और जागीर देकर बिदा किया।

इन गाथाओं के अनुसार विक्रमचन्द को आरंभ में दानशील किंतु बाद में भोग विलास प्रिय कहा गया है। इसने केवल चार वर्ष राज्य किया (सन् १४३३—१४३७)। भारतीचन्द को लोकप्रिय, साहसी, वीर तथा चरित्रवान पुरुष कहा गया है। इनके भड़ौ में मल्ल वंशजों के साथ युद्ध होने का वर्णन है

जो बमशाही के नाम से सोर-शीरा में प्रभुत्व जमाये हुये थे। भारतीयचन्द ने तेरह वर्ष राज्य किया (सन १४३७—१४५०)।

रतनीचन्द के भड़ी में अधिकतर डोटी के रैंका राजाओं से युद्धों का वर्णन है जिनको उन्होंने दबाकर अपना करद बना लिया। रतनीचन्द ने लगभग अड़तीस वर्ष राज्य किया (१४५०—१४८८)। गाथा गाते हुए लोक गायक बीच बीच में रुककर '-म्यारा भारती चना, म्यारा रतनीचना'' कहते हुए उनका स्मरण कराता रहता है।

दूसरे वर्ग में जातीय वीरों की गाथाएँ हैं जिनमें झकरुवा रौत, अजीत बौर, कालू कहेड़ी, मैद सौन, भीमा कठैत, परमा रौतेला- पचू दोराल, जैंदा किराल, माधो सिंह रिखोला, जैसे वीरों की गाथाएँ उल्लेखनीय हैं। कुछ वीरों की गाथाएँ उल्लेखनीय हैं। कुछ वीरों का इतिहास से संबंध है किन्तु अधिकांश की चर्चा केवल गाथाओं में उपलब्ध होती है।

ह्यूँराज महर संभवत: ठोरचंद-भागचंद का समकालीन था जिसके छः भाई इतने भयंकर थे कि चंदन के स्थान पर रक्त का टीका लगाते थे। चंपावत के राजा उनसे अनुचित कर लेते थे। इसलिये ह्यूँराज महर ने उनके सिर अपनी कुलदेवी झाली-माली को चढ़ा दिये।

वीर गाथाओं में स्थानीय इतिहास की प्रचुर सामग्री है। इनमें अनेक गड़ों, हाटों, किलों का उल्लेख है। ये भट किसी न किसी दुर्ग में रहते थे। इन स्थानों में बमोरागढ़, कोकूकोट, कीटालगढ़' खिमसारी हाट, दूनागिरि हाट, दैती गढ़, कुलावाली कोट आदि प्रमुख हैं।

मांधोसिंह रिखोला की गाथा इन गाथाओं की विशेषता का अच्छा परिचय देती हैं जो बौरारौ पट्टी का रहने वाला था। शिकार खेलने का शौकीन था एक दिन डोटीगढ़ के राजा नागमल के 'जौंलिया' अर्थात दूत ने आकर निवेदन किया कि डोटीगढ़ में उदिया झाकुरी नामक पैक (वीर) ने हलचल मचा दी है, आप नागमल की लाज रखिये। माधो सिंह ने उसे वचन दिया कि आज से आठवें दिन डोटीगढ़ पहुँचूंगा। प्रिय पत्नी ने उसे रोका कि अभी क्या जल्दी है? उसका विवाह अभी-अभी हुआ था। माधो सिंह ने कहा कि पृथ्वी पर भूदान श्रेष्ठ होता है और गायों में गोदान। लड़ाई के मैदान में तो कोई मरेगा ही। किन्तु परोपकार के लिये प्राण देना श्रेष्ठ त्याग है।

माधो सिंह ने स्वादिष्ट भोजन किया, रास्ते के लिए एक मन लड्डू बाँधे, सुनहरी कमर पेटी बाधी और दलजीत खाँड़ा लेकर निकल पड़ा।

सात दिन सात रातों तक चल कर माधोंसिह राम गंगा और सरयू के संगम पर पहुँचा। नदियाँ पार करते ही काली नदी के दूसरी ओर नागमल

ने स्वयं पहुँच कर उसका स्वायत किया। उसके आने की सूचना पाकर उदिया झाकुरी की त्योरियां चढ़ गईं। उसने अपनी गदा, चेलि मुंगर माधो सिंह के ऊपर चला दी। माधोसिंह ने उस गदा को पकड़ कर आकाश में फेंक दिया। उदिया झाकुरी का उत्साह ठंडा पड़ गया। उसकी पत्नी ने माधोसिंह का भेद लेना चाहा किंतु असफल रही। तब उदिया झकुरी ताल ठोककर उससे भिड़ गया। तीन दिन, तीन रात तक हार जीत का निर्णय नहीं हुआ।

अंत में दोनों ने एक दूसरे को मल्लयुद्ध के लिये ललकारा। घुटनों घुटनों तक रीठ के दाने फैलाये गए जहाँ दोनों अठपहल कुश्ती लड़ने लगे। उरिया झाकुरी उसे पकड़ने के लिए अपनी शाल जैसी भुजाएँ फैला ही रहा था कि माधोसिंह ने उसका गला धर दबाया। राजा नागमल ने प्रसन्न होकर उसे जागीर देकर डोटीगढ़ में रहने की विनय की। किन्तु माधोसिंह ने वीरोचित उत्तर दिया कि तुम्हारा राज्य बचा दिया है अब तुम्हीं इसका उपभोग करो। और वह स्नान भोजन के उपरांत अपने गाँव लौट आया। ग्रामीण लोकगायक आज हुड़के की थाप पर बड़ी जोर से गाता है—

"पैक मारी डोटीगढ़ राज त्यर बचै गई, ओ राजा नागमल।
आब तू पै आपन राज करी खाए, ओ राजा नागमल।।"

'भड़ौ' लोक गाथाओं में वीर दर्प और उल्लास के वर्प न स्थान स्थान पर मिलते हैं। प्रतिद्वंद्वी के सामने ओजपूर्ण शब्दावली में वाक्‌युद्ध होता है। अतिरंजना तो इनकी प्रधान विशेषता है ही। मनी पडयार का कूबड़ आकाश को छूता है और तोंद पाताल तक पहुँचती है। छः वर्ष का अजुवा बफौल अपनी वीरता प्रमाणित करने के लिये सौ हाथ ऊँचे लट्ठ पर से कूद पड़ता है। कुंजीपाल की छाती छः हाथ चौड़ी थी, जोंधे डेढ़ डेढ़ हाथ की थीं और उसका सिर पाँच मन का था।

जादू-टोना इन गाथाओं का अभिन्न अंग है। गोरखनाथ अपने साथियों सहित प्रकट होकर क्षेत्रपाल को एक वस्त्र झरझर खन्ना देते हैं। जिसे पहन-कर मनुष्य अदृश्य हो जाता था। ऐसी मुरली देते हैं जिसे सुनकर शत्रु नाचते नाचते मर जाता था। इन्हीं वस्तुओं की सहायता से क्षेत्रपाल ज्ञानचन्द के राज-महल में घुस गया। यही जातीय वीर क्षेत्रपाल अपनी मृत्यु के उपरान्त ग्राम देवता खितरपाल बन गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

कुछ वीरगाथाएँ रोमांचक परंपरा की हैं जिनमें प्रेमतत्व की प्रधानता है। इनकी विशेषता यह है कि गाथाओं का नामकरण प्रेमी-प्रेमिका अथवा केवल प्रेमिका के नाम पर किया जाता है। जैसे बरमदेव और बिरमा दोत्याली की गाथा, सिसाउ लली, दिगौली माना की गाथा आदि। ये गाथाएँ

सामन्ती युग की उपज हैं क्योंकि वीरता के साथ शृंगार-भावना जुड़ी रहती है जसी बीराण अपने जीजा पदमू की छाया देखकर लज्जा से लाल हो उठती है, पदमू उसे गोद में लिटा लेता है और वन फूलों से उसका शृंगार करता है। प्रेमिका तक पहुँचने के लिये जातीय वीरों को अनेक परीक्षाएं देनी पड़ती हैं, अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं किन्तु अन्ततः वे अपने अभियान में सफल होते हैं।

कुमाऊँनी लोकगाथाओं की पृष्ठभूमि में इतिहास और जातीय परंपराओं का कितना योगदान है इसका संकेत उपर्युक्त विणरण से मिल जाता है। लोकगाथाओं के पात्र कल्पित नहीं हैं। वे किसी न किसी राजा के दरबार से जुड़े हैं अथवा अपने वीर कृत्यों के कारण अमर हैं। इनमें वर्णित घटनाओं का तारतम्य मिलाना सरल नहीं है फिर भी इनसे आवश्यक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इनमें वर्णित वंशावलिया तथा धार्मिक परंपराएं विशेष महत्व रखती हैं। एक तो कहीं पर इनसे लिखित इतिहास की सूचनाओं का खन्डन होता है। दूसरे कहीं पर ये ज्ञात तथ्यों का संशोधन करती हैं। तीसरे कहीं पर ये अज्ञात तथ्यों का विवरण देती हैं। इसलिए धर्म और इतिहास की दृष्टि से इनका महत्व असंदिग्ध है।

४. लोक गाथाओं (फोक टेलस)

कुमाऊँनी लोक कथाएँ अथवा देव कथाएँ ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में समान रूप से लोक प्रिय हैं क्योंकि ये श्रोताओं का मनोरंजन करती हैं। परिवार का प्रत्येक छोटा बड़ा व्यक्ति वृद्ध अथवा बालक समान रूप से इनमें रस लेते हैं। घर की वृद्धा दादी या नानी दिन भर के कार्य निपटा कर जब रात में नाती-पोतों को सुलाने का उपक्रम करती हैं तो नींद आने पर भी वे बलपूर्वक आँखें खोलकर एक टक उसकी ओर आँखें लगाये रहते हैं। उनके मुखमंडल पर यह जानने की उत्सुकता बनी रहती है कि आगे क्या हुआ? वयस्क ग्रामीण इन्हें सुनासुना कर ठंडी और लंबी रातें बिताते हैं। और दिन भर गाय बकरी चराने वाले ग्वाले किसी छायादार पेड़ के नीचे बैठकर अपनी मित्र मंडली से घिरे हुए इनका आनंद लेते हैं।

कुमाऊँ में प्रचलित सभी छोटी-बड़ी लोक कथाएँ दस वर्गों में रक्खी जा सकती हैं। ये वर्ग इस प्रकार हैं—(१) भूत-प्रेत संबंधी कथाएं, (२) दैत्य-राक्षस संवंधी कथाएँ, (३) पशु-संबंधी कथाएँ, (४) पक्षी संबंधी कथाएँ, (५) वृक्ष-पुष्प संवंधी कथाएँ, (६) व्रत संबंधी कथाएँ; (७) साधु-सन्त संबंधी

कथाएँ, (८) धर्म संबंधी कथाए, (९) कारण मूलक कथाएँ, (१०) किस्से-चुटकुले आदि। कथाओं का प्रधान गुण सभी जगह उत्सुकता जाग्रत करना होता है। इस कसौटी पर ये लोक कथाएँ भी खरी उतरती हैं।

इन कथाओं का उद्देष्य मानवमात्र के मनोभावों को उदबुद्ध करना होता है। अतः सुखदुख, आशा निराशा, काम, लोभ ईर्ष्या आदि संबंधी ,सहज मनोवृत्तियों से ये जुड़ी रहती हैं। ये इतनी स्वाभाविक गति से चलती हैं कि इनमें आत्मीयता का गुण उत्पन्न हो जाता है। पात्रों की ये भावनाएँ किस प्रकार कुमाऊँ की स्थानीय विशेषताओं का आधारलेकर अभिव्यक्त हुई हैं यह दर्शनीय है।

लोकविश्वास तो प्रायः सभी कथाओं में मिलेंगे। विश्वास है कि गाय के निकट भूत-प्रेत नहीं आते। एक कथा में भूत-अतिथि का पीछा करता है किंतु अतिथि के उस गाय से चिपक जाने पर, जो बाहर बंधी हुई है, वह अनिष्ट नहीं कर पाता। विश्वास है कि पूर्वजन्मों के कर्म फल भी मनुष्य की तरह सो जाते हैं, तब उन्हें जगाना पड़ता है। 'भाग्यवान मूर्ख की कथा में इसी की व्यंजना है बड़े भाई द्वारा व्यंग्य किये जाने पर कि तुम्हारा भाग्य सात समुद्र पार सो रहा है, छोटाभाई उसे जगाने चल पड़ता है। एक गृध्रराज ने उसे वहाँ तक पहुँचा दिया जहाँ भाग्य सोया हुआ था। उसने भाग्य को जगाकर एक वृक्ष के सूखने का कारण पूछा। भाग्य ने बताया कि वृक्ष के नीचे धन गड़ा है और वृक्ष पर बैठा हुआ सर्प उसे हरा भरा नहीं होने देता। तुम साँप को मार डालो तो वह हरा भरा हो जायेगा और तुम्हें धन संपत्ति मिलेगी।

कुमाउँनी लोक कथाओं की एक विशेषता यह है कि ग्रामीण कथाकार संसार का कल्याण चाहते हैं इस लिये अंत में प्रायः यही वाक्य मिलता है कि—"इसी प्रकार सबके दिन फिरें। इनमें घटनाओं के घात-प्रतिघात से कथाएं आगे बढ़ती हैं किंतु पात्रों की निराशा आशा में बदलती है। हानि के स्थान पर लाभ होता है पात्रों का अदम्य साहस जो संसार भर की लोक कथाओं का प्रमुख गुण है, यहाँ दुर्लभ नहीं है।

ये कथाएँ गद्य में सुनाई जाती हैं। वाक्य छोटे और काव्यात्मक होते हैं क्योंकि वार्तालाप की शैली में इन्हें ढाला जाता है कथाकार आरंभ में परिवार की चिर-परिचित वस्तुओं का उल्लेख कर देते हैं जिससे श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने में सहायता मिलती है। यहाँ पर इन लोक श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने में सहायता मिलती है यहाँ पर इन लोक कथाओं के प्रमुख उदाहरणों से परिचित होना रोचक होगा।

'भूत-प्रेत अधिकतर मनुष्यों के सहायक रूप में वर्णित है। प्रसन्न हो जाने पर वे अपार धन देते हैं अथवा कोई इच्छा पूरी करते हैं। वे मनुष्य रूप धारण कर अपनी संतानों को गड़ा हुआ धन दिखाती है। भूत प्रेत गाँव से दूर रहते हैं और किसी गाँव या खेत की सीमा तक मनुष्यों का पीछा करते हैं।

एक कथा में कोई डाकिया किसी घर में ठहरा जहाँ एक बीमार व्यक्ति हुआ था। खाना बनाते समय जब बीमार व्यक्ति ने दस-बारह हाथ की दूरी पर रक्खे हुए नमक के बर्तन को अपना हाथ बढ़ाकर उठा लिया तो डाकिया उसे भूत-समझकर भाग खड़ा हुआ। बीमार ने गाँव के बाहर तक उसका पीछा किया। दूसरे दिन डाकिये को गाँव वालों से मालूम हुआ कि उस घर में चूँकि मृतक की दाह-क्रिया नहीं हो सकी थी, इस कारण उसकी आत्मा भटक रही है।

२. राक्षस-दैत्यों की कथाएँ रूप-परिवर्तन एवं प्राणों की अन्यत्र स्थिति पर प्रकाश डालती है। एक दैत्य अपनी रक्षा करने के लिए ककड़ियों के भीतर कोहरा, काँटों, पानी और पहाड़ को जमा रखता था जिनका प्रयोग करने पर वह विपत्तियों से बच निकलता था। उसके प्राण लोहे के पिंजड़े में सुरक्षित एक तोते के भीतर रक्खे हुए थे। उसकी कन्या ने जब यह रहस्य अपने प्रेमी राजकुमार को बताया तो राजकुमार ने तोते का गला घोंट दिया। राक्षस मर गया इससे मिलती-जुलती एक कथा में कोई राक्षसी अपने प्राणों को सात समुद्रपार पीपल वृक्ष में सुरक्षित मानती है जहाँ एक विशेष खड़ाऊँ पहनकर पहुँचा जा सकता है। वह खड़ाऊँ उसी के बकसे में, उसी के पलँग के नीचे रहता है। राजकुमार ने रहस्य जानकर उसे मार डाला।

३. पशु संबंधी कथाएँ पंचतंत्रीय शैली पर विकसित हुई हैं जिनमें गीदड़, सियार, लोमड़ी, भालू मनुष्यों की भाँति व्यवहार नर मनोरंजन द्वारा श्रोताओं को परोक्ष रूप से शिक्षा देते हैं। सियार दादा भालूदादा, गीदड़ और शेर, बकरी और बाघ, महत्वाकांक्षी चूहा जैसी कथाएँ इसी वर्ग में है जिन्हें सुनकर ग्रामवासी अट्टहास कर उठते हैं।

एक ब्राह्मण की सात लड़कियाँ सियार-भालू बाघ आदि के साथ विवाहिता थीं। वह बारी बारी से उनकी ससुराल में जाकर दिन बिताता था एक बार वह सियार के घर जा पहुँचा सियार ने बड़ी युक्ति से उसे घर बिठाया। एक तेलियन से तेल लिया, ग्वाले से दूध लिया। पनचक्की से आटा लिया और घर लौटकर ससुर का स्वादिष्ट पदार्थों से सत्कार किया। सियार की बुद्धि लोक-कथाओं से प्रसिद्ध है। अपनी बुद्धि से वह एक बार शेर की गुफा पर अधिकार

कर लेता है। शेर गुफा छोड़कर भाग जाता है शेर कहीं तो डरपोक कहा गया है, कहीं छल करने वाला।

लोककथाओं में बकरी बड़ी चतुर है। उसे अकेले चरना पसन्द है। चरवाहे द्वारा पूछे जाने पर कि तुम्हें खतरों से कौन बचाता है, वह उत्तर देती है—मेरे चार भाई (पैर) खतरों से दूर ले जाते हैं, दो भाई (सींग) गदा लेकर मेरी रक्षा करते हैं, दो भाई (कान) मुझे पर पंखा झलते हैं और एक भाई (पूंछ) मक्खियाँ उड़ाता है। बाघ के झपटने पर वह भागती नहीं है बल्कि चतुराई से उत्तर देती है कि मैं अपने मालिक के प्रति कर्त्तव्य पूरा कर चुकी मैंने इक्कीस बार बच्चे दिये जिनसे वह धनी हो गया किंतु अब मुझे बुढ़िया समझकर मार डालना चाहता है। पुरुष जाति बड़ी स्वार्थी होती है। इसलिये उसके हाथों मरना उत्तम है। परिणाम यह हुआ कि बाघ उसकी रक्षा करने लगा।

४. लोककल्पना की दृष्टि से कुमाऊँ की पक्षी कथाएँ (बर्ड लोर) अपना विशेष स्थान रखती हैं क्योंकि उनमें न केवल लोक विश्वासों की झलक मिलती है बल्कि उनके सारे कथानक करुणा की भूमि पर निर्मित किये गये हैं। ये कथाएँ पक्षियों की विशिष्ट ध्वनियों पर आधारित हैं तथा उन्हीं नामों से संबोधित की जाती है। इनमें मुख्य कथाएँ हैं 'काफक' पाकों तिसमोली तीस तीस, जूं हो, पुर पुतई पुर पुरै, 'मोतिया री रौ' आदि। कोई पक्षी वैसाख में आकर बोलने लगता है 'काफल पक गया है। कोई तिसमोली नामक पक्षी 'तीस-तीस' अर्थात् प्यास-प्यास चिल्लाता है। कोई पक्षी 'पुरै-पुरै' अर्थात् सब पूरे ही हैं-ऐसा कहता है।

ये पक्षी कौन थे, और ऐसा क्यों कहते हैं? यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लोककल्पना ने इनके लिये बड़ी रोचक कथाएँ गढ़ डाली। विशेषता यह है कि ये कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं बल्कि किसी न किसी सामाजिक वैषम्य अथवा पारिवारिक कटुता का प्रकाशन करती हैं। मनोरंजन तो इनका इनका गौड़ उद्देश्य है।

उदाहरणार्थ जूं हों' शीर्षक लोकप्रिय कथा ले सकते हैं जिसका अर्थ बोलचाल में है 'क्या मैं जाऊँ ?' किसी बहू ने ग्रीष्मकाल आने पर अपनी सास से मायके जाने की आज्ञा माँगी। सास ने उसे घर के अनेक कार्य बनाकर कहा कि इन्हें पूरी करके चली जाना। इस प्रकार वह कार्य करती गई, सास दूसरा कार्य बताती गई। सास ने कहा—धान कूट कर जाना। जब बिना ऊखल-मूसल के धान नहीं कुट सके तो पक्षियों ने सहानुभूतिवश आकर सारा कार्य

निपटा दिया। फिर सास ने कहा—कुल्हाड़ी लेकर एक गट्ठर लकड़ी काट कर ले आ फिर जंगल जाकर वह लकड़ी काट ले आई। इसी प्रकार समय बीत गया और मायके जाने की साध मन में लिये बहू की मृत्यु हो गई अब वही एक पक्षी बनकर 'जूं हो, जूंहो' अर्थात् क्या मैं जाऊँ कहती हुई इधर-उधर उड़ती फिरती है।

कुछ पक्षी जोड़ा बनाकर उड़ते हैं और साथ साथ बोलते हैं। उन पर कथाएँ गढ़ी गई हैं। कहीं पक्षी पशुओं की सहायता करते हैं अथवा आपस में मिलकर अत्याचारी पशु का विरोध करते हैं। लोमड़ी की तीतर से मित्रता हो जाती है। तीतर अपने खेल दिखाकर चक्की वाले को दूर ले जाता है। इस बीच लोमड़ी चक्की में आकर पेट भर आटा खा लेती है।

किसी कथा में पशु-पक्षी दोनों मिलकर मनुष्य की सहायता करते हुए दिखाए गये हैं एक गरीब बुढ़िया जब अपने पुत्र का विवाह-करना चाहती है तो उसका पालतू चूहा कहता है मैं सब अतिथियों के लिये धान जुटा लूंगा। बिल्ली कहती है मैं खर्च करने के लिए बहुत से सोने की मोहरें ले आऊँगी। कौआ कहता है मैं दूल्हे के लिये एक किमती अँगूठी ले आऊँगा। कबूतर कहता है कि मैं विवाह में तो कोई मदद नहीं कर सकता किंतु विपत्ति पड़ने पर अवश्य बचाउंगा। इस प्रकार पशु-पक्षी कथाएँ यदि मनोरंजन करती हैं तो लोक व्युत्पत्ति (फोक एटिमॉलॉजी) का भी सुन्दर परिचय कराती हैं।

५. वृक्ष-पुष्प विभिन्न कारणों से लोक कल्पना के आधार बने हैं। पीपल का वृक्ष धार्मिक कारणों से पूजनीय है। 'बुरूंश' लाल फूल है जिसके पीछे किसी निराश प्रेमी का हृदय छिपा माना जाता है। 'प्यूरड़ी' एक पीला फूल है जिसे कहीं 'प्यूली' कहते हैं। लोक कथा के अनुसार वह सौरीकोट में रहने वाली विवाहित स्त्री थी। प्रातः काल वह सखियों के साथ पानी भरने गई। वहाँ भूपू रौतेला उसपर रीझ गया। जब वह देर से घर लौटी तो पति ने लात मारी उसका सिर फूट गया और इसके प्राण उड़कर स्वर्ग लोक को चले गये। तभी से वह 'प्यूंली' फूल बन गई। लोक जीवन में यह पीला फूल पवित्रता और कोमलता का प्रतीक माना जाता है।

६. व्रत सम्बन्धी कथाएँ स्त्री समाज से सम्बन्ध रखती हैं व्रत यद्यपि पुरुष भी रखते हैं किन्तु तत्सम्बन्धी कथा कहने सुनने की प्रवृत्ति स्त्रियों में अधिक होती है। ये उनके धार्मिक अनुष्ठानों एवं आचार-विचारों की व्याख्या करती हैं। कुछ कथाएँ सप्ताह के दिनों पर हैं जैसे रविवार की कथा। कुछ विशेष प्रयोजन से सुनाई जाती हैं जैसे सत्यनारायण की कथा। वैशाख में स्त्रियाँ वट सावित्री का व्रत करती हैं। इस समय सावित्री सत्यवान की कथा प्रचलित है।

इन कथाओं में द्रष्टव्य है कि देवी देवता सामान्य स्त्री पुरुषों जैसा ही व्यवहार करते हैं। उनके नैमित्तिक कार्यों में अलौकिकता का समावेश नहीं होता। इनके द्वारा कहीं पर पूर्व जन्म के कर्म फल पर प्रकाश पड़ता है अथवा ईर्ष्या का दुष्परिणाम दिखाई देता है जैसा कि संकट चतुर्थी की कथा में है।

७. साधु-संतों की कथाएँ एक प्रकार के धार्मिक अवदान (लीजेन्ड) हैं जिनमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। यह पार्वत्य-प्रदेश अनेक संत महात्माओं की क्रीड़ा भूमि रहा है जिनके विषय में अनेक प्रकार के चमत्कार पूर्ण वृतान्त सुनाये जाते हैं। इन सन्त महात्माओं ने न केवल अपनी साधनाओं द्वारा जनता को प्रभावित किया बल्कि अपने उपदेशों से शासकों का भी पथ-प्रदर्शन किया। नागनाथ सिद्ध ने राजा कीर्तिचन्द (सन् १४८८-१५०३) को एक चमत्कारी चाबुक दिया था जिसकी सहायता से उसके सेनापति ने अकेले डोटी की सेना को हरा दिया। जहाँ तक उनके शंख का स्वर सुनाई देता था वहाँ तक चंदों का राज विस्तृत हो गया।

आधुनिक काल में सोमवारी बाबा, रौखड़िया बाबा, नीमकरौली बाबा की पहाड़ों में बड़ी प्रसिद्धि रही है और इनके चमत्कारों के विषय में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं। सोमवारी बाबा प्रायः हलद्वानी, काकड़ी घाट और पदमबोरी नामक स्थान में रहते थे। नित्य सोमवार को हवन करते थे। उन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। एक बार उनके भंडारे में घी कम हो गया। बाजार में नहीं मिला तो बाबा अपने शिष्यों से बोले कि जाकर गंगाजी (नदी) से उधार ले आओ। कढ़ाई में सौ घड़े गंगाजल डाला गया जिसमें पूड़ियाँ घी की तरह सिकने लगीं। भंडारा समाप्त हो जाने पर उन्होंने कहीं से उतना ही घी खरीद कर गंगाजी का उधार चुकता दिया। इसी प्रकार के वृतान्त अलमोड़ा के निकट खगमरा कोट में रहने वाले मोहनदास बाबा के विषय में प्रचलित हैं जिन्होंने कुछ वर्ष पूर्व शरीर छोड़ दिया।

८. धर्म सम्बन्धी कथाओं में प्रायः धार्मिक स्थानों के मूर्ति मन्दिरों से संबंध रखती हुई कथाएँ प्रचलित हैं। कुमाऊँ के स्थान प्राचीन विशेष कर मंदिर किसी न किसी देवता या पुराण पुरुष से सम्बन्ध रखते हैं जैसा कि धार्मिक पृष्ठभूमि में स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ पर नलदमयंती ताल, घटकू देवता का मन्दिर चित्रशिला जैसे नामों के सम्बन्ध में किंवदंतियों का उल्लेख किया गया है। जैसे बागेश्वर नाम कैसे पड़ा? इसके विषय में कथा है कि यहाँ पर मार्कण्डेय ऋषि तपस्या कर रहे थे। वशिष्ठ जी उत्तर से सरयू नदी को ले आये। सरयू मार्कण्डेय ऋषि को देखकर रुकी और एक तालाब के रूप में परिणत हो गई।

वशिष्ठ यह देखकर शिवजी के पास पहुँचे कि वे कोई उपाय करें। तब पार्वती गाय बनकर वहाँ पर उनके पास चरने लगी और शिव जी व्याघ्र बन-

कर उसके ऊपर झपटे। जब मार्कण्डेय ऋषि उसकी रक्षा करने के लिये उठे तो सरयू को आगे बढ़ने का मार्ग मिल गया। शिवपार्वती ने अपना मूल रूप धारण कर लिया। मार्कण्डेय ने उनकी स्तुति करते हुए कहा कि आपका एक नाम व्याघ्रेश्वर भी है। तभी से इस स्थान का नाम व्याघ्रेश्वर बागेश्वर पड़ गया। इस तरह की कथाएँ वस्तुतः स्थानीय अवदानों, (प्लेसलेजेंड्स) के अंतर्गत समाविष्ट होती हैं।

९. कुमाऊँ में कारण मूलक कहानियाँ भी मिलती हैं जिनकी संख्या बहुत कम है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ जो कहानी कही जाती हैं वह भारत की अनेक आदिम जातियों में प्रचलित हैं यह कथा एक अंडे के फुटने से सम्बन्ध रखती है जो फूटकर दो टुकड़े हो गया। नीचे का आधा भाग धरती बन गया और शेष अंश धरती में समा गया। निरंकार ने इस प्रकार सृष्टि की रचना की।

१०. स्थानीय लोक कथाओं का अंतिम वर्ग किस्सों और चुटकुलों का है जिनमें बुद्धि का चमत्कार दिखाई देता है। किसी जाति विशेष के गुण-अवगुणों पर प्रकाश पड़ता है अथवा जीवन भर सहायक होने वाली अमूल्य शिक्षाएँ दी दी जाती हैं। कुछ कथाएँ केवल हास्य विनोद उत्पन्न करती हैं। पिनकट्टा पांडे की कथा ब्राह्मणों की जातीय विशेषता पर प्रकाश डालती है, जो काकतालीय न्याय से किसी रहस्य को खोलने में सफल हो जाते हैं।

मूर्ख समझे जाने वाले व्यक्ति भी बुद्धिमान होते हैं इसको प्रमाणित करने के लिये अनेक कथाएँ गढ़ी गई हैं जैसे रंगोड़ पट्टी का एक आदमी बुद्धिनाथ था जिसे उसके भाई बुद्धिनाथ कहते थे। वह सभी भाइयों से अलग रहकर एकान्त में पहाड़ी गीत गाता रहता था। घटना चक्र में वह अपनी बुद्धिमत्ता से केवल अपने नाक कान ही सुरक्षित नहीं रखता बल्कि सात सात बुद्धुओं को साथ लेकर घर लौटता है।

कुमाऊँ में लटुवा कोठयारी की सन्तान शीर्षक से अनेक रोचक किस्से प्रचलित हैं। लटुवा के सात पुत्र थे। एक बार वे यात्रा करने निकले तो अपनी संख्या गिनने लगे। जो भी गिनती करता वह अपने को छोड़ देता। इसलिये उनकी संख्या छः ही रह जाती। एक यात्री ने उन्हें परेशान देखकर पूछा कि मैं अगर संख्या गिन दूँ तो क्या दोगे? वे बोले—जो माँगो। उसने जूता निकाल कर पटापट संख्या गिननी शुरू की तो पूरे सात निकले। लड़कों ने बड़े प्रसन्न होकर कहा कि तुमने सातवां खोज दिया।

एक बार ये भाई अपनी माँ के लिये घाघरा बनाने चले। कपड़ा खरीदा और एक पेड़ से मोटाई की नाप ली गई। कपड़ा तने पर फैलाकर सिल दिया

गया। अब प्रश्न हुआ कि इसे निकाला कैसे जाए? एक ने कहा पेड़ को काट लो, दूसरे ने कहा कपड़ा फट जायेगा। तीसरे ने कहा —कपड़ा कैसे फटेगा गिरते हुए पेड़ को हम सब संभाल लेंगे। पेड़ काटा गया और उसे संभालने के चक्कर में सातों भाई दब कर मर गये। इसी प्रकार के किस्सों से कुमाऊँ की ग्रामीण जनता अपना मनोरंजन करती है।

५. लोकोक्तियाँ और कहावतें (प्रॉवर्ब्स)

कहावतों को जनसाधारण की व्यावहारिक बुद्धि का संक्षिप्त कोष कहना चाहिये। ये सचमुच लोक की उक्तियाँ हैं क्योंकि ये किसी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं होती हैं। अनेक शताब्दियों का ज्ञान और अनुभव इनमें निचोड़ कर रख दिया गया है। कभी एक ही उक्ति से इतनी बड़ी बात ध्वनित हो जाती है कि उसका तत्काल प्रभाव पड़ता है। संक्षिप्तता, सारगर्भिता और चटपटापन इनके तीन मुख्य गुण हैं।

कुमाऊँ की छोटी बड़ी कहावतें सात प्रकार की मानी जा सकती हैं—(१) जैसे सामाजिक कहावतें, (२) जीवन दर्शन सम्बन्धी कहावतें, (३) ऐतिहासिक कहावतें, (४) स्थान विशेष सम्बन्धी कहावतें, (५) नीति उपदेश प्रधान कहावतें। (६) हास्य व्यंग्य प्रधान कहावतें, और (७) कृषि वर्षा सम्बन्धी कहावतें, आदि।

१. कहावतों का वर्गीकरण चाहे जिस प्रकार किया जाय किन्तु इनका प्रमुख उद्देश्य किसी न किसी जीवन सत्य का उद्घाटन करना होता है। लोक प्रियता के आधार पर भी इन्हें प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध जैसे वर्गों में रख सकते हैं, यद्यपि प्रचार सभी का है। कुछ कहावतें प्रत्येक समय लोक समाज की जीभ पर रहती हैं जब कि कुछ अपनी प्राचीनता के कारण अब लुप्त हो गयी है।

स्थानीय बोलचाल में इनका स्वाद गुड़ जैसा कहा गया है जो दिन में भी मीठा होता है और रात में भी। एक कहावत है—"को जाणो, माछो कभत पाणी पीं।" अर्थात् कौन जाने मछली कब पानी पीती है? इसका संकेत है कि दुष्ट व्यक्ति के प्रति अविश्वास प्रकट करना चाहिये। न जाने वह कब हानि पहुँचा दे। कुमाऊँ की एक प्रसिद्ध कहावत है—

"सासुलै ब्वारि हुणि कै, ब्वारि लै कुकुर हुणि कै,
कुकरैल पुछड़ि छलकैं दि।"

अर्थात् सास ने बहू से कहा, बहू ने कुत्ते से कहा और कुत्ते ने पूंछ हिला दी। इसके द्वारा आजकल की नवीन रोशनी वाली स्त्रियों पर व्यंग्य किया

गया है जो किसी का अनुशासन मान कर नहीं चलतीं। वे प्रत्येक काम को करते समय आलस्य प्रकट करती हैं। बहू जब सुनी अनसुनी करती हैं तब इस कहावत का प्रयोग होता है। उसने सास की बात कुत्ते तक पहुँचाई और कुत्ते ने मानों उत्तर देते हुए पूंछ हिला दी। काम जैसा का तैसा रक्खा रह गया !

कहावतों के विस्मृत हो जाने का कारण यह है कि वे विशेष प्रवृत्ति को लेकर बनती हैं। प्रवृत्ति के बने रहने तक वे स्मृति पटल पर रहती हैं, फिर भुला दी जाती हैं। जैसे कहावत है—"जोगिक बाबुक लड़ैं में के घरी छी।" अर्थात् जोगी के बाप का लड़ाई में क्या रक्खा था, यह उक्ति राजा मोहन चंद (सन १७८६) के राज्यकाल में प्रचलित हुई जब वे अपनी सहायता के लिये नागा साधुओं की विशाल सेना को लाये। कोसी नदी के पास स्थानीय सेना से उनकी मुठभेड़ हुई जिसमें वे मारे गए। उस समय सामयिक घटना पर आधारित होने के कारण कहावत चल पड़ी । अब यदाकदा इसका प्रयोग उन लोगों के लिये होता है जो अपना काम छोड़ कर दूसरों के काम में हस्त-क्षेप करते हैं।

कुमाऊँनी कहावतों का एक ठेठ उदाहरण है—

"खैगे तितिर चाखुड़, जिब्याल पड़ मुस म्याकुड़।

जिसका अर्थ है अनाज खा गये 'तीतर' बंधन में पड़ गए चूहे तथा अन्य पक्षी।

ग्रामीण लोग चिड़ियों को फँसाने के लिये जो जाल बनाते हैं उन्हें स्थानीय भाषा में 'जिब्याल' कहते हैं। वे नीचे से अनाज के दानों को रखकर चिड़ियों के आने जाने के स्थानों पर इन पत्थरों को लगा देते हैं । तीतर चतुर पक्षी होता है जो दूर से अनाज का दाना बीन कर उड़ जाता है। दूसरे पक्षी लापरवाह होने के कारण उन पत्थरों के भीतर प्रवेश करते हैं और पत्थर गिरने से दब जाते हैं। पत्थर एक पतली लकड़ी के सहारे खड़ा रहता है, चोंच से हिलते ही नीचे गिर पड़ता है।

२. इस कहावत का प्रयोग उन चालाक लोगों के लिए किया जाता है जो अपने स्वार्थों की पूर्त्ति करने के लिये सीधे-सादे मनुष्यों का उपयोग करते हैं किन्तु वास्तविक दोषी अपनी धूर्तता के कारण बच निकलता है।

हास्य व्यंग्य इन कहावतों में कूट कूट भरा है और हास्य कहीं पर ग्राम्यता के धरातल पर भी उतर उतर आता है। इनके उदाहरण हैं—"खै पी, खनकला का जस नागा बमकि रै।" (खाया पिया, कनखल के नागों की तरह मस्त घूमते रहे), "तुमूंलै चुच पे मैल के घुम पे" (तुमने यदि माँ का दूध पिया

है तो क्या मैंने घुटना पिया है); "शकल चुड़ैल की मिजाज परिक" (चेहरा चुड़ैल की तरह, किंतु मिजाज परी जैसा) आदि।

व्यंग्य तो इन कहावतों का प्रमुख अस्त्र है। समाज की किसी असामान्य प्रतीत होने वाली घटना पर ये तुरंत चोट करती हैं। कुमाऊँ में शाह लोगों का मुख्य व्यवसाय व्यापार करना है। बनियाँ इतना कुशल होता है कि अक्सर मिलने पर अपने संबंधियों तक से लाभ उठाने की सोचता है। जब वह किसी का स्वागत करता है तो उसका उद्देश्य स्वार्थ सिद्ध करना होता है। वह ग्राहक को बुलाकर एक ओर उसे अपना माल ले जाने के लिये प्रलोभन देता है, दूसरी ओर अपने नौकर से उसका नाम लिखने को कहता है। कहावत है—

"सौज्यू गुड़ खावौ; लेख लेंख"

अर्थात् शाह जी गुड़ खाइये, लिखो लिखो। वह एक ओर अपने ग्राहक का स्वागत करता है—आइये बैठिये गुड़ खाइये, दूसरी ओर अपने नौकर से कहता है कि इन गुड़ का मूल्य वही खाते पर चढ़ा दो।

३. कुमाऊँनी कहावतों की एक विशेषता उनकी स्थानीयता है। जैसे कहावत है—"आपूँ खाण, दुहार कणि चूठ्यूंण" (स्वयं खाना, दूसरे का मुँह धुलाना)। अर्थात् अपने किये हुए अपराध को दूसरे के सिर मढ़ देना। यहाँ भोजन के उपरांत हाँथ मुँह धोने की क्रिया को 'चुठ्यूंण' कहते हैं।

दूसरी कहावत है—"घुघुतिया को जसी कउवा के अकड़ि री छै" (घुघुतिया त्योहार के कौवे की तरह क्या अकड़ रहा हैं)। मकर संक्रान्ति के दिन जो घुघुतिया त्योहार मनाया जाता है उसमें कौओ को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता है किंतु और दिनों उसकी पूछ नहीं होती। तात्पर्य है कि क्षणिक सम्मान के लिये घमंड नहीं करना चाहिये।

कभी इन कहावतें में किसी पती, गाँव स्त्री-पुरुष, नदी आदि को संबोधित करके उक्रिया कही जाती हैं जिनसे उनकी विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। जैसे चौगर्खा पट्टी का रहने वाला माथे पर खड़ा चंदन लगाता है। इस पर उक्ति है—"चौगर्ख्योंक जस ठाड़ चंदन"। गंगोली पट्टी में रहने वाला गूंगा भी मूर्ख नहीं होता। वह इतना चतुर होता है कि आवश्यकता पड़ने पर एक हिस्से आटे में दो हिस्से खड़िया मिट्टी मिला कर बेच सकता है। इस लिये उक्ति है—"गंगोली को लाटो, द्वी बान खड़ी, एक बान आटो"।

इसी प्रकार अलमोड़ा में रहने वाले मनुष्य की पहचान यह बताई गई है कि पत्थर ही उसका बिस्तर होता है—"अलमोड़ियै कि पछ्याँण, ढुंग का दिसाण"।

४. स्थानीय विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ कहावतें किसी ऐतिहासिक तथ्य की व्यंजना करती हैं जैसे एक उदाहरण है–

"जाणीक्ये घोरख्योंल है रे"

अर्थात् क्या गोरखियों की तरह राज्य हो रहा है ? कुमाऊँ पर गोरखा जाति ने लगभग पच्चीस वर्ष राज्य किया। इसमें इतने अत्याचार किये गये कि उनकी छाप अभी तक इस रूप में जनता के मन पर पड़ी हुई है।

स्थानीय प्रथाओं पर प्रकाश डालने वाली एक और कहावत है। अलमोड़ा नगर से कुछ दूर अन्यारी कोट नामक एक गाँव है जहाँ के निवासी झाड़फूंक करने में बड़े कुशल माने जाते हैं। अलमोड़ा से घर जाते समय इन लोगों को विश्वनाथ श्मशान के वासी भूत-प्रेत बहुत परेशान करते थे। एक बार उनके प्रधान ने नाचते हुए भूत की चुटिया पकड़ ली। विश्वास है कि भूत की चुटिया हाथ में आ जाने से वह विवश हो जाता है। भूत ने पधान से कहा—मैं तुम्हारा क्या काम कर सकता हूँ! पधान ने कहा सारे गाँव के धान काट दो। उसे छोड़ते समय यह वचन ले लिया कि उसके गाँव वालों को भूत-प्रेत कभी परेशान न करें। तब से यह कहावत चल पड़ी—

"नाया बजाया, अन्यारी कैं चै रया"

५. अधिकांश कहावतें सामाजिक हैं। जिनसे जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। इनमें आदर, तिरस्कार, आदर्श, जाति, व्यवसाय जैसे विषयों पर जन साधारण की प्रचलित धारणाएं ज्ञात होती हैं। यहाँ छोटी बड़ी जातियों में ऊँच नीच की भावना विद्यमान है जो कहावतों का आधार बनी है। जैसे ब्राह्मणों के लिये कहा गया है—

"सराद लागा, बामण जागा, सराद निमड़ बामण चिमड़।"

अर्थात् श्राद्ध आरम्भ हुए तो ब्राह्मण जाग पड़े और श्राद्ध समाप्त हुए तो ब्राह्मण भी दुर्बल हो गये। क्षत्रिय का क्रोध बड़ा भयंकर होता है, इस लिये उसकी तुलना भैंस की प्यास से की गई है। कहीं यह धारणा व्यक्त की गई है कि भैंस का दूध पी लेने पर उसको सुध-बुध नहीं रह जाती। प्रधान का गाँव में प्रभुत्व होता है। कुमाऊँ में उसे दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के अधिकार मिले हुए थे। इस कारण वह सर्वेसर्वा हो गया था। उन पर अलग कहावतें बनी हैं। इनमें साधु-सन्तों का खानपान तक जनता की आलोचना का लक्ष्य बना है। एक कहावत है—

"साधु-सन्तन किणि के रोक-टोक न्हा, जे गिरौं गिरण दे।"

जोगी ने गृहस्वामी से कहा कि मेरे लिये अलग भोजन तैयार कराना क्यों कि भीतर मांस बनता है उसे नहीं खाऊँगा। यही प्रवन्ध किया गया। खाते समय जब दूसरे लोगों को मांस परोसा गया तो सुगन्ध से उसका मन भी ललचा उठा। पहले तो उसने यह कह कर शोखा माँगा कि रस तो गंगाजल है। फिर उसने मांस के टुकड़े भी यह कह कर माँग लिये कि साधु-सन्तों को रोक-टोक नहीं, जो गिरता है बरतन में गिरने दो !

६. कुछ सामान्य कहावतें हैं जो सार्वभौम सत्य को प्रकाशित करती हैं। जैसे ''सिसूणा का जात पात'' कहावत ऐसे व्यक्तियों के निमित्त प्रयुक्त होती है जो भीतर बाहर दोनों ओर से टेढ़े होते हैं और हानि पहुँचाते हैं—''स्पणी गे हँसी, बैग गे फँसी।'' अर्थात् स्त्री जहाँ हँसी कि वहाँ पुरुष फँसा।

इसी प्रकार भाग्य, कर्म, जन्मांतर पर भी कहावतें बनी हैं। कही-कहीं इनमें युग सत्य झलकता है जैसे साँप के पैर साँप ही पहचानता है, क्रोध अपने घर की हानि करता है, बुद्धि दूसरे के घर की हानि करती है। अस्त प्रायदिन वैसा ही है जैसे गले के भीतर ग्रास। एक कौर में स्वाद जाना जाता है, एक झलक में संसार पहचाना जाता है। उबलता दूध न थूका जाता है, न निगला जाता है।

इस प्रकार ये कहावतें विविधता से पूर्ण हैं और जीवन दर्शन की व्यापकता सिद्ध करती हैं।

६. पहेलियाँ—(रिडिल्स)

कुमाऊँनी लोक साहित्य के अंतर्गत कुछ पहेलियों है जिन्हें पहेलियां रचनाएँ शीर्षकों से अभिहित कर सकते हैं। इन रचनाओं में कुछ बालकों या शिशुओं के लिये वयस्कों द्वारा सुनाये जाते हैं तथा कुछ बालकों की अपनी तुकबन्दियाँ होती हैं। इस आधार पर इनके दो वर्ग कहे जा सकते हैं।

पहेलियाँ अथवा बुझौवल यहाँ 'आहणा,' 'आणा,' कहे जाते हैं, जिन्हें घर के बड़े बूढ़े पूछ कर बच्चों से अनेक सही उत्तर की अपेक्षा करते हैं। गढ़वाली में इसे 'परवाणा' कहते हैं। इस शब्द का मूल रूप 'आभणक' है जो संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुआ है।

आहणा का ठीक-ठीक उत्तर देने वाला बाजी जीत लेता है। इनके उत्तर प्रायः घरेलू वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें चूहा, आग, पानी, दराँती, ताला-चाभी, चलनी, किवाड़, बिल्ली, कुत्ता, स्याही, मिर्च, बैंगन, मूली जैसी चीजें मुख्य रहती हैं। किसी ने पूछा—

एक भैंस रातभर हिट नै रूँ, ऊ के भैं ?''

अर्थात् एक आदमी रात भर चलता रहता है, वह कौन है ? बच्चा सोच समझ कर इसका उत्तर देता है—पानी। किसी ने पूछा—"छूं मैं कावपट्ट, टकि सुकिल।" अर्थात् देखने में मैं काला कलूटा हूँ किन्तु मेरी नोक सफेद है। इस पहेली के पूछे जाने पर उपस्थिति बालक अपनी कल्पना व अनुमान के आधार पर उत्तर सोचने लगते हैं। इसी बीच कोई उत्तर देता है कि यह वस्तु मूसल है। तब चारों ओर हँसी फैल जाती है मूसल की लकड़ी काली होती है किन्तु उसके अग्र भाग में लगा हुआ लोहा सफेद होता है, जिससे अनाज कूटा जाता है। इस प्रकार सोचने पर पहेली की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

कृषक लोग दिन भर कठोर परिश्रम करने के बाद जब रात में भोजन आदि से निवृत्त होकर बालकों से इस प्रकार की पहेलियाँ पूछते हैं अथवा सोते समय बालक अपनी माता, दादी, नानी आदि से इन्हें सुनकर उत्तर देते हैं तो न केवल बच्चों का मनोरंजन होता है बल्कि मनोरंजन करने के अतिरिक्त पहेलियों के और अनेक कार्य हो सकते हैं।

७. अन्य रचनाएँ—

इसमें शिशुगीतों के अंतर्गत तुकबन्दियों की लोकप्रियता कुमाऊँ में अधिक नहीं है। दो चार प्रश्नोत्तर जैसी तुकबन्दियाँ अवश्य मिलती हैं। जैसे एक गीत में बालक को अपने घुटनों पर उठाकर धीरे-धीरे झुलाया जाता है। झुलाने वाला व्यक्ति घुटनों को उठाकर धीरे-धीरे झलाया जाता है। झुलाने वाला व्यक्ति घुटनों को ऊपर-नीचे करते हुए "घुघुती-बासुती" कह कर बालक से पूछता है– नानी कहाँ ? बालक उत्तर देता है कि ननिहाल में है। यह पूछने पर कि वह क्या लाएगी ? उत्तर मिलता है कि दूध-भात लाएगी। फिर यह पूछने पर कि उसे कौन खायेगा, बालक कहता है कि हम खाएंगे। तब झुलाने वाला व्यक्ति चावल के बरतन की ओर इशारा करते हुए इसे समाप्त कर देता है।

ऐसी तुकबन्दियाँ अब कम मिलती हैं क्योंकि नवीन परिस्थितियों में परिवार के सदस्यों को इतना समय ही नहीं मिलता कि वे शिशुओं को देर तक झुलाते रहें।

दूसरे प्रकार की बाल रचनाएँ बालकों की अपनी है "जिनमें खेल गीतों का आरम्भ, तुकान्त अथवा अतुकान्त पंक्तियों से होता है। अटी-पाती कीड़ा जमाल साई, हरी समन्दर, तल भनेरिया, माछी-माछी,दाणी, सोई जैसे खेल इन्हीं पंक्षियों के नाम से प्रसिद्ध हैं जो बीच-बीच में एक पंक्ति दुहराते हुए खेले जाते हैं।

बालक की प्रवृत्ति तुकबन्दी करने की ओर स्वाभाविक है तथा उसकी बालबुद्धि इसे तुरन्त याद कर लेती है। इसीलिये खेलों में प्रायः बालक इस प्रकार की पंक्तियाँ दुहराते हुए मिलते हैं—

"अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बौ, अस्सी नब्बे पूरे सौ,
सौ में लागा तागा, चोर निकल के भागा ॥"

खेल रचनाओं के विषय में इतना कहा जा सकता है कि आरम्भ में तो ये केवल सार्थक-निरर्थक पंक्तियों का उच्चारण मात्र होते हैं और अर्थ का तत्व इनमें गौण होता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है इनके स्वरूप में भी परिवर्तन होने लगता है। अतः तुकबन्दियों द्वारा बालकों के मानसिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ स्पष्ट होती हैं।

शिशु गीतों, खेलगीतों के अतिरिक्त, जो एक प्रकार की क्रम संवर्धक (ड्राल्स) रचनाएँ हैं, १२७ अन्य रचनाओं के अंतर्गत मंत्र-तन्त्रों तथा लोकनाट्य की गणाना की जा सकती है। कहीं रोग विशेष को झाड़ने के मन्त्र हैं, कहीं साँप का विष झाड़ने का मन्त्र है। कहीं भूत प्रेत को उतारने के लिए राई के दाने अभिमन्त्रित किये जाते हैं। इनका गाँवों में पूरा विधि-विधान मिलता है। लोक नाट्यों के अंतर्गत कुमाऊँनी रामलीला, पाण्डव लीला, तथा विभिन्न स्वांग-प्रहसनों की गणाना हो सकती है जिनकी परम्परा अब समाप्त हो रही हैं।

कुमाऊँनी लोक साहित्य को उक्त रूप-रेखा से यह ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार स्थानीय लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि में इसका निर्माण होता रहा है। ध्यान से देखने पर यह भी स्पष्ट होगा कि इस साहित्य का स्वरूप निरंतर एक सा नहीं रहा। सामाजिक परिस्थितियों ने न केवल नवीन रूपों को जन्म दिया बल्कि प्राचीन रूपों के लुप्त में भी सहायता की।

सभी रचनाएँ एक जैसी महत्त्व की नहीं हैं। लोकगीतों में मुक्तकगीत यहाँ के लोक जीवन का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। संस्कार गीतों का उतना महत्व नहीं है गाथाओं के प्रायः सभी रूप इतिहास और धर्म की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। लोककथाओं में पक्षी कथाओं का विशेष स्थान है यद्यपि स्थानीय अवदानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मुख्यतः नामकरण सम्बन्धीकल्पनाएँ लोक व्युत्पत्ति (फोक एटिमॉलॉजी) की दृष्टि से विशद सामग्री प्रस्तुत करती हैं। कहावतें लौकिक ज्ञान (फोकविज़डम) की अपूर्व भण्डार हैं।

यह साहित्य दैनंदिन जीवन के क्रिया-कलापों के साथ कितना घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है, इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। इससे यह संकेत मिलता है कि लोक साहित्य का वास्तवित मूल्यांकन तभी सम्भव है जब उसे लोक-समाज की पीठिका पर रखकर देखा जावे।

अभी तक लोक साहित्य के भावनात्मक, कलात्मक, नृतात्वित, मनोवैज्ञानिक आदि कई प्रकार के विश्लेषण हुए हैं। किन्तु उसके विश्लेपण की वास्तविक कुँजी सामाजिक जीवन है जिस पर वह टिका हुआ है। कुमाऊँनी लोक साहित्य के अध्येता को यही दृष्टि ध्यान में रखनी होगी। तभी उसके निष्कर्ष यथार्थ, ठोस और वस्तु परक हो सकते हैं।

१२ लोक रचनाओं के प्रमुख अवसर

सुप्रसिद्ध नृत्यत्व शास्त्री ब्रॉस्लॉ मेलिनाव्स्की ने अपनी पुस्तक 'मिथ इन प्रिमिटिव साइकॉलॉजी' में लोक साहित्य के सामाजिक संदर्भों पर अत्यधिक बल दिया है। उसके अनुसार तत्सबंधी सामग्री की केवल पाठगत परीक्षा मूल विषय के स्वरूप को समझने में बड़ी घातक सिद्ध हुई है। इस विषय की जो पारंपरिक सामग्री प्राप्त है उसका मूल्यांकन अपने आलोचकों एवं समर्थकों के अभाव में संभव नहीं है। लोक रचनाएं किस शैली में प्रस्तुत की जाती हैं, उनके अभिनय किन अवसरों पर प्रस्तुत किये जाते हैं, कौन लोग उन्हें गाते हैं, इन बातों की जानकारी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि रचना की पाठ सामग्री। कारण यह है कि लोकरचनाओं का वास्तविक अर्थ उनके लोक जीवन से जुड़े रहने पर ही स्पष्ट होता है केवल उनके लिखित रूप का विश्लेषण करना पर्याप्त नहीं है। अर्थात् यदि कोई विद्वान किसी लोक रचना के संपूर्ण वातावरण को जाने बिना उसका संग्रह और विश्लेषण करता है तो यह न केवल एकांगी होगा बल्कि विकृत भी होगा। (पृ० २४)

मेलिनॉव्स्की के उक्त विचारों से सिद्ध होता है कि लोक रचनाओं का विश्लेषण उनके सांस्कृतिक,सामाजिक संदर्भों को ध्यान में रखकर ही करना चाहिये। हमें यह देखना चाहिये कि कौन रचनाएँ किस अवसर पर प्रचलित होती हैं। जैसे कुछ स्थानों में परी कथाएँ फसल बोते समय इसलिये सुनाई जाती हैं कि नयी फसल पर उनका लाभकारी प्रभाव पड़ेगा। धर्मगाथाएँ किसी रीति-प्रथा का समर्थन करते हुए सुनाई जाती हैं अर्थात् उनका उद्देश्य होता है प्रचलित लोक विश्वासों का अनुमोदन करना।

इसलिये कुमाउँनी लोक-साहित्य का संग्रह और अध्ययन करते समय हमें उन अवसरों की विस्तृत जानकारी रखना उचित है जब ये रचनाएँ वास्तव में प्रस्तुत की जाती हैं।

हम देख चुके हैं कि कुमाउँनी लोक साहित्य के विविध रूपों का यहाँ के मेलों, तिथि-त्योहारों, लोकोत्सवों, व्रत तथा संस्कारों से घनिष्ठ संबंध है। दीर्घ आख्यान मूलक गाथाओं को यदि छोड़ भी दें तो शेष गीतों-कथाओं के उपयुक्त अवसर यही है। इन गीतों-कथाओं को न तो हर समय सुना जा सकता है, न प्रत्येक स्थान से इनका संग्रह किया जा सकता है,

लोकगाथाएँ प्रयोजन के अनुसार अपने उपयुक्त समय पर गाई जाती हैं। जैसे 'मालूसाही' अथवा 'रमौल' मुख्यतः जाड़ों की लंबी रात्रियों में सुनाये जाते हैं जब शीत-प्रधान पहाड़ों में चुपचाप समय काटना बड़ा कठिन होता है। रात्रि के समय श्रोताओं को अवकाश भी अधिक रहता है।

'हुड़की बौल तथा 'भड़ौ' भी प्रत्येक समय नहीं गाये जाते। वैसे किसी व्यक्ति के अनुरोध पर गायक उसे सुना दे तो यह दूसरी बात है। 'भड़ौ' जागर गाथाओं के साथ उनकी पूर्व-भूमिका के रूप में गाये जाते हैं क्योंकि प्रमुख देवता को उद्बुद्ध करना ही उनका लक्ष्य रहता है। 'हुड़की बौल' जैसा कि हम जानते हैं, कृषि कार्य के साथ बँधे हुए हैं। इनकी गायन पद्धति रोपाई संबंधी भिन्न-भिन्न क्रिया कलापों से निरंतर प्रभावित होती है।

पहेलियाँ किसी समय से बँधी हुई नहीं हैं फिर भी संध्या अथवा रात्रि में कही-सुनी जाती हैं क्योंकि घर के वयस्क व्यक्तियों, दादी-नानी आदि को उसी समय पर्याप्त अवकाश मिलता है।

इस दृष्टि से लोक साहित्य का अध्ययन करने पर एक नया तथ्य प्रकाशित होगा कि लोक रचनाओं से भले ही जनता का मनोरंजन होता हो, किंतु केवल मनोरंजन करना इनका उद्देश्य नहीं है। ये श्रमपूर्ण कार्यों की निर्विघ्न पूर्ति में सहायक होती हैं। इनमें वर्णित पात्र सामाजिक विधि-निषेधों का पालन करते हुए उनकी परंपरा को स्थायी बनाते हैं। इनके गायक प्रायः नवीन तत्वों का समावेश करके किसी घटनाक्रम को बदल देते हैं अथवा उसे दूसरी दिशा में मोड़ देते हैं जो उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। ये मोड़ तथा परिवर्तन भी सोद्देश्य होते हैं इसलिये स्थानीय लोक रचनाओं के प्रमुख अवसरों का ध्यान रखना आवश्यक है।

लोक रचनाएँ एवं लोकोत्सव—

हमें ज्ञात है कि कुमाउँनी लोकगीत अधिकतर किसी न किसी मेले अथवा त्योहार से जुड़े हुए हैं जो दक्षिण के तराई-भावर से लेकर सुदूर उत्तर के भोट-प्रदेश तक व्यापक हैं। अतः इन्हीं के केन्द्रीय स्थान मुख्यतः गीतों के गायन केन्द्र भी हैं जिनमें बागेश्वर-जौलजीवी, थल, नंदादेवी, द्वाराहाट, चौखु-टिया, मासी, देवी धुरा, चित्रशिला, भीमताल, काशीपुर, गदरपुर, नानकमता आदि स्थान प्रमुख हैं। इन स्थानों में मेलों त्यौहारों पर एक हजार से लेकर बीस हजार तक जनता पहुँचती है। वैसे प्रत्येक महीने में कोई न कोई मेला होता है किन्तु जाड़ों में इनकी संख्या अधिक हो जाती है।

इन सभी स्थानों पर उक्त अवसरों में बैर, चॉचुरी, भगनौल, झोड़ा जैसे सामूहिक नृत्य-गीतों की प्रधानता रहती है। मेलों का प्रयोजन भले ही धार्मिक, व्यापारिक अथवा कुछ और रहता हो किंतु इन गीतों की विषयवस्तु में अब इस प्रकार का कोई अंतर नहीं मिलता। उदाहरणार्थ असकोट से छः मील दूर जौलजीवी नामक स्थान नैपाल की सीमा को स्पर्श करता हुआ विशुद्ध व्यापारिक केन्द्र है। किन्तु वहाँ प्रचलित गीतों में धर्म-प्रेम, वर्त्तमान परिस्थितियाँ आदि सभी विषयों की चर्चा होती है। बागेश्वर का मेला मुख्यतः धार्मिक दृष्टि से लगता है किन्तु वहाँ प्रचलित गीतों में व्यापारी, शौक, हुणिया, आदि जातियाँ गायकों का लक्ष्य बनती हैं।

यह आवश्यक है कि धार्मिक स्थानों से संबद्ध जो विशेष प्रकार की लोक-कथाएँ कहीं जाती हैं, उस प्रकार की कथाएँ व्यावसायिक केन्द्रों के संबंध में प्रच-लित नहीं हैं।

जौलजीवी के व्यापारिक मेले में, जो प्रतिवर्ष नवंबर में लगता है गीतों की अधिक विविधता दर्शनीय है। बागेश्वर की भाँति यहाँ दानपुरी चांचरी के दर्शन नहीं होते उसके स्थान पर नैपाली तथा भोट प्रदेश वालों के वृत्ताकार नृत्य मिलते हैं जिनके गीतों में अधिक सजीवता और नवीन भावनाओं की झलक होती है। वहाँ रात-रात भर संगीत के आरोह-अवरोह में स्त्री-पुरुष किसी एक गीत की कड़ी दुहराते हुए झूमते रहते हैं। वहाँ हुड़का वाद्य के स्थान पर नगाड़ा अधिक बजता है। रात में आग जलाकर सामूहिक नृत्य करने की वहाँ प्रवृत्ति कम है किन्तु वेशभूषा की रंगीनी अधिक है।

बागेश्वर, जो अल्मोड़ा से प्रायः सत्ताइस मील उत्तर है, चांचुरी और झोड़ों का प्रमुख केन्द्र है। यहाँ चौदह जनवरी के आसपास मकर संक्रान्ति के अवसर पर जो विशाल मेला लगता है उसमें लगातार तीन चार दिनों तक लोक गीतों का सौंदर्य निखरता है। दिन भर मंदिर के चारों ओर सरयू-गोमती के संगम पर आसपास के किसान, बालक और स्त्रियाँ नगाड़े बजाते हुए, तुरुही फूंकते हुए, अपने निशान फहराते गीत-नृत्यों में संलग्न रहते हैं।

यहाँ रात-रात भर गाये जाने वाले झोड़े बड़े आकर्षक हैं। जन-समूह के पास समय की कमी नहीं रहती इसलिए एक ही झोड़े को बार-बार दुहराया जाता है। आग जलाकर ग्रामीण लोग चारों ओर अपने लिए बैठने की जगह बना लेते हैं और अलग-अलग टोलियों में विभक्त होकर चाँदनी रात में हँसते-गाते रहते हैं। 'बैर' गीत गायन में कभी दिन और रात बीत जाते हैं। कोई प्रतिस्पर्धी हार नहीं मानता, तब प्रश्न-उत्तरों की शृंखला सुनने योग्य होती है।

'वैर' गीतों में गायकों की प्रत्युत्पन्न बुद्धि को देखकर आश्चर्य होता है। वे न केवल स्थानीय जातियों की कुप्रथाओं पर व्यंग्य करते हैं बल्कि सामाजिक वैषम्य को अधिक उग्र रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे किसी स्त्री की सुन्दरता, किसी ब्राह्मण की रुढ़िवादिता, किसी वणिक की लोभी प्रवृत्ति, किसी राजनैतिक घटना पर समान रूप से कटाक्ष करते हुए अपने नाटकीय अभिनय द्वारा सारे वातावरण को सजीव बनाये रखते हैं।

देखने की बात है कि इस सामूहिक अभिनय में दर्शक समूह तटस्थ नहीं रहता। श्रोतागण हाथ हिलाकर, टोपी उछालकर, जोर-जोर से हँसते हुए अपनी प्रतिक्रियाएं प्रकट करते रहते हैं। उनकी प्रतिक्रियाओं को देखकर गायक समयानुकूल 'वैर' की विषयवस्तु का विस्तार करते रहते हैं। इनके घंटों तक ताजे बने रहने का यही रहस्य है।

'वैर' की जब समाप्ति होने लगती है तो प्रतिद्वंद्वी-गायक एक दूसरे से हार मान लेने को कहते हैं। एक गायक टीकाराम ने अपने प्रतिपक्षी घनश्याम से कहा कि किसने तुझे भैंसे की तरह पालपोस कर बड़ा किया। मुख तो तेरा उबाले हुए कद्दू जैसा है और पत्ते में हिसालू के जैसे तेरे प्राण अटके हैं। सूखी तरोई की भांति मुंह फैलाकर तू अधिक बकबक मत कर।

प्रतिद्वंद्वी गायक अर्थात् घनश्याम वैरिया भी दूसरी ओर से अपने सिर की पगड़ी को दोनों हाथों से ठीक करते हुए दोनों कानों में उंगली डालकर उत्तर देता है—अरे। फूटे कर्म जैसे तेरे फूटे तेरा विचार भी हैं। छोटी बहू पर नजर रखता है, शरीर में तेरी झुर्रियां पड़ी हैं। मेरी भी न जाने क्या मति मारी गई कि तुझसे उलझा। अरे टीकाराम ! तुझ पत्थर पर मैं क्या सिर पटकूं। कहना न होगा कि श्रोता समूह इस प्रकार के अवसरों में अत्यन्त रुचि ग्रहण करता है।

देवी धुरा, भिकिया सैन, सियालदे और सोमनाथ आदि स्थानों के मेलों में उपस्थित होने वाले गाँवों के लोग दो दो धड़ों में विभक्त होकर एक दूसरे पर पत्थर बरसाते हैं जिसे बगवाल कहते हैं और गीत गाते हैं। इन गीतों की जो सजीवता-संपूर्णता बग्वाल के अवसर पर दिखाई देती है वह अन्य अवसरों पर कदापि लक्षित नहीं होती। गायक विशेष अवसर की प्रथाओं परंपराओं से जैसे समग्रतः अनुप्राणित होकर इन गीतों की रचना करता है।

अन्य अवसरों पर ऐसी भावना नहीं बनी रहती। मासी के सोमनाथ मेले में जो गीतबद्ध कथाएँ सुनी जाती हैं, उनका संबंध स्थानीय जातीय संघर्ष से है। ये गीत-कथाएँ कनौड़ी और मासीवाल जातियों के पारस्परिक वैर पर

प्रकाश डालती हैं। काली कुमाऊँ में वाराही देवी तथा अखिल तारिणी देवी का जो माहात्म्य गीतबद्ध है उसे मंदिरों के इतिहास के संदर्भ में ही समझा जा सकता है

मेलों से जुड़े हुए गीतों में द्रष्टव्य है कि जन सामान्य के दैनिक जीवन से संबद्ध होने के कारण ये सामयिक स्थिति के अधिक व्यंजक हैं। गीत मेलों में खड़े खड़े बना लिये जाते हैं। पुराने गीत तभी अच्छे लगते हैं जब उनकी विषय-वस्तु समयानुकूल बनी रहे। गायक किसी प्रसिद्ध गीत की एकाध पंक्ति चुनकर नये नये जोड़ डालकर गीत की कलेवर वृद्धि करता जाता है जिनमें अकाल दरिद्रता, दीवानी-फौजदारी मुकदमे, रुपये का घटता हुआ मूल्य, चाचा नेहरू जैसे सभी विषय अंतर्भुक्त हो जाते हैं। इन्हीं गीतों में सामाजिक-यथार्थ के दर्शन होते हैं।

एक गीत में कहा गया है-घर में मडुवा तक खाने को नहीं है तू पान माँगती है। हम भूख से बेहाल हो गये हैं समय ऐसा आ गया है। दूसरे गीत में काँग्रेसी राज्य की प्रशंसा की जाती है। तीसरे गीत में भूमि नाप संबंधी कार्यों की चर्चा करते हुए ठीक ठीक नापने के लिये कहा जाता है ताकि न किसी की रकम बढ़े और न किसी का हक मारा जाय। राजनैतिक चुनावों में वोट देने तक की चर्चा इन गीतों में होती है। तात्पर्य यह है कि विशिष्ट इस प्रकार के लोक गीतों को जन्म देते हैं।

लोकरचनाएँ एवं लोक धर्म—

'हुड़की बौल' और 'भड़ौ' ऐसी लोक गाथाएँ हैं जिनका संबंध मेलों-त्यौहारों से तो नहीं है किंतु इनके गायन के अवसर निश्चित हैं। हुड़की बौल चूँकि कृषि गीत हैं इसलिये बरसात में ही इनका गायन होता है। अन्य अवसरों पर इनकी विशेष उपयोगिता नहीं रहती। 'भड़ौ' यद्यपि अवसर विशेष से बँधे हुए नहीं हैं, फिर भी धर्मगाथाओं से जुड़ जाने के कारण इनका गायन सीमित हो गया है।

जागर गीतों का मुख्य प्रयोजन किसी देवी देवता को अवतरित करना है। इसलिये भूत-प्रेत लगने पर किसी भी समय इनका गायन कराया जाता है किन्तु चैत्र मास में इन्हें विशेष रूप से गाने की प्रथा है। संभवतः इसके पीछे यह धारणा हो कि नववर्ष के आरंभ में जागर गाने पर भूत-प्रेतों की बाधा नहीं रहेगी। इसी प्रकार नंदादेवी का जागर नंदाष्टमी के पर्व से जुड़ा है। उसका सम्यक् विवेचन तभी संभव है जब नंदाष्टमी के अवसर पर किये जाने वाले सभी आचारों, रीति-रिवाजों का ध्यान रखा जावे।

मेलों में प्रचलित गीतों के विषय में यह अनुमान किया जा सकता है कि पहले इनकी विषय वस्तु अवसर विशेष के अनुरूप रही होगी जैसा कि कुछ गीतों में अभी लक्षित होता है झोड़े-चाँचरी आदि जिस स्थान पर गाये जाते होंगे उस स्थान की विशेषताएं उनका मूल विषय बनी होंगी। अर्थात् धार्मिक स्थानों के गीत धर्म प्रधान रहे होंगे और अवसरानुकूल उस देवी देवता की स्तुति में प्रयुक्त होते होंगे। मेलों का प्रयोजन पहले धार्मिक ही रहता था।

कालान्तर में जब इन स्थानों का उपयोग, व्यवसाय अथवा अन्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाने लगा तो उसी के अनुरूप गीतों की विषय वस्तु बदलती गई। यहाँ तक कि उनका उद्देश्य प्रारंभिक उद्देश्य से भिन्न हो गया। यही कारण है कि ऐसे गीत आज विशेष अवसर, के प्रयोजन से मुक्त होकर सामयिक विचारों की अभि-व्यक्ति करते हैं।

जहाँ कहीं इन गीतों का मूल प्रयोजन से संबंध विच्छेद नहीं हो सका है। वहाँ दोनों प्रकार की विशेषताएँ साथ-साथ मिलती हैं। मेले का मूल प्रयोजन तथा उसके केन्द्र का स्थानीय महत्व भी कुछ गीतों में प्रतिपादित होता है और कुछ अन्य गीत जन जीवन की सामान्य गति-विधियों का चित्रण करते हैं। इसलिये खटीमा, और चित्र शिला से लेकर सुदूर बागेश्वर-असकोट तक एक जैसी विषय वस्तु पर आधारित झोड़े सुने जा सकते हैं केवल उनकी भाषा में कुछ अंतर आ गया है।

त्योहारों से संबद्ध गीतों में स्थानीयता एवं राष्ट्रीयता दोनों की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। जो गीत प्राचीन प्रथाओं, विश्वासों पर प्रकाश डालते हैं वे विशिष्ट अवसरों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। त्यौहारों के अनुसार ऐसी गीत-कथाओं की तीन श्रेणियाँ हैं—

(१) जो प्रकृति संबंधी त्योहारों से संबद्ध हैं,
(२) जो कृषि संबंधी त्योहारों से संबद्ध हैं,
(३) जो नारी वर्ग के त्योहारों से संबद्ध हैं।

पहले प्रकार का प्रमुख त्योहार वसंत-पंचमी है। इसके आस-पास दो तीन महीनों तक ऋतु विषयक गीत गाये जाते हैं जिन्हें 'ऋतु रैण' कहते हैं। इस समय शीतकालीन रुक्षता के स्थान पर संपूर्ण प्रकृति में नये जीवन का संचार होता है। कलियों-वृक्षों के खिलने से मनुष्यों का हृदय उल्लसित हो उठता है, अतः इन गीतों में ऋतुओं की विशेषताओं का वर्णन करते हुए मनुष्य का उल्लास व्यक्त होता है। चैत्र के महीने भर गायक गाँव-गाँव में घूमकर इन गीतों द्वारा नववर्ष की बधाई देते हैं और मंगल कामना करते हैं। 'फूलदेई'

का त्योहार मनाते हुए जो गीत गाये जाते हैं उनमें उत्साह और हर्ष प्रकट होता है। ये गीत अन्य अवसरों पर नहीं गाये जाते। इन्हें 'चैतू' भी कहते हैं।

वर्षा ऋतु आरंभ होने पर हरियाला त्योहार मनाया जाता है। यह शिव-पार्वती के विवाह के उपलक्ष में मनाया जाता है। मिट्टी की छोटी मूर्त्तियों- डिकारों का पूजन करते हुए हर काली की स्तुति में मंत्र पढ़े जाते हैं। इस अवसर पर पहले संभवत: शिव-पार्वती की लोक प्रचलित कथाएं प्रचलित रही होंगी भले ही अब उनकी स्तुति मात्र रह गई है।

इस स्तुति में कहा जाता है—हर काली ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम हर की प्रिय हो। उन्हीं का नाम धारण करती हो। तुम निरंतर हरे धानों के खेत में निवास करती हो और अपने भक्तों के दुख दूर करती हो।

यह त्योहार कुमाऊँ में इतना व्यापक है कि इस संबंध में एक लोकोक्ति ही बन गई है—"तू हरयाल भन खाए" अर्थात् तुम्हें शुभ न हो।

शीत ऋतु का आगमन 'खतड़ुआ' त्योहार से माना जाता है। इस अवसर पर सारे कुमाऊँ में एह ही कथावृत्त प्रचलित है जिसका विषय गढ़वाल व कुमाऊँ वालों का पारस्परिक वैमनस्थ कहा जाता है। आज यह लड़कों का उत्साह-प्रद खेल है जब वे "भेल्लोजी भेल्लो" गाते हुए जलती आग में फूल ककड़ी फेंकते जाते हैं और उसके चारों ओर नाचते जाते हैं।

एक स्थानीय कहावत के अनुसार इस दिन से शीतकाल का आगमन होने लगता है। लोग सिर ढकने के लिये अपने कंबलों को ऊपर तक खींच लेते हैं। अब लतड़ुआ शब्द का प्रयोग आलंकारिक दृष्टि से पूर्ण विनाश के अर्थ में भी किया जाने लगा है। वैसे ये गीत मूलत: ऋतु-परिवर्तन से संबंध रखते हैं। इस संबंध में डा० शिवदर्शन पन्त के शब्द देखने योग्य हैं—

"एराइवल ऑफ विंटर इज हेराल्डेड वाइ फीस्ट ऑफ बॉन फायर्स एंड समर वाइ फेस्टिवल ऑफ फ्लावर्स. एज दी होल एपीयरेंस ऑफ दी माउंटेन लैंड—स्केप चेंजेज विथ दी मार्च ऑफ सीजंस सो इज देयर ए सिमिलर ट्रांसफॉर्मेशन इन दी एक्टिविटीज, इंटरेस्ट्स एण्ड स्चिुअल्स ऑफ मैन।" (स्पेशल इकॉनॉमी ऑफ दी हिमालयाज पृष्ठ ११)

इससे स्पष्ट होगा कि जनजीवन के क्रिया-कलाप और रीति-रिवाज कर्म तथा अनुष्ठान किस प्रकार ऋतु-परिवर्तनों से घनिष्ट संबंध रखते हैं।

दूसरे प्रकार के कृषि संबंधी गीत कथाएँ बीज बोते समय अथवा अनाज काटते समय सुनाई जाती हैं। बीज बोने का त्योहार 'ख्यो' कहा जाता है

जिसमें ग्राम ज्योतिषी से शुभ-मुहूर्त्त पूछकर कार्य आरंभ किया जाता है। फसल पक जाने पर नये धान्य के कुछ पौधे घर में सर्वप्रथम कुल देवता को चढ़ाये जाते हैं। यह त्योहार "कलाई" कहा जाता है।

कुमाऊँनी कृषि गीतों में इन दोनों प्रथाओं का विवरण मिलता है। इस समय भूमियाँ की कथा प्रायः कही जाती हैं। भूमियाँ ग्राम व कृषि का रक्षक है अतः नवान्न को सर्वप्रथम इसी को चढ़ाने की प्रथा है। प्रत्येक ग्राम का भूमियाँ अलग अलग है यद्यपि उनकी मूल कथा एक जैसी है।

बधाण और चौमूं ग्रामीण पशुओं के रक्षक देवता माने जाते हैं। इनकी पूजा कथा का कोई निश्चित त्योहार तो नहीं मनाया जाता किन्तु नई गाय के दूध देने के ग्यारहवें दिन 'बधाण' की तथा बाईसवें दिन 'चौमूं' की पूजा की जाती है। इन पशु-देवों की चमत्कारी कथाएं इस अवसर पर प्रचलित हैं। इसी तरह का ग्वालों, चरवाहों का प्रमुख देवता ग्वाल दे हैं जिसके पुरोहित ग्वाले होते हैं। इसकी कथा विशेष प्रचलित नहीं है किंतु वर्ष में दो बार पूजा होती है। ग्वाले जंगलों में पक्वान्न तैयार करके पूजा के बाद आपस में बाँट देते हैं। संभव है कि इसके मूल में कोई पुराना विश्वास चला आया हो। किंतु इस समय इस लोकोत्सव ने खेल और मनोरंजन का स्थान ग्रहण कर लिया है।

तीसरे प्रकार की नारी वर्ग संबंधी गीत कथाएँ अधिकतर व्रत और संस्कार परक हैं जिनमें चैत्र की रामनवमी, वट-सावित्री, हरताली, गणेश चतुर्थी, ऋषि-पंचमी अथवा बिरुड़ पंचमी, यम-द्वितीया, अमुक्ता भरण सप्तमी आदि प्रमुख हैं। इनमें नारी जीवन पर कृपालु किसी देवी देवता की कथा कही जाती है। ऐसी कथाओं के विषय अधिकतर पौराणिक हैं जैसे यम द्वितीया के दिन यमराज का अपनी बहिन यमुना के यहाँ जाकर उसके हाथ का भोजन करना। बिरुड़ पंचमी के दिन सप्तर्षियों का अरुंधती सहित कथा-श्रवण किया जाता है—एवं उनका पूजन किया जाता है। ऐसी भी गीत बद्ध कथाएँ हैं जिनका माहात्म्य धर्म परक है किंतु विषय-वस्तु जन समाज से ग्रहण की गई है।

उदाहरणार्थ भाद्र शुक्ल सप्तमी को कुमाऊँ में स्त्रियाँ डोर का व्रत करती हैं। इसमें गौरा देवी का पूजन किया जाता है। इस समय प्रचलित गीत में नाम मात्र के लिये गौरा-पार्वती, महेश्वर-गणपति आदि पौराणिक देवताओं के नाम हैं किंतु तत्संबंधी कथा में बहू का ससुराल से दुखी होकर मायके के लिये संदेश भेजना, ननद भाभी का वार्तालाप, आरम्भ में मनमुटाव होकर फिर

प्रसन्नता प्रकट करना, ठीक उसी प्रकार वर्णित है जैसा कि पर्वतीय समाज में उनका आचरण देखा जाता है। दूर्वाष्टमी व्रत के अवसर पर संतान प्राप्त करने के लिये दूर्वादेवी से जो प्रार्थना की जाती है, तत्संबंधी गीत भी इसी प्रकार समाज-सापेक्ष्य हैं।

लोक रचनाएँ एवं नारी समाज—

स्थानीय जन समाज में गीतों के गाये जाने का एक अन्य प्रमुख अवसर संस्कार संबंधी आयोजनों का है। कुछ गीत जन्मोत्सव, षष्ठी आदि महोत्सवों से संबंध रखते हैं और कुछ गीत जातकर्म, नामकरण, व्रतबंध; विवाह आदि संस्कारों आनुष्ठानिक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। जो संस्कार अब लुप्त प्राय है जैसे सीमंतोन्नयन, उनसे संबंध रखने वाले गीत भी लुप्त हो गए हैं। जन्मोत्सव, उपनयन और विवाह संबंधी गीतों की संख्या सर्वाधिक है जिनमें अवसरानुकूल भावों की व्यंजना हुई है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक संस्कार के साथ गीत गाये जाते हों। यहाँ मृतक कर्म के रीति रिवाजों का पूरे विधि-विधान सहित पालन किया जाता है किन्तु तत्संबंधी कोई गीत प्रचलित नहीं हैं। अब तो प्रथा पालन के लिये श्राद्ध मात्र कर देना पर्याप्त समझा जाता है।

कुमाऊँनी संस्कार गीतों की विषय-वस्तु कुछ स्थानीय चित्रण को छोड़-कर उत्तर भारत के तत्संबंधी गीतों से मिलती-जुलती है। चूंकि ये सब व्यापक हिन्दू संस्कारों के ही क्षेत्रीय विस्तार हैं अतः अनुष्ठानों की एकरूपता सर्वत्र मिलती है। कहीं पर व्रत संबंधी कथाएं, व्रत विशेष से टूट कर दूसरे अवसरों के साथ जोड़ दी गई हैं जैसे श्रावण शुक्ला पंचमी को नागपंचमी मनाई जाती है। कुमाऊँ में तत्संबंधी माहात्म्य कथा में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु सुनाये जाने वाले अवसर में परिवर्तन हो गया है। लोक कल्पना ने उसे भाद्र शुक्ल पंचमी को मनाए जाने वाले बिरुड़ पंचमी के त्योहार के साथ जोड़ दिया है जिसे स्त्रियाँ ही मानती हैं।

पहले बिरूड़ पंचमी की अपनी स्वतंत्र कथा रही होगी। अब नाग पंचमी की कथा ने अपनी लोकप्रियता द्वारा उसका लोप कर दिया। इस आधार पर यह अनुमान करना सरल है कि पहले बिभिन्न त्योहारों के पृथक् गीत पृथक् कथाएँ रही होंगी जो आगे चल कर एक दूसरे में घुल मिल गई। मुख्य प्रचलित गीत और कथाएँ अन्य अवसरों पर प्रचलित गीत कथाओं का इस प्रकार स्थान ग्रहण कर लेती है।

कुछ गीत कथाएँ राष्ट्रीय त्योहारों से संबंध रखती है किन्तु उनमें कोई स्थानीय विशेषता लक्षित नहीं होती। विजया दशमी को कुमाऊँ में 'दसाई'

कहते हैं। यह क्षत्रियों का प्रसिद्ध त्योहार है, जिस दिन नवदुर्गाएं विसर्जित की जाती हैं। कुमाऊँनी भाषा में इस अवसर पर रामलीला नाटक खेला जाता है जिसका इतिवृत्त वही है।

जन्माष्टमी के अवसर पर कृष्ण जन्म की जो कथा सुनाई जाती है उसमें कोई नवीनता नहीं है। दीपावली के अवसर पर जब सामान्य कथा तो एक जैसीं है किंतु दूसरे दिन गोवर्धन प्रतिपदा के अवसर परश्रीकृष्ण गोवर्धन धारण करते हैं, उसके साथ कुमाऊँ में वगवाल की प्रथा जुड़ गई है। इसकी गीत कथाएँ स्वतंत्र रूप से प्रचलित हैं।

होलियाँ विशेष अवसर पर गाई जाती हैं जो यहाँ खड़ी होली के नाम से प्रसिद्ध हैं। बहुत पहले कहते हैं कि बारामंडल के कुछ गाँवों में पुरानी होलियाँ प्रचलित थीं। अव ब्रजभाषा की होलियाँ स्थानीय उच्चारण सहित गाई जाती हैं। अब यह त्यौहार मात्र रह गया है। त्यौहारों से संवद्ध गीत-कथाओं में सभी जातियों के स्त्री पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं।

मैदानी भागों में तो विविध गीत कथाएँ परस्पर इतनी घुलमिल जाती हैं कि त्योहारों के अनुसार उन्हें पृथक् करना संभव नहीं होता। मेले त्यौहार परस्पर मिले जुले रहते हैं। मेले अधिकतर उन्हीं स्थानों में लगते हैं जहाँ त्योहार मनाए जाते हैं। अतः दोनों अवसरों के गीतों आदि में पर्याप्त समानता रहती है। ऐसी रचनाओं में निवासियों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

प्रचलित लोक रचनाओं से कुमाऊँ में जातीय-प्रभाव का अच्छा परिचय होता है। अन्य भागों की भाँति यहाँ विशिष्ट जातीय गीत प्रचलित नहीं हैं जैसे कहारों के गीत, धोबियों के गीत, मछुवों के गीत आदि। स्थानीय समाज की व्यवस्था अभी तक वर्णाश्रम धर्म पर टिकी हुई है। विशिष्ट व्यवसाय के आधार पर यहाँ जातियाँ तो बनीं किंतु उक्त प्रकार के वर्गों में समाज का विभाजन नहीं हुआ। पारंपरिक जातीय भावनाओं की अभिव्यक्ति इनकी लोक रचनाओं द्वारा विभिन्न लोकाचारों एवं लोक विश्वासों के रूप में हुई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश कुमाऊँनी लोक-रचनाएँ किसी विशिष्ट स्थान, उत्सव, संस्कार आदि से अभिन्न हैं जिन्हें इस समग्रता के भीतर ही देखना उचित है। कुछ दूसरे प्रकार की लोक रचनाएँ हैं जो स्वतंत्र रूप से प्रत्येक अवसर पर कही सुनी जा सकती हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन अथवा मनोभावों का उन्मुक्त प्रकाशन है। कुमाऊँनी लोक साहित्य के विश्लेषण में ये दोनों दृष्टियों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी।

१३. लोक साहित्य की विशेषताएँ

मध्य-प्रदेश की एक आदिम जनजाति 'करमा' में प्रचलित एक गीत का भाव है—यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनो। कुमाउँनी लोक जीवन और लोक-साहित्य के संदर्भ में यह कथन अक्षरसः सत्य है। कुमाउँनी लोक साहित्य की सर्वप्रमुख विशेपता है स्थानीय मिश्रित संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यंजना। इसके अंतर्गत सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक-समाज के सभी पक्षों के सम्बन्ध रखने वाली विशेपताएँ आ जाती हैं क्योंकि लोकमानस ने लोक समूह तक पहुँचने के लिए उसकी रचना की है। किसी भी समाज शास्त्री, इतिहास वेत्ता अथवा साहित्य शास्त्री के लिए यह सांस्कृतिक विरासत महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराती है।

१. सामाजिक चित्रण—

कुमाऊँ के तथा कथित ग्रामीण कवियों ने समय-समय पर अपनी सामाजिक व्यवस्था के बीच रहते हुए जिस समता या विपमता का अनुभव किया उसका यथातथ्य वर्णन इन लोक रचनाओं में कर दिया। इसी कारण यदि उनमें माता-पुत्री के निश्छल प्रेम के साथ सास-वहू के कटु व्यवहार का चित्रण मिलेगा तो पतिव्रता नारी के साथ कर्कशा स्त्री का उल्लेख भी मिलेगा। जीवन के कोमल और कठोर, सुन्दर और असुन्दर दोनों पक्षों का वर्णन करने में उनकी चित्तवृत्ति रमी है। इसलिए लोकसाहित्य में प्रत्येक धरातल पर आदर्श और यथार्थ का मणि-कांचन योग हुआ है।

आदर्श सतीत्व के उदाहरण स्वरूप स्त्रियों की व्रत-कथाएँ अथवा प्रवास के समय प्रचलित-गीत दर्शनीय हैं जहाँ तन्मय होकर वे प्रेमी के आगमन की प्रतीक्षा करती हैं। माता पुत्री का प्रेम लोकगीतों में अधिक व्यक्त है, संभवतः इसलिए कि एक न एक दिन उसे दूसरे घर जाना होता है। सन्तानोंत्पत्ति के अथवा पालनपोषण के कष्ट माता को याद नहीं रहते। इसीलिए बिदाई के गीत करुण रस से पूर्ण होते हैं। भाई-बहिन के अटूट प्रेम की दृष्टि से 'ऋतु-गीत' उल्लेखनीय हैं जिनमें बहिन अपने एकाकी पन पर भाग्य को कोसती है।

वह कहती है कि सूरज और चंद्रमा दो भाई-बहिन की तरह हैं किन्तु मेरे न पिता हैं न भाई। मैं तो स्वर्ग से परित्यक्त हूँ। चैत के महीने न्योली चिड़िया

बोलने लगेगी, मेरे लिए भेतौली कौन लाएगा ? मेरे भाग्य में केवल रोना-पीटना लिखा है। ऐसे ही भाव लोक गीतों को करुण बनाते हैं।

सास-बहू सम्बन्धी कथाओं को दुहराने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनकी पारस्परिक कटुताओं की चर्चा प्रसिद्ध है। पक्षी कथानक इसके सुन्दर उदाहरण हैं जहाँ बहू कठोर परिश्रम करते करते मर जाती है। स्त्री के लिए वैधव्य अभिशाप है क्योंकि रुढ़िग्रस्त समाज उसे जीवित रहने तक का अधिकार नहीं देता। इसलिए कुछ गीतों में यहाँ तक कहा गया है कि कन्या शत्रु के घर भी जन्म न ले ! उसकी अपेक्षा तो शेर-बाघ पालना अच्छा है। शेर-बाघ के खा लेने पर तुरन्त मृत्यु हो जाती है जब कि विधवा की बात विगड़ने पर ऐसी जगहँसाई होती है कि ससुराल और मायके वाले, दोनों के मुख पर कालिख पुत जाती है।

स्थानीय समाज का एक मुख्य पक्ष आर्थिक है। ग्रामीण-जीवन में यदि एक ओर सुख-समृद्धि, धन-धान्य के स्वप्न हैं तो दूसरी ओर दुख, गरीबी और भूख का भीषण यथार्थ है। दुर्भिक्ष की बुराई अनेक गीतों में की गई है। जब खाने को रूखे मडुवे की रोटी तक नहीं है तब भोग-विलास कैसे संभव है ? गीतकार व्यंग्य करता है कि इधर पटवारी-अमीनों की चैन-चुपड़ी हो रही है, उधर गरीबों का भुस निकल रहा है। वह उन विकास योजनाओं की प्रशंसा भी करता है जिनके द्वारा कोशी नदी का पानी अलमोड़ा के बाजार तक पहुँचाया गया है। वह गाता है—

"आज जस राज भइ निआयो कोई राज में,
क्ये भल सुधार भयो कांगरेस का राज में।"

भले ही इस प्रकार के गीतों को प्रचारात्मक कहा जाये अथवा ये क्षणजीवी हों, किन्तु इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि सामयिक परिस्थितियों की सामान्य जनता पर कैसी प्रतिक्रिया होती है।

२. आदर्श कल्पनाएँ—

कुमाऊँनी लोक साहित्य में जिस नैतिक विचार धारा के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं वह अत्यन्त लोकोत्तर एवं आदर्श रूप हैं। स्त्रियाँ यदि सन्तान प्राप्त करने के लिये रात भर दीपक लेकर मंदिरों में तपस्या करती हैं तो अपने सतीत्व की रक्षा के लिये दराँती लेकर शत्रु पर झपट पड़ती हैं। भाइयों ने स्वजनों, जाति या प्रेम के लिये प्राण गँवाए हैं इस संबंध में वीर गाथाएँ द्रष्टव्य हैं। मानव-हित का सर्वोपरि मानने के उपदेश दिये गये हैं और गीतों में 'सर्व

जन सुखाय' की भावना व्याप्त है। राष्ट्र-प्रेम संबंधी विचारों का भी अभाव नहीं है भले ही ये विचार अर्वाचीन हों।

संजा' नामक प्रसिद्ध गीत इसका उदाहरण है जिसमें कृष्ण की द्वारिका और राम की अयोध्या तक सम्मिलित की गयी है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त संध्या का विस्तार होता है जो लोक मंगल का प्रतीकात्मक उल्लेख है।

उच्च प्रेम के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक सभी रूप व्यक्त हुए हैं। लोकगायक की दृष्टि नायिका के निरन्तर पल्लवित होते हुए यौवन से लेकर विरह की अन्यान्य स्थितियों को पार करती हुई प्रेम के अमरत्व तक की खोज करती है। प्रेमी-प्रेमिका किसी अज्ञात शक्ति के बाधक होने से या तो परस्पर नहीं मिल पाते या उन्हें विवशता पूर्वक वियोग सहना पड़ता है यौवन की मधुर झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले यहाँ एक से एक सुन्दर गीत हैं और लोक गायक अंततः इस सत्य की व्यंजना करता है कि सचमुच चार दिन के यौवन में आँखें वन्द हो जाती हैं—

"जतियँ की कानी, चार दिना ज्वानी मांजी ग्रांखी बुजी जानी।"

३. धार्मिक चित्रण—

धार्मिक जीवन पर प्रायः सभी लोक रचनाएँ प्रकाश डालती हैं। लोक साहित्य का निर्माण ही वस्तुतः धर्म की नींव पर होता है। अनेक व्रत-कथाएँ' सूर्य पूजन से संवंध रखती हैं। षष्टी माता का व्रत संभवतः सूर्य-पूजा का एक रूप है जो पुत्र-प्राप्ति के लिए किया जाता है सूर्योदय होने पर स्त्रियाँ सूर्य को अर्घ्य देकर पक्वान्न तथा फल समर्पित करती हैं। लोक कथाओं में वर्णित्त ग्वाल जैसे देवता झाली-माली जैसी देवियाँ एकाधिक रूप में शिव अथवा उसकी शक्तियों से संवंध रखती हैं।

इतना निश्चित है कि 'जागर' गाथाएँ कुमाऊँ में शैव धर्म का व्यापक प्रभाव सूचित करती हैं। देवी-देवताओं की मनौतियों से न जाने कितने धार्मिक विश्वासों का प्रभाव खोजा जा सकता है।

यह साहित्य धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से अधिक रोचक है। सामाजिक वैषम्य का मूल कारण कहीं पर कर्मफल कहा गया है तो कहीं पर भाग्य की प्रवलता व्यंजित हुई है। इसी के अंतर्गत परियों और भूत-प्रेतों के जादू टोनों से निर्मित लोक कथाएँ देखी जा सकती हैं। कुमाऊँ में परियाँ आँचरी कींचरी, चंचरी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। ये आकाश में किसी देवता के साथ अथवा गुफाओं, पहाड़ों की चोटियों पर रहती हैं। सुंदर उजले वस्त्र पहनती हैं, उदार होती हैं और बच्चों को प्यार करती हैं। कभी छोटी लड़कियों पर आ जाती

हैं अथवा युवक वीरों का अपहरण कर लेती हैं। सुरजू कुअँर की कथा में परियों ने उसे पकड़ कर इस शर्त पर छोड़ा है कि तिब्वत से लौटने पर वह उनसे विवाह कर लेगा।

धार्मिक विश्वास और जादू-टोने लोक संस्कृति में मिले जुले होते हैं। कुमाउँनी लोक रचनाओं में जादू टोने विविध प्रकार के हैं जिन्हें मुख्यतः दो प्रकार का मान सकते हैं। एक समानतामूलक जादू टोने (होमियोपैथिक मैजिक) और दूसरा संक्रामक जादू-टोने (कंटेजियस मैजिक)। इनका प्रयोग शत्रु का नाश करने के लिये, रोगों का निवारण करने के लिए, प्रेतवाधा दूर करने के लिये अथवा किसी अमंगल से बचने के लिये एकाधिक स्थलों पर किया गया है।

शत्रु का नाश करने के लिये उसके कटे हुए बालों, नाखूनों अथवा उसके आकार की प्रतिमा को आधार बनाकर टोना किया जाता है। बाल नाखून चूंकि उस व्यक्ति से संबंध रखते हैं, इसलिए इन टोनों के पीछे अंश से अंशी को प्रभावित करने का विश्वास अंतर्निहित है.। ह्यूंराज महर की लोक कथा में वर्णन है कि बेलवाल लोग उसको मारने के लिए उसके भैंसे को काली माई के मंदिर में बलि देने ले जाते हैं। जादू के अनेक प्रयोग हैं, जैसे पुरुषों को पशु बना दिया जाता है। सुरजू कुअंर की लोक कथा में सुरजू की पत्नी बिजोरा ने मनुष्य को तो नहीं किन्तु घोड़े को मधु-मक्खी बनाया है।

कुछ विशेष प्रकार के जादू-टोनों का एवं लोकविश्वासों का वर्णन मिलता है जो अन्यत्र नहीं दिखाई देते। जैसे उपर्युक्त कथा में ही श्रीकृष्ण अपनी दायीं जाँघ मलकर भौरों का एक झुंड उत्पन्न करते हैं और उसके द्वारा सुरजू तक अपना पत्र भिजवाते हैं। सिदुवा रमौल अपने जादू से उन सारी परियों को जाल में बाँध लेता है जिन्होंने सुरजू का सौंदर्य छीन लिया और उन्हें विवश किया है कि वे सुरजू के सौंदर्य को वापस कर दें।

रमौल-गाथा में वर्णित प्रसंग के अनुसार श्रीनाथ रमौल अपनी माता से कहता है कि अगर कड़ाही में रक्खा हुआ दूध रक्त वर्ण हो जावे तो समझ लेना कि मैं वीरगति को प्राप्त हुआ। लोक-कथाओं का यह विश्वव्यापी कथाभिप्राय है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के लोकविश्वास, जादू टोने व्यापक रूप से लोकधर्म के विश्लेषण में सहायक होते हैं।

४ .जीवन दर्शन—

मनोरंजन एवं जीवन सत्य का प्रतिपादन करने की दृष्टि से इन रचनाओं में महत्वपूर्ण सामग्री है। वैसे तो सारी लोक रचनाएँ ही जन-जीवन के अनुभूत ज्ञान से भरी हुई हैं फिर भी लोकोक्तियाँ और कहावतें इस दृष्टि से अधिक

उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा शाश्वत एवं सामयिक दोनों सत्य उजागर होते हैं।

जन समाज का प्रत्येक स्थिति के अनुकूल या प्रतिकूल निजी · अनुभवों के आधारों पर एक दृष्टिकोण बन जाता है। जीवन,जगत, भाग्य, समाज, आचार विचार, रहन-सहन सभी को वे एक विशिष्ट मानदंड-पर तोलने के अभ्यस्त हो जाते हैं। अतः कहावतों में अनुभूतियों के आधार पर कहीं जीवन-दर्शन की एक रूपता लक्षित होती है तो कहीं अनेक-रूपता। कुमाउँनी कहावतों में एक ओर कट्टर भाग्यवादी दृष्टिकोण है तो दूसरी ओर भाग्य पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्तियों पर व्यंग्य किया गया है। कहा गया है कि कर्म ही दूसरे जन्म का भाग्य वनता है।

गूढ़ सत्य की व्यंजना करने वाली कहावतों में कुछ भाव इस प्रकार हैं— जहाँ कौवा काँव नहीं करता वहाँ क्या रात्रि समाप्त नहीं होगी ? साँप के पैर साँप ही पहचानता है। जहाँ मूसल चले वहाँ कुशल समाप्त हुई। अपनी अपनी कह गये और चार दिन रह कर चले गये। जो मरने से नहीं डरता वह सब कुछ कर सकता है। ठहरो ! ठहरो कहने से कोई साथी नहीं बन जाता, मेरा है-मेरा है कहने से कोई अपना नहीं हो जाता, आदि।

भाग्य संबंधी कहावतें कुमाऊँ वासियों की रुढ़िप्रियता को व्यंजित करती है। उनका अखंड विश्वास है कि होनी होकर रहती है अभागे के लिए परि-स्थितियां उलटी हो जाती हैं। तराजू के पलडे कभी नीचे कभी ऊपर ! राजा के सिर मुकुट रक्खा किन्तु बनवास की खबर ही नहीं; कभी घी खाना तो कभी मुट्ठी भर चने खाना। अभागा परदेस पहुँचा और वहाँ भी अकाल पड़ा; मोची स्वर्ग पहुँचा, वहाँ भी मोची का मोची ही रहा ! जैसे विचार उक्त भाग्य वादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हैं।

किंतु लोकोक्तियों की यह विशेपता है कि वे मनुष्य को अकर्मण्य नहीं होने देतीं। लोक रचनाएँ संभवतः इसी कारण अत्यन्त आकर्षक होती हैं कि जीवन जगत के विरोधाभासों से मुक्त होने पर भी वे मनुष्य को निष्क्रिय नहीं होने देतीं। कथाकार जब कहता है कि करनी का फल भोगना पड़ता है तो स्पष्ट ही वह कर्मफल पर जोर देता है अर्थात् वह मानता है कि कर्म ही दूसरे जन्म का भाग्य वनता है। इसलिए जब कुमाउँनी कहावतों में हम इस प्रकार के विचार देखते हैं—ऊखल में सिर डाला तो मूसल से क्या डरना ? पुराने पत्तं का झरना और नये पत्ते का लगना। बिना अपने मरे स्वर्ग नहीं देखा जाता ! तो कोई आश्चर्य नहीं होता।

५. ऐतिहासिक महत्व

इस सामग्री द्वारा स्थानीय इतिहास—भूगोल की अनेक ऐसी विशेषताओं का पता लगाया जा सकता है जो अन्य साधनों द्वारा प्राप्त नहीं होतीं। वीर गाथाओं में यद्यपि प्रत्येक वंशावली को अथवा प्रशस्तियों को प्रामाणिक मानना समीचीन नहीं होगा फिर भी इनसे अज्ञात तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। इन गाथाओं में जिन राजाओं, सरदारों और वीर मल्लों के युद्ध वर्णित हैं, उनका समय लगभग दसवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक है। इस सामग्री का ऐतिहासिक महत्त्व कितना है इस सम्बन्ध में श्री तारादत्त गैरोला के इन शब्दों को उद्धत करना पर्याप्त होगा जिन्होंने सन् १६३४ में पादरी ओकले के साथ मिलकर 'हिमालयन फोकलोर' नामक पुस्तक की रचना की थी—

"दी फोकलोर ऑफ दी हिमालयाज, एपार्ट फ्रॉम इट्स माइथॉलॉजिकल लीजेंडस, हैज रेफरेंस टु दी मेडिवल पीरियड ऑफ इटसु हिस्ट्री एण्ड रिफलेक्ट्स दी सोशल एण्ड पॉलिटिकल कंडीशन्स आफ दोज टाइम्स। इन फैक्ट इट थ्रोज विपिड लाइट ऑन दी रिलीजियस, सोशल एण्ड पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ दी पीरियड। हेन्स दी हिस्टॉरिकल इंपॉर्टेंस ऑफ दी सब्जेक्ट।" (पृ० ६)

यह ठीक है कि ये गाथाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से परम्परित होने के कारण बहुत बदल गई हैं फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि इनकी आत्मा अभी तक सुरक्षित है। इन्हीं गाथाओं से कत्यूरी राजाओं से मूलस्थान का ज्ञान होता है। इन्हीं गाथाओं से ज्ञात होता है कि यहाँ के तथाकथित 'पैके' अर्थात् सरदार भले ही उच्चकुलीन न रहे हों किन्तु अपनी शक्ति एवं क्षमता के कारण राजवंशों के साथ वैंवाहिक सम्बन्ध तक स्थापित कर लेते थे।

गाथाएँ राजनैतिक जीवन पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं। राजाओं के महलों में षड़यंत्र होते रहते थे। इसी कारण उनके रसोइयों पर कड़ी नजर रक्खी जाती थी। राजाओं के अत्याचार बढ़ जाने पर सेनापति विद्रोह करके अथवा कोई चाल चलकर उसे मार डालते थे। महर-फड़त्याल लोग किस प्रकार चन्द्र राज्य काल में किंग मेकर्स हो गये थे, इसके पर्याप्त संकेत गाथाओं में मिलते हैं।

कुमाऊँनी लोक गाथाओं एवं लोक कथाओं में मुख्यत: केवल तीन जातियों की चर्चा हुई है—ब्राह्मण: खसराजपूत और डोम। ब्राह्मणों की संख्या कम थी फिर भी अपनी तांत्रिक शक्तियों के कारण वे प्रबल थे। राजा उनके मंत्र बल का सहारा लेकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते थे। उनके यज्ञ करने का शास्त्रीय अनुष्ठान करने का अनेक स्थानों पर वर्णन हुआ है।

राजा एवं सरदारों के यहाँ वंश-परम्परागत चारण-गायक होते थे जिनके वंशज वर्तमान ढोली-औजी आदि हैं। यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय

यहाँ बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित रही होगी। अजवा बम्पला की गाथा में सालू-मालू नामक दो वीरों की एक पत्नी दुदुकेला का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार समाजशास्त्र की दृष्टि से इनमें वर्णित विभिन्न रीति नीतियाँ उपादेय हो सकती हैं।

६. भौगोलिक उल्लेख

कुमाऊँनी लोक गीतों एवं गाथाओं में अनेक प्राचीन एवं आधुनिक स्थानों के उल्लेख हैं जो भूगोल की जानकारी देते हैं। यहाँ के विभिन्न पर्वत-शिखरों, छोटी-बड़ी नदियों एवं उनकी घाटियों का अलग-अलग उल्लेख स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों को जानने की दृष्टि से उपादेय हैं।

मालूशाही नामक लोक- महाकाव्य के भौगोलिक उल्लेख इस दृष्टि से अधिक तथ्य परक हैं क्योंकि आज तक स्थानीय मानचित्र में उनकी स्थिति स्पष्ट है। इसका कथानक हुण-देश अर्थात् तिब्बत प्रदेश से लेकर भावर में काठगोदाम के ऊपर चित्रशिला (रानीबाग) नामक स्थान तक फैला हुआ है। अर्थात् एक प्रकार से संपूर्ण कुमाऊँ का क्षेत्र-विस्तार इस महाकाव्य के कलेवर में समा गया है।

इस काव्य की नायिका राजुला जब जोहार से चल कर वैराठ तक पहुँचती है तो लोक गायक उसके मार्ग में पड़ने वाले प्रसिद्ध स्थानों, सरिताओं, मन्दिरों, जातियों का परिचय करता चलता है। इनमें अनेक स्थान पहले की भाँति बने हुए हैं तथा वैसी ही विशेषताओं से युक्त हैं। जैसे कोस्यां नामक स्थान के बासमती चावल, दूनागिरी नामक स्थान का दूध दही, पटकोट नामक स्थान के गावा, जनौली नामक स्थान के केले आज तक प्रसिद्ध हैं। सरयूनदी के किनारे स्थित बागेश्वर का मन्दिर अभी तक अपने महात्म्य को बनाये हुए हैं। फैंमरो तथा कैड़ारी की पट्टियों में वही जातियाँ निवास करती हैं यद्यपि उन्होंने दूसरे व्यवसाय अपना लिये हैं।

इसी प्रकार की स्थानगत विशेषताएँ कहावतों में प्राप्त हैं जहाँ चौगर्खा, शोर, पुन्यगिरी, गंगोली, रामपुर, मुंस्यारी, पाटिया, कांडा आदि स्थानों के निवासियों को आधार बना कर अनेक उक्तियाँ प्रचलित हैं। अतः स्थानीय भूगोल की एकाधिक विशेषताएँ काव्यात्मक परिचय के सहारे इन रचनाओं में सुरक्षित हैं।

७. काव्यात्मक विशेषताएँ—

लोक साहित्य की आत्मा उसकी अकृत्रिमता, सरलता एवं सरसता में निवास करती है। रस उत्पन्न करने के विभिन्न उपकरण इसमें सायास नहीं जुटाये जाते। भाव और विभाव, अलंकार और चमत्कार इसमें सहज रूप से

चले आते हैं। उनका कोई पूर्वापर क्रम निर्धारित नहीं होता। कुमाऊँनी लोक रचनाओं में हम देखते हैं कि इनमें अर्थकारों की सहज छटा है और वही अलंकार अधिक प्रयुक्त हुए हैं जो किसी दृष्य को मूर्त्तिमान करने में विशेष सहायक होते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इनके प्रिय अलंकार हैं। उपमाएँ प्रायः आकृति मूलक साम्य पर आधारित है। जैसे दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. "जांगन को जोला त्यरो केली कसी खामा।"

२. "राणी दुदुक्यावा तब स्थूनि गाड़न लागी धौली जसा फाट।"

पहले उदाहरण में जाँघों की तुलना केले के खम्भों से की गई है। दूसरे उदाहरण में कहा गया है कि रानी दुदुकेला अपनी माँग निकालने लगी जो धौली गंगा के पाट जैसी थी।

इन रचनाओं के उपमान सर्वथा नवीन हैं, मौलिक एवं स्थानीय हैं जिनका चुनाव करते समय लोक गायक बड़ी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हैं। वे परंपरा भुक्त नहीं हैं। आँखों को यदि वह नौला अर्थात् जलपूर्ण बावड़ी कहता है तो स्त्री की माँग की तुलना कुमूँमार्ग अर्थात् पहाड़ी बटिया से देता है जो सीधी और खड़ी होती है। कहीं पर वह इसी शैली में बालक के टखनों की तुलना आड़-फल की गुठली से करता है। अथवा शुभ ललाट की तुलना चमकते हुए सूर्य से करता है।

लोक गीतों में प्रयुक्त छन्द योजना पर्वतीय स्वभाव की भाँति उन्मुक्त है यद्यपि इसके कुछ नियम मात्रिक आधार पर निश्चित किये जा सकते हैं। छन्दों में लोक गायक मात्रा क्रमों की उपेक्षा, लय पर अधिक जोर देते हैं। मात्राएँ भले ही कम अधिक हो जाएँ किन्तु प्रवाह खंडित नहीं होना चाहिये। इस कारण गायक की मुख्य दृष्टि प्रवाह पर रहती है। लय की प्रधानता इनकी पंक्तियों को संगीतमय बना देती है।

संगीत की प्रधानता इसी तथ्य से जानी जा सकती है कि लोकगीतों का प्रस्तुतिकरण शृंगार-करुण आदि भावों के अनुसार विभिन्न रूपों में हुआ है। विषय वस्तु एक जैसी होने पर भी गायन पद्धति में भेद होने के कारण लोक-गीत अलग-अलग नामों से पुकारे जाते हैं। छन्द-विधान भावानुकूल होता है। तुक के लिये 'हे राम,' 'आहारे' 'हो' जैसे शब्दों की बार-बार आवृत्ति की जाती है। छन्दों की तुकान्त-योजना सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की होती है।

रसों की दृष्टि से लोक गीतों में यदि शृंगार और करुण रसों की प्रधानता है तो लोक गाथाओं में बीर रस की प्रधानता है। लोक कथाओं में हास्य के साथ अद्भुत रस का समावेश मिलता है। पर्वतीय लोक-जीवन की धुरी नारी है।

उसके लिये संघर्ष और अवसाद के क्षण अधिक आते हैं। अतः जन-जीवन की विभिन्न मनोदशाओं का चित्रण करते समय करुणा की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। प्रेमी-प्रेमिकाओं के मधुर गीतों में संयोग की अपेक्षा वियोग की प्रधानता रहती है जो 'न्योली' गीतों में लक्षणीय है। 'भगनौला' और 'छपेली' गीत संयोग शृंगार के कुछ उदाहरण हैं। प्रेमियों के लिये 'सुवा' शब्द प्रिय संबोधन है।

लोक गाथाओं में जब वीर भटों की वेशभूषा, रणसज्जा, आकृति तथा युद्ध का वर्णन होता है तो वीर रस की धारा प्रवाहित होने लगती है। ये वीर जब सौ हाथ ऊँचे लट्ठों से कूदते हैं, जमीन पर फैले हुए रीठे के दानों को पैरों से मसल कर धूल में मिला देते हैं, सौ मन के मुद्‌गरों को हवा में उछाल कर छोटी उँगली पर रोक लेते हैं; तो इस प्रकार के वर्णनों से वीरता संचार होता है।

८. भाषागत विशेषताएँ—

भाषा शास्त्र की दृष्टि से अभी लोक-साहित्य का विवेचन कम हुआ है यद्यपि विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित होने लगा है। जहाँ तक कुमाउँनी लोक-साहित्य में प्रयुक्त भाषा का प्रश्न है, इसमें प्रयुक्त अनेक शब्दों की निरुक्ति स्पष्ट होने पर कुमाऊँनी भाषा-संबंधी कई समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। संस्कृत शब्द भण्डार की अधिकता, राजस्थानी प्रयोगों की बहुलता, आधुनिक काल में ब्रज बोली और खड़ी बोली की ओर झुकाव को देखकर अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है।

उदाहरणार्थ एक शब्द 'आहण' इस समय कुमाऊँ में बालकों की पहेलियों के लिये प्रयुक्त होता है। यह संस्कृत के 'आभाणक' शब्द का रूपान्तर है जिसका प्रयोग वहाँ कहावत के लिये होता था। मराठी में आज तक 'भाषा' शब्द प्रचलित है और गुजराती के 'उखाणा' तथा गढ़वाली के 'परवाणा' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार के बहुप्रयुक्त शब्द भाषा संबंधी विवेचनों में सहायक हो सकते हैं।

कुमाउँनी के विषय में विद्वान अनेक धारणाएँ रखते हैं। अधिकतर लोग, इसे एक बोली मानकर पहाड़ी भाषाओं के अंतर्गत स्थान देते हैं। कुछ लोग इसे शौरसेनी प्रसूत मानते हैं तो कुछ लोग इसके वर्त्तमान प्रचलित रुप को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं।

शब्द भँडार के अतिरिक्त इसके व्याकरण का विवेचन और अधिक उलझा हुआ है। हिन्दी भाषा के साथ इसके वास्तविक संबंधों की अभी तक ठीक-ठीक

परीक्षा नहीं हो सकी है, इस दृष्टि से कुमाउँनी प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत करने में ये लोक रचनाएँ कितनी सहायक होंगी, इसे समझा जा सकता है।

यहाँ पर अभिव्यंजना की दृष्टि से कुमाउँनी प्रयोगों की मौलिकता दर्शनीय है। इनमें आवश्यकता के अनुसार नये भावों के द्योतक शब्द गढ़ने की अपूर्व क्षमता है। अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके पर्याय नहीं दिये जा सकते। जैसे 'टपकिया' शब्द से सभी परिचित हैं जो दैनिक भोजन की वस्तु है किंतु इसका वोध साग, तरकारी, सब्जी—किसी शब्द से नहीं होता। जब स्त्रियाँ दिन भर का कार्य समाप्त करके कुछ समय के लिये गपशप करने बैठती हैं तो उसे 'क्वीड़'-कहते हैं। यह भी ऐसा ही शब्द है जो स्थिति विशेष को मूर्तिमान करता है।

इन शब्दों के साथ जिन स्थानीय संदर्भों का नित्य साहचर्य है, वह विवेचन लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः कुमाउँनी का जो विशाल शब्द-भंडार लोक रचनाओं में उपलब्ध है उससे न केवल इसके स्वरूप एवं विकास पर प्रकाश पड़ेगा वल्कि राष्ट्रभाषा हिन्दी इससे लाभान्वित होगी।

इसके अतिरिक्त यदि कुमाऊँनी लोक साहित्य को हिन्दी के अन्य क्षेत्रीय रूपों जैसे ब्रज लोक साहित्य, अवधी लोक साहित्य के समानान्तर रखकर देखें अथवा पंजाबी, राजस्थानी आदि की क्षेत्रीय रचनाओं से इसकी तुलना करें तो अनेक तथ्य उद्घाटित होते हैं। इनके तुलनात्मक, अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले निवासियों का लोक मानस एक जैसा होता है, देशगत भेद उनकी प्रेम-राग। द्वेष, क्रोध जैसी मनोवृत्तियों को तो नहीं बदलता। केवल उनकी अभिव्यक्ति के माध्यमों को बदलता है।

इसी कारण विभिन्न प्रदेशों के लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करते समय समानताएँ और अन्तर दोनों लक्षित होते हैं। कुमाऊँ का लोक-साहित्य इस तथ्य का अपवाद नहीं है।

६. सांस्कृतिक महत्व

कुमाऊँनी लोक-साहित्य का अध्ययन करते समय यही विशेषता स्पष्ट होगी कि विभिन्न जातियों के आधार-संस्कार और रीति-नीतियाँ जो इसमें प्रतिबिंबित है वे मूलतः भिन्न होते हुए अब एक समन्वित संस्कृति अर्थात् लोक संस्कृति की प्रतीक होते हैं। कुमाऊँ के इतिहास, धर्म और भाषा पर अठकिंसन, कनिंघम, ओकले, ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने सराहनीय कार्य किया है जो यहाँ की सांस्कृतिक विरासत के उद्घाटन में योगदान देता है।

यह न केवल स्थानीय लोक संस्कृति का दर्पण है बल्कि पर्वत-वासियों को यथार्थ जीवन में अनुप्रेरित करने वाला भी है। ये निवासी एक ओर इस साहित्य का निर्माण करते हैं दूसरी ओर इससे प्रभावित होकर जीवन प्रणाली को विक-सित करते हैं। अत: सांस्कृतिक प्रयोजन की दृष्टि से इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

अभी तक कुमाऊँनी लोक साहित्य की यत्किंचित जो सामग्री संग्रहीत हुई है उसका अध्ययन करने पर इतना विश्वास उत्पन्न होता है कि इसकी मूल्यवान सामग्री अंधकार में छिपी पड़ी है। यह शोधकर्त्ताओं का कर्त्तव्य है कि इसका सम्यक् विवेचन करते हुए स्थानीय संस्कृति के निरन्तर विकासमान स्वरूप को उद्घाटित करें। लोक साहित्य की रचना लोक मानस के द्वारा, लोक मानस के लिये होती है। कुमाऊँनी लोक साहित्य इस तथ्य का अपवाद नहीं है।

एक स्थानीय लोक गायक के शब्दों से हम इसकी महत्ता का अनुमान कर सकते हैं जिनमें वह सम्पूर्ण मानवता के प्रति कल्याण कामना करता हुआ कहता है कि—लड़ मर कर क्या होगा? लड़ाई तो धोखा है! बस धरती की कोष हरी-भरी रहना चाहिये—

"लड़ि मरि के होलो, लड़ाई छ धोखा।
हरी-भरी रई चैं छ धरती की कोखा॥"

१४. संग्रह में कठिनाइयाँ और सुझाव

लोक साहित्य के अध्येताओं की यह धारणा युक्तियुक्त मालूम होती है कि यदि देश-विदेश के विविध क्षेत्रों में बिखरी हुई बहुविध लोक साहित्य की सामग्री का यथाशीघ्र संग्रह नहीं किया गया तो इसे नष्ट होने में देर नहीं लगेगी। चूंकि लोक वार्ता पारंपरिक दृष्टि के आधार पर ग्रामीण समुदायों से संवद्ध मानी जाती है, इसलिए नगरीकरण के इस युग में ऐसी आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कुमाऊँ में वर्त्तमान जीवन की दौड़-धूप में न केवल लोक-रचनाओं को सुनने-सुनाने के अवसर कम होते जा रहे हैं बल्कि इन्हें संग्रह करते समय कुछ ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है कि शोधकर्ता का साहस टूट जाता है।

कठिनाइयां व्यक्तिगत और सामान्य दोनों प्रकार की हैं। व्यक्तिगत कठिनाइयों को तो बहुत कुछ प्रशिक्षण देकर दूर किया जा सकता है, किन्तु सामान्य कठिनाइयों का निराकरण उतना सरल नहीं है।

सामान्य कठिनाइयाँ—

यहाँ पर संग्रह कार्य में कुछ सामान्य कठिनाइयों का उल्लेख किया जा सकता है जिनका निराकरण कई बातों पर निर्भर है। ये कठिनाइयाँ मुख्यतः प्राकृतिक, सामाजिक और व्यावहारिक तीन प्रकार की है।

प्राकृतिक—

१. प्राकृतिक अथवा भौगोलिक कठिनाइयाँ इस प्रकार की हैं कि यह पर्वतीय विकास मण्डल के प्रयत्नों से यद्यपि विगत वर्षों में यहाँ सैकड़ों मील लंबी सड़कें बनाई गई हैं, कच्चे मार्गों को पक्का किया गया है, नदियों पर पुल बने हैं, फिर भी आवागमन के साधनों की इतनी कमी है कि संग्रह में कठिनाई होती है।

कुछ स्थानों पर तो प्रत्येक ऋतु में वहीं के निवासियों को जाने में कठिनाई होती है। दारमा के सुदूर उत्तर धाश्चूला—गर्ब्यांग की ओर जलवायु तथा वातावरण बिलकुल बदल जाता है। संग्रह-कर्त्ता अपने को ऐसे लोगों के बीच उपस्थित पाता है जिनका रहन सहन, रीति-रिवाज उससे बिलकुल भिन्न है। स्पष्ट हैं कि वह ऐसे निवासियों से घुल-मिल कर बात नहीं कर सकती।

२. दूसरी भौगोलिक कठिनाई भाषागत है। एक घाटी से दूसरी घाटी में जाते समय बोली बदल जाती है। अथवा दो पर्वत शृंखलाओं के बीच इतना स्थानीय अंतर होता है कि अनेक बोलियाँ विकसित हो जाती हैं। कभी कालीपार के रहने वाले लोगों को इधर की भाषा समझने में कठिनाई होती है। इसी कारण भौगोलिक आधार पर कुमाउँनी के पन्द्रह सोलह-क्षेत्रीय रूप वन गए हैं। मानक कुमाउँनी (स्टैंडर्ड डायलेक्ट) यदि हिन्दी के निकट है तो सीमावर्ती क्षेत्र में व्यास-चौदांस की बोली तिब्बती प्रभाव लिए हुए है। वह बोली बिना दुभाषिये के समझ में नहीं आती।

इस कारण एक ही प्रकार के लोक-गीत इन बोलियों में इतने भिन्न हो गये हैं कि इनकी मूल एकता पर आश्चर्य होता है इसके अतिरिक्त किसी एक स्थान में विभिन्न सामाजिक स्तरों का लोक भाषा पर प्रभाव पड़ता है। अलमोड़ा नैनीताल के पढ़े-लिखे लोगों की भाषा, शाह लोगों की बोलचाल से भिन्न है। इसके फल स्वरूप संग्रह कार्य में कठिनाई होती है।

३. तीसरी कठिनाई यह है की लोकसाहित्य की सामग्री दूर तक बिखरी हुई तथा अप्रकाशित है। यह सामाग्री लोक कंठ में निवास करती है इसलिए मौखिक रूप में प्रचलित रहना इनके विकास के लिए तो ठीक है किन्तु संग्रह कर्त्ता की दृष्टि से बाधक है। इतिहास के तथ्यों के चारों ओर जातीय एवं ग्रामीण जन श्रुतियाँ इतनी घुली-मिली हैं और विभिन्न लोकगायक उनमें स्थानीय तत्वों का इतना मिश्रण कर देते हैं कि रचनाओं का मूल रूप ढूंढ़ना अत्यन्त कठिन हो गया है।

एक कथा अलग अलग रूपों में कही जाती है। प्रत्येक घटना अथवा जातीय वीर को अपने निवास स्थान के आसपास विद्यमान कहा जाता है। इस कारण एक ही रचना अनेक रूपान्तरों में प्रचलित है। रमौलों के अनेक भेद हैं। मालूशाही के तीन-चार रूपान्तर ज्ञात हैं जिनके समस्त संग्रहों के अभाग में गाथा का सम्यक् विश्लेषण संभव नहीं है। ये कारण मुख्यतः प्राकृतिक वातावरण से सम्बन्ध रखते हैं।

सामाजिक—

१. अनेक सामाजिक कारणों से स्थानीय लोक साहित्य के संग्रह में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ रचनाएँ किसी निश्चित अवसर अथवा अनुष्ठान विशेष से संबंध रखने के कारण प्रत्येक समय नहीं गाई जा सकतीं। जैसे 'जागर' लगाने का निश्चित प्रयोजन होता है, निश्चित अवसर होता है। ये रात में ही लगाये जाते हैं। 'ऋतु-रैण' केवल चैत के महीने गाए जाते हैं। 'ढुसुका'

गीत केवल दीपावली के अवसर पर मिलते हैं। अन्य किसी अवसर पर गायक इन्हें नहीं सुनाते। अधिक जोर देने पर कहते हैं कि इस समय स्मरण नहीं आता। 'हुड़की बौल' संबंधी आख्यान जैसा कि हमें ज्ञात है केवल रोपाई के समय गाए जाते हैं। अतः इनका संग्रह करने के लिये उपयुक्त अवसरों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

२. संस्कार विषयक गीत स्त्रियों की संपत्ति हैं। कुमाऊँ में परदा-प्रथा तो प्रचलित नहीं है, फिर भी स्त्रियों से प्रत्येक समय संस्कार गीत नहीं लिखवाए जा सकते। एक तो ये गीत सामूहिक रूप में गाये जाते हैं। अकेली स्त्रियों को सभी गीत याद नहीं रहते। यदि उनसे निकटता स्थापित भी की जावे तो तीन चार स्त्रियों का एकत्र होना आवश्यक है। दूसरे कुछ विशेष गीत हुड़कियों द्वारा गाए जाते हैं जिनकी स्त्रियाँ नाचने-गाने का कार्य करती हैं। सामाजिक स्तर में निम्न समझी जाने के कारण इनके साथ उठना-बैठना उपहास, तिरस्कार का विषय बन जाता है। इस कारण शोध-छात्र या संग्रहकर्त्ता को इस गायक जाति से सामग्री प्राप्त करने में कठिनाई होती है।

३. निरंतर उपेक्षित एवं उच्च वर्गों से तिरस्कृत होते रहने के कारण ग्रामीण लोक गायकों में यह भावना उत्पन्न हो गई है कि सभ्य लोग वस्तुतः उनका उपहास करते हैं। किसी नये व्यक्ति को सामने देखकर उन्हें शंका होती है कि यह क्यों आया हैं। उन्हें विश्वास नहीं होता कि मीलों दूर से कष्ट उठाकर कुछ लोग उसकी संचित सामग्री का संग्रह करना चाहते हैं। नवीन व्यक्तियों के साथ वे आत्मीयता पूर्वक बात नहीं कर पाते। यदि उन्हीं के ग्रामवासी युवक यह संग्रह करना चाहें तो वे उनकी उपेक्षा करते हैं। पढ़ने-लिखने का अंतर सामाजिक भेदभाव को जन्म देता है। यह भेदभाव ग्रामीण व्यक्तियों को प्रत्येक नवीनता का कटु आलोचक बना देता है।

४. पढ़े लिखे लोगों ने प्रायः यही दृष्टि अपनाई है कि लोक-साहित्य में क्या रक्खा है? इसकी क्या उपयोगिता है? वे यह विचित्र तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि इन रचनाओं का कुछ महत्व होता तो अभी तक ये क्यों विस्मृत रहतीं? शिक्षित व्यक्ति यह नहीं समझते कि रचना के प्रस्तुतीकरण के उपरान्त ही उसके गुण दोषों का निर्धारण संभव है।

वे पुराने लोगों की रूढ़िवादिता के समर्थक हैं कि जो कार्य उन्होंने नहीं किया उसे हम कैसे करें? इस रूढ़िवादिता का कारण यह है कि आजीविका की खोज में शिक्षित लोगों का ध्यान कहीं नौकरी कर लेने की ओर अधिक रहा है। वे उच्च शिक्षा प्राप्ति का लक्ष्य यही समझते रहे कि अच्छी नौकरी मिले। बाहर जाने पर वे स्थानीय जनजीवन के प्रति उदासीन हो गए।

व्यावहारिक—

१. संग्रहकर्त्ता को गाँव-गाँव में घूमते समय कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अच्छे लोक गायकों का अभाव होता जा रहा है। विभिन्न जातियों के जिन लोगों को रचनाएँ कंठाग्र थीं वे आजीविका हेतु दूसरे व्यवसाय करने लगे अथवा उच्च वर्ग की भाँति स्वयं अपनी रचनाओं के प्रति उदासीन हो गये। उनकी संतानें कुछ पढ़ लिख जाने पर अब 'चैतू' जैसे गीत सुनाने में संकोच का अनुभव करती हैं।

प्रौढ़ एवं वृद्ध, अनुभवी गायकों की पीढ़ी समाप्त हो गई है। उनमें दो चार लोक गायक यथोचित मान्यता के अभाव में इधर-उधर भटक गये हैं। इन गायकों में रीठागाड़ के मोहन सिंह और प्रताप सिंह जैसे इने-गिने लोक गायक निष्ठा-पूर्वक अपनी परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं। मीलों तक चलते-चलते जब किसी गाँव में एकाध पुराने गायक का पता चलता है और संपर्क साधने पर जब वह भी असमर्थता प्रकट करने लगता है तो सचमुच कष्ट होता है।

२. लोक गायकों को गाथाओं अथवा कथाओं की पंक्तियाँ दुहराने में असुविधा होती है। किसी पंक्ति की पुनरावृत्ति करते समय वे नवीन नवीन शब्द योजना कर देते हैं। अपने मूड में आने पर वे खुल कर गाते हैं। अतः इतना विषयान्तर कर देते हैं कि उन्हें मूल कथा प्रसंग स्मरण नहीं रहता। गाते समय उन्हें लिपिबद्ध करना तो और कठिन है। विशेषकर स्त्रियाँ किसी गीत को दुहराकर नहीं गा सकतीं।

गायक सदैव गाने को तैयार नहीं रहते। संग्रहकर्त्ता बड़ी दूर से आया है, केवल उसी के लिये आया है, इन बातों का उस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो तभी गाएगा जब उसका मन होगा। इसलिये कठिनाई उत्पन्न होती है।

३. यह बात सही है कि लोक गायक हर समय नहीं गा सकते। उनकी अनुकूल मनस्थिति होने के अतिरिक्त एक कारण यह है कि विविध कृषि कार्यों अथवा मजदूरी आदि में संलग्न रहने के कारण उन्हें गीत सुनाने का अवसर नहीं मिलता। कभी वे बोवाई में व्यस्त हैं, कभी कटाई में, कभी वे बैल खरीदने चले जाते हैं, तो कभी अनाज बेचने। कभी वे दिनों तक घर में नहीं मिलते।

इस कारण दिन भर का भूखा प्यासा, संग्रहकर्त्ता यदि सायंकाल उन्हें खोज भी लेता है तो उसे दूसरे दिन के लिये टाल देते हैं। स्थिति ऐसी आ जाती है

कि लोक गायक कुछ रुपये-पैसे देकर भी पूरे गीत नहीं सुनाते। संभव है। उनमें कुछ लोग यह समझते हों। कि इन रचनाओं के लिपिबद्ध हो जाने पर उन्हें कोई नहीं पूछेगा।

४. इतिहास की दृष्टि से जैसा कि हम जानते हैं, लोक-गाथाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये गाथाएँ इतनी बड़ी-बड़ी हैं कि निश्चित अवधि के भीतर इन्हें लिख सकना अत्यन्त कठिन है। संपूर्ण आख्यान को रिकार्ड कर लेने की सुविधा सभी को उपलब्ध नहीं होती। कुछ गाथाओं के एक-एक रूपान्तर को एकत्र करने में अनेक दिन लग सकते हैं।

सत्य-पीर की लोकगाथा के चौबीस खण्ड कहे जाते हैं। एक खण्ड को पूरा सुनने पर कम से कम ३ घंटे लगते हैं। जब पूरी गाथा को केवल सुनने के लिये ७२ घंटे चाहिये तो उसे लिपिबद्ध करने में कितना समय लगेगा। इसका अनुमान किया जा सकता है। मालूसाही के गायक बतलाते हैं कि यदि उनका पूरा विवरण सुना जावे तो छः दिन और छः रातें लगेंगी। यह अवश्य है कि वे विषयान्तर बहुत करते हैं। किन्तु कितना अंश संग्रहणीय है कितना नहीं, इसे निर्धारित करना तो बाद की बात है।

५. कुमाऊँ के स्थानीय विद्वानों अथवा कला-प्रेमियों में पारस्परिक विचार-विमर्श का अभाव है। इस कारण न तो कोई सुरुचि संपन्न व्यक्ति अपनी संग्रहीत सामग्री का स्वयं उपयोग कर पाता है और न दूसरों के कार्य में सहायक हो पाता है। व्यक्तिगत रूप से किसी व्यक्ति अथवा संस्था के पास इतना साहित्य नहीं है कि लोक रचना संबंधी कोई ठोस कार्य किया जा सके। यशोलिप्सा पारस्परिक सहयोग को नहीं पनपने देती। कुमाऊँ के व्यक्तियो में प्रतिभा का अभाव नहीं है किन्तु इस प्रकार की व्यावहारिक बाधाएँ संग्रह कार्य को संपन्न नहीं होने देतीं।

इन्हीं सब कारणों से अभी तक कुमाऊँनी लोक-साहित्य का ठीक-ठीक संग्रह नहीं हो सका है। इस सामग्री का सम्यक् विवेचन एवं परीक्षण करना तो अभी शेष है।

लोप के कारण—

कुमाऊँनी लोक-साहित्य का संग्रह करते समय इधर एक प्रवृत्ति और लक्षित होती है जिसका उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। इन लोक रचनाओं का उत्तरोत्तर लोप होता जा रहा है। परंपरा के नाम पर भले ही इनके महत्त्व की दुहाई दी जाए, किन्तु वे चाहे गीत हों चाहे गाथाएँ उनमें लोक की रुचि उतनी नहीं रह गई है। फलस्वरूप, वे नष्ट होती जा रही हैं। जो तिथि-त्योहार

कभी बड़ी धूमधाम से मनाए जाते थे अब उनका निर्वाह मात्र कर दिया जाता है।

यह स्थिति केवल कुमाऊँ में ही नहीं बल्कि संसार के अन्य देशों में भी लक्षित होती है। इंग्लैंड में उत्तरी टेम्स के लोक गीतों पर विचार करते हुए अलफ्रेड विलियम्स नामक विद्वान ने मत व्यक्त किया था कि प्राय: उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग से वहाँ एक अच्छे लोकगीत का रचा जाना बन्द सा हो गया था। तदुपरान्त जो कुछ भी लिखा गया वह हलके स्तर का है जिसे पॉपुलर गीत कह सकते हैं। मेलों का प्रचलन बन्द होने पर पुराने गीत भी समाप्त हो गये। ('फोक साँग्स ऑफ मैकल हिल्स' में उद्धृत भूमिका पृष्ठ २०)

कुमाऊँ में सामान्य रूप से इस सामग्री के निरन्तर समाप्त होने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

१. गायकों की कल्पना शक्ति का घट जाना,
२. बौद्धिकता एवं तार्किक दृष्टि की प्रधानता,
३. आधुनिक मानव जीवन की विषमताएँ,
४. विरोधी-प्रचार,
५. व्यक्तिवादी विचारधारा का विकास,
६. सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन,
७. वर्तमान शिक्षा पद्धति और सभ्यता का प्रभाव,

लोक रचनाओं की प्रमुख विशेषता होती है कि वे किसी ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति को निजंधारी रूप प्रदान करती हैं। यह निजंधारी रूप सामान्य मानव को विशेष शक्ति सम्पन्न, अति मानवीय (सुपर ह्यूमन) अस्तित्व प्रदान करता है। ऐसा रूप तभी प्रदान किया जा सकता है जब वह पात्र पर्याप्त प्राचीन समय का हो तथा श्रोताओं को सुदूर अतीत की वैसी परिस्थितियों का सरलता से विश्वास कराया जा सके। जितना कालातीत युग होगा उतनी ही लोक कल्पना का रंग देकर उसे वैभव पूर्ण बनाया जा सकेगा।

इसके विपरीत जब सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप कल्पना-शक्ति कम होने लगती है तो उससे उत्पन्न पात्रों का निजंधरी व्यक्तित्व समाप्त होने लगता है। कुमाऊँनी लोक-गाथाओं में अधिकांश पात्रों का निजी व्यक्तित्व जो उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा है, उसका यही प्रमुख कारण है।

कुमाऊँ के ग्रामीण निवासी मैदानी भागों से सम्पर्क बढ़ जाने के कारण एवं रेडियो, समाचार पत्रों की सुविधा के कारण आधुनिक सभ्यता से इतना प्रभावित हो रहे हैं कि ग्रामीण संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। परिचय की परिधि बढ़ रही है जिसे वे लोकगीतों के पारम्परिक कलेवर में नहीं समेट पाते। पहले यदि

यहाँ कोई प्रेमिका दो चार परिचित वस्त्राभूषण लाने की इच्छा प्रकट करती थी तो अब उसे रेडियो और घड़ी जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ चाहिये । इस कारण सामयिक लोक गीतों में ग्रामीण जीवन की सरलता दिन प्रतिदिन लुप्त होती जा रही है ।

लोक-साहित्य के लिये मूर्त्त विषय उपयोगी होते हैं । आधुनिक जीवन विचार प्रधान हो जाने के कारण अमूर्त्त विषयों की ओर उन्मुख होता जा रहा है । इस कारण लोक-साहित्य आधुनिक मनोवृत्तियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने में समर्थ नहीं होता, लोक गायक अपनी भाषा में पुराने अस्त्र-शस्त्रों, ढाल तलवारों आदि का सरलता से वर्णन कर सकते हैं किन्तु उनके समकक्ष आधुनिक चित्रणों में उतने सफल नहीं होते ।

लोक-साहित्य की रचना लोक संस्कृति की एक निश्चित अवस्था में होती है जब वह संस्कृति अपनी क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर पल्लवित होती है । आज अन्य स्थानों की भाँति कुमाऊँ में लोक संस्कृति की क्षेत्रीय सीमाएँ बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप विघटित हो रही हैं । इसलिये लोक रचनाएँ स्थानीय विशेषताओं के स्थान पर बाह्य प्रभावों को आत्मसात करने में तत्पर हैं । यद्यपि वे इसमें अधिक सफल नहीं हुई हैं । परिवर्तन की इस गति में स्थानीय रंग (लोकल कलर) मिट रहा है । और स्थानीय लोक गायक अपने परिवेश के प्रति उदासीन होता जा रहा है ।

पहले लोक गायक का जीवन गाँव के विशिष्ट वातावरण में व्यतीत होता था । कृषि अथवा पशु पालन उसका निश्चित व्यवसाय था । अब स्थितियाँ बदल गई हैं । गीत-गाथाएँ जो सामूहिक जीवन की रचनाएँ होती हैं उनके लिये समय नहीं है । व्यक्तिवादी विचारधारा में जिस सामूहिक विचारधारा को खंडित किया है वह ग्रामीण लोक जीवन में प्रवेश कर चुकी है । अब तीन-चार गायकों का एक साथ मिलकर बैठना कठिन हो गया है । पहले मेले और त्योहार लोक गीतों के सबसे उपयुक्त स्थल होते थे । जब मेलों, त्योहारों के प्रति अभिरुचि घट रही है तो लोकगीत प्रदर्शनों के अवसर भी कम होते जा रहे हैं ।

इसी प्रकार की परिस्थितियाँ लोक रचनाओं का लोप हो जाने के लिये उत्तरदायी हैं ।

कुछ सुझाव—

कुमाऊँनी लोक-साहित्य की नष्ट प्रायः सामग्री को सुरक्षित रखने के लिये यहाँ पर कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं ।

एक सुझाव यह है कि स्थानीय साहित्य चाहे वह लिखित हो अथवा अलिखित, प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, कुमाऊँनी में ही अथवा अन्य किसी

किसी भाषा में सुबद्ध योजना के आधार पर संगृहीत किया जाय । गाँव-गाँव में पहुँच कर प्रत्येक विषय की प्रकाशित, अथवा हस्तलिखित रचनाओं का पता लगाया जाय, उनका वर्गीकरण किया जाय और तव उनके सम्यक् प्रकाशन की व्यवस्था हो । इस प्रकार यह ज्ञात हो सकता है कि अट्ठारहवीं शताब्दी में अथवा इसके पूर्वकुमाऊँनी भाषा साहित्य का क्या रूप था ।

जव प्राचीन काल से यहाँ अन्यान्य जातियाँ निवास करती रहीं तो उनकी वोलचाल में कोई भाषा अवश्य प्रयुक्त होती होगी । चन्द राजाओं के दरबार में यदि संस्कृत की मान्यता रही होगी तो जन साधारण की भाषा का उससे कोई भिन्न रूप प्रचलित रहा होगा । वह कौन सा रूप था, यह खोज का विषय है ।

कुमाऊँनी के दो चार प्रयोग जो चन्द राजाओं के ताम्रपत्रों में मिले हैं वे चौदहवीं शताब्दी के हैं । उसका और पता लगाते हुए राजस्थानी, भोजपुरी तथा अवधी के तथाकथित मध्यकालीन प्रभावों पर प्रकाश डाला जा सकता है । हस्तलिखित ग्रंथों की खोज इसी ओर प्रेरित होगी जिनके आधार पर कुमाऊँनी भाषा साहित्य के स्वरूप पर एवं हिन्दी के साथ उसके सम्बन्धों पर सम्यक् विचार किया सकेगा ।

२. दूसरा सुझाव यह है कि कुमाऊँनी लोक साहित्य के विभिन्न प्रचलित रूप-रूपान्तरों का यथा शीघ्र संग्रह कराया जाय । इसकी संग्रह प्रणाली प्रथम अध्याय में स्पष्ट कर दी गई है । यह कार्य व्यक्तिगत धरातल पर एवं संस्थागत धरातल पर दोनों प्रकार से संपन्न कराया जावे । इसी प्रकार लोकगीतों का संग्रह किया जावे । तभी उनके तुलनात्मक आधार पर कुछ ठोस निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । तदुपरांत हिन्दी की अन्य क्षेत्रीय लोक-रचनाओं से अथवा अन्य भाषाओं की लोक-रचनाओं से उनका साम्य-वैसम्य निरूपित किया जा सकेगा ।

इन रचनाओं के विभिन्न रूपान्तरों को स्थित करने में सहायक होगा, दूसरी ओर इनकी भाषागत प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालेगा । उपयुक्त संग्रहों के आधार पर फिर समाज शास्त्रीय, साहित्य, तथा अन्य प्रकार के अध्ययन किये जा सकते हैं ।

३. तीसरा सुझाव यह है कि कुमाऊँ से इस समय एक ऐसी पत्रिका का प्रकाशन होना आवश्यक है जो हिन्दी एवं कुमाऊँनी दोनों में केवल सांस्कृतिक सामग्री को स्थान दे । कुमाऊँनी रचनाओं के अनुवाद भी हिन्दी में किये जाएँगे तथा अन्य भाषाओं की रचनाएँ कुमाऊँनी में प्रस्तुत की जाएँगी । इस आदान-प्रदान से कुमाऊँनी साहित्य को विशेष लाभ होगा तथा हिन्दी जगत में वह विशिष्ट स्थान ग्रहण कर सकेगा ।

हमें ज्ञात है कि भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि की तुलना में कुमाउँनी लोक-साहित्य किसी दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संग्रहों को विधिवत प्रकाशित करने से यह तथ्य प्रमाणित होगा। पत्रिका इस महत्कार्य में निश्चित योग देंगी। दो तीन वर्ष पूर्व नैनीताल से 'उत्तराखंड-भारतीय' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन इसी दिशा में एक स्तुत्य प्रयास था जिसका उत्तरदायित्व अब कुमाऊँ विश्वविद्यालय ने ले लिया है।

४. कुमाऊँ में शिक्षित वर्ग एवं जन साधारण की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि अन्य विषयों के विद्वान प्रायः लोक साहित्य की ओर से तटस्थ हैं। वे इसमें रुचि नहीं लेते। वे इसे केवल मनोरंजन का साधन समझते हैं। जिन लोगों के पास पुरानी पोथियाँ अथवा हस्तलिखित ग्रंथ आदि हैं वे उन्हें दिखाते तक नहीं। किसी विषय में पूछने पर जानते हुए भी नकारात्मक उत्तर देते हैं। ऐसी स्थिति में संग्रह कार्य रुक जाता है।

स्वयं लेखक की इस कठिनाई का सामना करना पड़ा था। जब उसने स्थानीय पत्रिका अचल के सम्बन्ध में छानबीन की तो पत्रिका उपलब्ध होते हुए भी लंदन के पुस्तकालय से पत्र व्यवहार करने को कहा गया था। यही पत्रिका लेखक को एक दूसरे व्यक्ति ने अप्रत्याशित रूप से दे दी। अतः चौथा सुझाव यह है कि महत्त्वपूर्ण सामाग्री को अंधकार में छिपाए रखने को मनोवृत्ति का परिचय न देकर उसे अधिकारी विद्वानों अथवा किसी संस्था को सौंप दिया जाय।

५. पाँचवाँ सुझाव यह है कि पर्वतीय भूभाग में एक लोक-साहित्य परिषद् की स्थापना होनी चाहिए जो कुमाउँनी क्षेत्र को केंद्र बना कर, नैपाल, गढ़वाल और हिमाचल प्रदेश तक की पर्वतीय लोक-संस्कृति सम्बन्धी सामग्री का संग्रह एवं प्रकाशन करे। बीस वर्ष पूर्व अल्मोड़ा के लोक कलाकार संघ ने इस महत्कार्य का श्रीगणेश किया था। उसके तत्वावधान में संग्रह कार्य की योजना-बद्ध रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। किन्तु संस्था तीन चार वर्ष सक्रिय रहकर बन्द हो गई। व्यक्ति विशेष द्वारा व्यापक धरातल पर इस प्रकार के कार्य संभव नहीं हो पाते।

वस्तुतः हिमालय की तलहटी का यह सारा पर्वतीय-भूभाग हिमांचल प्रदेश से लेकर नैपाल तक अपनी मान्यताओं, प्रथाओं एवं भाषा साहित्य की दृष्टि से अनेक बातों में समान है। इस भूभाग का जातीय एवं सांस्कृतिक विकास कुछ समान रूप से हुआ है। उक्त संस्था इस समूचे क्षेत्र को ध्यान में रखकर क्रियाशील हो सकती है। नृत्य, गीत, साहित्य आदि की दृष्टि से इस क्षेत्र की जो विशेषताएँ हैं उनका सम्यक् उद्घाटन तभी संभव होगा।

कुमाऊँ विश्वविद्यालय की स्थापना के उपरान्त उक्त दिशा में प्रयत्नशील होने की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। दो वर्ष पूर्व अक्टूबर १६७४ में इस विश्वविद्यालय ने 'हिमालय स्टडीज' पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी जिनमें इस विषय पर अनेक शोधपूर्ण निबन्ध पढ़े गये थे।

इस सम्बन्ध में सुझाव हो कि यह विश्वविद्यालय अन्य योजनाओं को भी क्रियान्वित कर सकता है। जैसे वहाँ स्नातकीय कक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्थानीय सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है। स्नातकोत्तर कक्षाओं में विद्यार्थियों को शोध प्रक्रिया से अवगत कराने के उपरान्त उन्हें तत्सम्बन्धी सर्वेक्षण कार्य सौंपे जा सकते हैं। शोधकार्य के लिए यही विषय चुने जा सकते हैं जिन्हें आंतर्विषयक (इंटर डिसिप्लिनरी) अध्ययनों के आधार पर अग्रसर करना होगा। यदि तिब्बती नैपाली भाषाओं में पाठ्यक्रम चलाये जावें तो इनसे कुमाउँनी लोक-साहित्य के विश्लेषण में अत्यधिक सहायता मिलेगी।

इन सभी दिशाओं में अग्रसर होने पर न केवल लोकसाहित्य का नष्ट प्राय सामग्री बचाई जा सकेगी प्रत्युत् उसका वास्तविक योगदान भी स्पष्ट किया जा सकेगा। यही कुमाउँनी लोक-साहित्य के सन्दर्भ में तात्कालिक आवश्यकता है।

(क) पारिभाषिक शब्दावली

Adaptation	=	अनूकुलन
Arche Type	=	आद्यरूप, आद्यबिंब
Anthro Pology	=	नृतत्व शास्त्त
Active Bearer	=	सक्रिय वाहक
Animism	=	भूतात्मवाद जीववाद
Aboriginal	=	आदि वासी
Ballad	=	कथानीत
Bird Lore	=	पक्षी कथा
Burlesque	=	प्रहसन
Burden	=	टेक पद
Clan	=	कुल, गोत्र
Customs	=	आचार-विचार
Continutity	=	अविच्छिन्नता, निरंतरता
Content	=	विषय वस्तु
Creative Power	=	सृजन-शक्ति
Conditioned	=	जनुकूलित
Cammunicative Process	=	संचार प्रक्रिया
Collective Unconsious	=	सामूहिक अचेतन
Classicism	=	आभिजात्य वाद, शास्त्रीयता
Communal	=	सामूहिक
Chorus	=	समूहगान
Caricature	=	स्वांग
Conventional Epithets	=	रुढ़िगत विशेषण
Cultural Stream	=	सांस्कृतिक धारा
Contagious	=	संक्रामक
Cultural Pattern	=	सांस्कृतिक संरूप
Dimension	=	आयाम, विस्तार

Descent	=	वंश परंपरा
Divination	=	दैवी करण
EPisode	=	कथांश, कथा प्रसंग
Elements	=	निर्माण तंतु, तत्व
Elite	=	आभिजात्य वर्ग
Environment	=	वातावरण, परिवेश
Epigram	=	सूक्ति, चुटकुला
Etiological	=	कारण, मूलक
Endo Gamy	=	अन्तर्विवाह
Ethnology	=	जाति विज्ञान
Folk Lore	=	लोकवार्ता
Fake Lore	=	विकृत लोकवार्ता
Foke Ways	=	लोकाचार, लोक चलन
Fantansy	=	ललित कल्पना, बायवी कल्पना हवाई कल्पना
Fable	=	पशुकथा
Folk Learning	=	लोक ज्ञान
Folk Loristics	=	लोकवार्ता शास्त्र
Folk-Tale	=	लोक कथा
Fylk Song	=	लोक गीत
Folk Epic	=	लोक महाकाव्य, लोक गाथा
Focal Area	=	केन्द्रीय प्रदेश
Folk Narrative	=	लोकाख्यान
Fclk Belief	=	लोक विश्वास
Fofk model	=	लोकादर्श
Folk Etymology	=	लोक व्युत्पत्ति
Folk Literarture	=	लोक-साहित्य
Folk Tradition	=	लोक परंपरा
Folk Sayings	=	लोक सुभाषित, लोक कथन
Folk madicine	=	लोको-पचार
Folk Culture	=	लोक-संस्कृति
Folk mind	=	लोक-मानस
Folk Dance	=	लोक-नृत्य

Folk Ethics	=	लोक नीति
Fossilised	=	जीवाश्मित
Functional	=	प्रकार्यात्मक
Great Tradition	=	शास्त्रीय परंपरा
Gesture	=	हावभाव
Homogeneous	=	सजातीय
Human Psyche	=	मानव-मानस
Heredity	=	आनुवंशिकता
Horizontal	=	समस्तरीय
Incidence	=	घटनाएँ, कथाप्रसंग
Interaction	=	अन्योन्य क्रिया
Intuition	=	सहजानुभूति, सहजबोध
Inter Disciplinary	=	आंतर विषयिक
Imagery	=	बिंब विधान
Inspiration	=	अंत: प्रेरणा
Illuston	=	भ्रम
Isolation	=	अलगाव
Interdependence	=	अन्योन्याश्रित
Incest	=	अगम्य गमन
Literary Folklore	=	साहित्यिक लोकवार्ता
Little Tradition	=	लोक परंपरा
Legends	=	अवदान, निजंधरी आख्यान
Lullaby	=	लोरियाँ
My th	=	धर्म गाथा, मिथक
My thology	=	धर्मगाथा शास्त्र, मिथक शास्त्र
Mo TIF	=	कथाभिप्राय
Motivated Clause	=	साभिप्राय वाक्यांश
Matrilineal	=	मातृकुलीन
My Thopoeic	=	मिथक वत्
Mrrchen	=	परी कथाएँ
Mask	=	मुखौटे. मुखावरण
Magic	=	जादूटोना, इन्द्रजाल
Mystical	=	रहस्यवादी

Manners	=	रीतिरिवाज
Mammal	=	स्तनपायी
Metamor Pnysis	=	रूपांतरण
Narrative Poetry	=	आख्यान काव्य
Non Classical	=	स्वच्छन्दता मूलक, अनभिजात्य
Nursery Rhyme	=	शिशु गीत
Non Literate	=	अल्पशिक्षित
Nick name	=	उपनाम
Oral Tradition	=	मौखिक परंपरा
Oral Transmission	=	मौखिक संचारण
Occupation	=	व्यवसाय
Poly gamy	=	बहु विवाह प्रथा
Polyandry	=	बहुपति प्रथा, बहुपतित्व
Parochialisation	=	प्रांतीय करण
Pattern	=	प्रारूप
Prolongation	=	दीर्घीकरण
Prelogical	=	तर्क पूर्वी, विवेक पूर्वी
Patrilineal	=	पितृ कुलीन
Pan theon	=	देव वर्ग
Possession	=	अधिकार
Primitive People	=	आदिम जातियाँ
Phenomenon	=	दृश्य जगत
Proverbs	=	लोकोक्तियाँ, कहावतें
Pastoral	=	पशु चारण संबंधी
Questionnaire	=	प्रश्नावली
Refined Folklore	=	परिष्कृत लोक वार्ता
Riddles	=	पहेलियाँ
Romantic	=	रौमासिक
Ritual	=	अनुष्ठान, कर्मकाण्ड
Refrain	=	स्थायी टेक
Rural	=	ग्रामीण
Relics	=	स्मृतिचिह्न
Rational	=	विचारपूर्ण, बुद्धि संगत, विवेक शील

Relic Area	=	अवशिष्ट प्रदेश,
Semi Divine	=	अर्द्ध दैवीय
Struc tural	=	संस्वनात्मक
Stylistic	=	शैलीगत
Successive	=	क्रमानुगत
Substtution	=	प्रतिस्थापन
Sublimation	=	उन्नयन, परिशोधन
Static-Tynamic	=	स्थिर गतिशील
Subjective	=	व्यक्तिनिष्ठ
Survivals	=	अवशेष
Stock Phrases	=	संचित पदावली
Sophi sticated	=	परिनिष्ठित
Sorcery	=	अभिचार, इन्द्रजाल
Supernatural	=	अतिमानवीय
Superstitions	=	मूढ़ाग्रह
Symbolic	=	प्रतीकात्मक
Theme	=	कथावस्तु
Tabu	=	निषेध
Trans Position	=	स्थानापन्नता
Totem	=	गणचिह्न, कुलचिह्न
Transmission	=	संचारण, संक्रमण
Trans formation	=	रूपान्तरण
Techuology	=	औद्योगिकी
Tribal	=	जनजातीय
Tale Plot	=	कथानक
Tale Type	=	कथारूप
Transition	=	संक्रमण
Talisman	=	गंडा, कवच, तावीज
Transition Area	=	अन्तर्वर्ती प्रदेश
Urban	=	नागर
Un-consious	=	अवचेतन
Un refined Literature	=	अपरिष्कृत साहित्य
Universalisation	=	विश्वव्यापीकरण
Upward	=	ऊर्ध्वगामी

Utopian	=	कल्पनालोकी
Vampire	=	प्रेत, रक्तचूषक
Vertical	=	तलगामी
Village Community	=	ग्रामीण समुदाय
Variable	=	संचरण शील
Witch Craft	=	अभिचार, जादूटोना
Homoeo pathic	=	साद्दस्य मूलक अनुकारी
Community	=	समुदाय
Endocentric	=	अन्तः केन्द्रिक,
Exo Centric	=	बहिः केन्द्रिक

(ख) संदर्भ ग्रंथ सूची

(१) अंग्रेजी-पुस्तकें

1. 'The folk dance of India—Irojesh Bannergi, Kitabistan, Allahabad, 1944
2. 'Descript've list of the Martiai castes of the Almora district' U. P.--Pt. Ganga Datta Upreti Lucknow me thodist Publishing house, 1907
3. 'The Himalayan Districts of the North Western Provinces of the'—Edwin. T Atkinson. N. W. P. and. Audh Govt. Press, Allahabad. 1582
4. 'Linguistic survey of India'—Sir George Abraham Grcarson. Vol. I. Part I. Introductory.; Vol. IX Pt. IV. 1916 Calcutta, Govt. of India Gentral Publication Branch, 1927
5. 'A History of India'— (. G. Powel price, T. N. and Sons Lim.ted, London, 1955
6. ,Historical and Political notes on Kumaon' D. D. Tewari Anglo Arabic Press, Lncknow, 1923.
7. 'Parmars of Kotalgarh Principality, Lohaghat Kali Kumaon'—Lakshman Singh Parmar the Express works Dehradun, 1934.
8. 'Almora a Gazetteer'—H. G. Walton, Allahabad, Supdt. Govt. Press. U. P. 1928.
9. 'Religion and Folk lore of northern India'—William Crooke Oxford university, Press 1926.
10. 'Nainital a Gazetteer'—H. R. Nevill Luckuow, Printed at Govt. Branch Press. 1922.
11. 'Western Tibet and British Borderland'—Charls. A. Dherring London. 1906.

12. 'The Social Economy of the Himalayas'—S. D. Pant, London. 1935.

13. 'The Kh isa Family Law'— L. D. Joshi, Allah abad Govt. Press, 1929.

14. 'Kumaon Local Customs'—Pannalal, Allahabad. Govt. Press, 1920

15. 'Kailash Mansarovar'—Swami Pranavanand, Calcutta, 1949.

16. 'Himalayan Folklore'—Rev. E. S. Oakley, Taradatta Gairola 1934 A. D.

17. 'Races and cultures of India'—D. N. Matumdar, Lucknow, First published,—1944.

18. 'Himalayan Travels' - Th. Jodh Singh Negi Calcutta, Chukravarti, Chatterji and. Co. Ltd. 1920.

19. 'Lonely Furrows of the Borderland'—K. S. Pangtey, The Universal Publishers Ltd. Lucknow, 1949.

20. 'Holy Himalayas'–E. S. Oakley.

21. 'District Census Handbook U. P. Almora and Nainital' Tables-D. I. 1951.

22. 'Man Eaters of Kumaon'—Jim Corbett. Panguin Books Ltd. Harmonnsworth, Middle Sex. 1955.

23. 'Folk Dances of India,—Publications Division, Govt. of India Ministry of information & Broadcasting, March 1956.

24. 'An Outline of Kumaoni Grammar'-Apte & Pattanayak —1967.

25. 'Folk art of Kumaon'—N. R. Upreti Royal Tropical Institute, Amsterdam. reprint 'indonesie', X (1957), 177—201.

26. 'Proverbs and Folklore of Kumaon and Garhwal'–pt. G. D. Upreti Ludhiyana—1892.

27. 'Hindu Customary Law In Kumaon'—Prasanna Lal III ed.—1942.

28. U. P. Census report'—1951.
29. 'Memoirs of Dehradun'—G. R. C. Williams 1874.
30. U. P. Census Repor'—1961.
31. The Economy of Kumaon'—G. C. Pande a field survey —Ph. D. Thesis Lucknow University—1269.
32. Geology of a part of Himalayas—K. S. Baldiya Ph. D. Thesis, Lucknow University—1966.
33. Census of India—1971 Series I.
34. 'Pilgrim's Wanderings in the Himmala'—P. Barron, Agra Press—1841.
35. Garhwal Ancient and Modern Dr. Pati Ram.
36. 'Commercial Policy of Mughals'—Dr. D. D. Pant.
37. 'Aurenzeb'—Jadunath Sarkar = 5 Volumes.
33. Stowell's Manual—(amanu6l of the land tenures of the Kumaon Division)—Hill Tracts)—1947.

(२) हिन्दी-पुस्तकें

१. 'गढ़वाली (बोली) की रँवाल्टी उपबोली उसके लोकगीत और उनमें अभिव्यक्त लोक संस्कृति'—डा गोविन्द चातक, अप्रकाशित शोध प्रवन्ध, आगरा विश्वविद्यालय—१९५७
२. 'मध्य पहाड़ी भाषा का अनुशीलन और उसका हिन्दी से संवंध—डा० गुणानंद जुयाल, नवयुग ग्रन्थागार लखनऊ—१९६७
३. पृथ्वी पुत्र'—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९४९
४. 'गढ़वाली लोकगीत'—डा० गोविन्द चातक, जुगलकिशोर एण्ड कंपनी, राजपुर रोड, देहरादून १९५६
५. कुमाऊँ—रहुल सांकृत्यायन, वाराणसी, ज्ञानमंडल, लिमिटेड, संवत् २०२५.
६. 'कुमाऊँ का इतिहास—वदरी दत्त पांडे; शक्ति कार्यालय, देशभक्त प्रेस, अलमोड़ा, १९३७ ई०
७. प्यास'—चंद्रलाल चौधरी, लक्ष्मी भंडार क्लब, अलमोड़ा संवत् २००७.
८. गढ़वाली लोक गाथाएँ—डा० गोविन्द चातक, मोहिनी प्रकाशन, देहरादून, १७ राजापुर रोड, १९५८.

९. 'किन्नर देश'—राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, १९५१.

१०. 'लोक साहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय, साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५७.

११. 'हिमालय-परिचय' (१) गढ़वाल—राहुल सांकृत्यायन, लॉ जर्नल प्रेस इलाहाबाद, १९५३

१२. 'मध्य—देश'—डा० धीरेन्द्र वर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना–

१३. 'कुमाऊँ का साहवंश—'कैप्टन नंदलाल साह,

१४. 'कूर्मांचलीय साह समाज'—प्रथम भाग,

१५. 'पावन हिमालय'-परिचय'—रामरूप सिंह, एसोसियेटेड प्रेस, हलद्वानी (नैनीताल) १९५७.

१६. 'कूर्मांचलीय इतिहास में द्वाराहाट चौधरी—घनश्याम चौधरी द्वाराहाट चौधरी भ्रातृमण्डल, उदयाचल प्रेस, अल्मोड़ा,१९४९.

१७. 'द्वितीय पंचवर्षीय जिला योजना'—नैनीताल और अल्मोड़ा

१८ 'कुमाऊँ की लोक कथाएँ'—रमेश मटियानी' 'शैलेश'

१९. ''पर्वतीय भाषा प्रकाशक, गंगादत्त उप्रेती—डिबेटिंग क्लब, प्रेस, अल्मोड़ा, जून—१९००

२०. कुमाऊँ का लोक साहित्य—डा० त्रिलोचन पाण्डेय, श्री अलमोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा—१९६२

२१. 'मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' –डा० गोविन्द चातक राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली १९६६

२२. 'कुमाउँनी कवि गोर्दा, का काव्य दर्शन—श्री चारुचन्द्र पाण्डेय, देश भक्त प्रेस, अल्मोड़ा—१९५५

२३. 'आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय'—भजन सिंह 'रचना प्रकाशन, इलाहाबाद—१९६८

२४. 'उत्तर प्रदेश के लोक गीत'-उ० प्र० शासन, लखनऊ

२५. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'—१६वां भाग (हिन्दी का लोक साहित्य)—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी-सं३ २०१७ वि०

२६. कुमाऊँ का लोक साहित्य—परिचयात्मक संग्रह—डा० कृष्णानन्द जोशी, प्रकाश बुक डिपो, बरेली—१९७१

२७. 'कुमाऊँनी लोक गाथाएँ'—प्रयाग जोशी, जुगल किशोर एण्ड कंपनी, देहरादून—१९७१

२८. 'गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य'—डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' हिन्दी समिति उ० प्र० शासन, लखनऊ—१९७६ ई०
२९. 'कुमाऊँनी भाषा का अध्ययन'—डा० भवानीदत्त उप्रेती स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद—१९७६
३०. 'कूर्मांचलीय कृषि तथा औद्योगिक शब्दावली'—डा० रामसिंह अप्रकाशित शोध प्रवन्ध—लखनऊ वि० वि०, १९६२
३१. 'कुमाऊँनी बोली का वर्णानात्मक अध्ययन'–डा० भगत सिंह अप्रकाशित शोध प्रवन्ध, जबलपुर वि० वि०, १९७१
३२. 'कुमाऊँनी शब्दावली का व्युत्पत्ति परक अध्ययन'—डा० केशव दत्त रुवाली अप्रकाशित शोध प्रवन्ध, आगरा वि० वि०, १९७२
३३. 'थारू लोक गीतों का आलोचनात्मक अध्ययन'—डा० शंभु शरण शुक्ल, अप्रकाशित शोध प्रवन्ध, आगरा वि० वि०, १९७३
३४. 'कुमाऊँ तथा गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक अध्ययन' —डा० प्रयाग दत्त जोशी, अप्रकाशित शोध प्रवन्ध, जवलपुर, वि०
३५. 'शिखरों के स्वर'—संपादक दुर्गेश पन्त गिरीश तिवाड़ी, शिखर प्रकाशन, अलीगढ़—१९६९
३६. कुमाऊँनी (हिन्दी की उपभाषा) के कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन'—डा० नारायण दत्तपालीवाल, मौलिक साहित्य प्रकाशन —दिल्ली—१९६६
३७. 'हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन'—डा० भगत सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—१९६७
३८. 'उत्तर प्रदेश में लोक नृत्य'–सूचना विभाग उ० प्र० लखनऊ—१९५४
३९. 'कुमाऊँनी भाषा की कहावतें'—चन्द्र लाल वर्मा लक्ष्मी भण्डार क्लब, अल्मोड़ा—१९६०
४०. 'प्राचीन भारतीय लोक धर्म'—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी—१९६४
४१. 'कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेशों में ग्रामोण स्वायत्त शासन'—डा० गंगा दत्त तिवारी, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध ११६१
४२. गढ़वाल का इतिहास'—श्री पं० हरि कृष्ण रतूड़ी गढ़वाल प्रेस, देहरादून—१९२०
४३. 'उत्तराखण्ड का इतिहास'—डा० शिवप्रसाद डबराल—वीरगाथा प्रकाशन, दो गड्डी, गढ़वाल,

४३. 'योग प्रवाह'—डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल
४५. 'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ'--श्री भक्त दर्शन
४६. 'कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल के राजियों की बोली का अनुशीलन'—डा० शोभा राम शर्मा
४७. 'इतिहास कुमाऊँ प्रदेश' —देवी दास कामस्थ
४८. 'नैपाल का इतिहास:—खेमराज श्रीकृष्ण दास, स्टीम प्रेस—बंबई
४९. 'हालात कोह हिमालय'—चिंतामणि जोशी
५०. 'कत्यूर का इतिहास'—रामदत्त तिवारी
५१. संक्षिप्त कूर्माचल राज वर्णन और सीमाल्टीय पाण्डेय वंशावली—मनोरथ पाण्डेय शास्त्री
५२. कुमाऊँनी भाषा और उसका साहित्य—डां० त्रिलोचन पाण्डेय, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९७७
५३. 'कुमाऊँ की लोक गाथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन'—डा० उमादत्त उपाध्याय, प्रकाश बुक डिपो, बरेली—१९७९

(३) पत्र-पत्रिकाएँ अंग्रेजी—

1. 'Journal of the Royal Asiatic Society'—Published by the Society 22, Alhemarte Street London, W.
2. The Indian Antiquary'—SIR R. C. Temple, Bombay Vol. XXXIX—1910 : Vol. XIX. 1890, Vol. XIV | 1885; Vol. XXXIX—1009;
3. 'The Calcutta Review'—Calcutta, Printed for the Propritor, by Sanders Cones and Co. Vol. XFIII July, December 1352.
4. 'Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal'—Calcutta : Baptist Mission Press. Vol. V 1939, Vol. 6 1940.
5. 'Journal of Astatic Society of Bengal'— Baptist Mission Press, Cacutta. Vol. 6†-10. 1900—1, Vol. 56 1887 Vol; 53, 1884, Vol. XIII. 1917; Vol. LXIV. 1896, Vol. & XVII. Pt. III 8896, Vol. VII, 1918,
6. 'Indian Historical Quatterly'— Vol. 19. 1943, No. 4. (December) : Calcutta

7. 'Indian Folklore' – Indian Publication 3, British India Street, Calcutta. I Fol. I. No. I. 1958, Vol. I No. II 1958.

8. Journal of the U. P. Historical Society' —Vol. XV. Pt. II.

9. 'Calcutta Review'—1852. Vol. XVIII, 1952.

10. 'Nainital an Autumn Souvenir'—1974.

11. 'Nainital Autumn Festival Souvenir'—1962.

हिन्दी—

१. 'सम्मेलन पत्रिका'—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग—भाग ४४, सं० १, पौष-फाल्गुन, शक १८७६

२. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—भाग १८, सं० १६६४, सं० २०११, सं० २००७, काशी

३. 'कुमाऊँ कुमुद'—विंध्य वासिनी प्रेस, अलमोड़ा अप्रैल १६४२, १६४३, १६ सितंबर १६४०, १७ अक्टूबर १६४०, २० फरवरी १६४१

४. 'लोक कला'—लोक कलाकार संघ, अलमोड़ा, १ जून १६५६.

५. 'लोकवार्ता'—(त्रैमासिक)—'लोकवार्ता परिषद', टीकमगढ़ (मध्य-भारत) वर्ष १–, अंक १ (जून १६४४, अंक २, सितंबर १६४४, अंक ६, दिसंबर १६४४, अंक ४, मार्च १६४५

६. 'सम्मेलन पत्रिका'—प्रयाग (लोक सँस्कृति विशेषांक), सं० २०१० वि०

७. 'अचल'—अलमोड़ा चतुर्थ श्रृंग, मई १६३८, सप्तम श्रृंग, अगस्त १६३८, जुलाई १६३८ श्रेणी १ श्रृंग-६,

८. 'पर्वतीय'–नैनीताल, १३ सितंबर; १६५६

६. 'त्रिपथगा'—(लखनऊ) मार्च १६५६, जून १६५७

१०. 'धर्मयुग' साप्ताहिक (बंबई) अक्टूबर ३१, १६५४

११. 'शक्ति' साप्ताहिक (अलमोड़ा) १६५४, १६५१

१२. 'उत्तराखण्ड भारती'—संपादक बटरोही
१/१ प्रवेशांक जन० मार्च० १६७३,
१/२ अप्रेल-जून १६७३
१/३ जुलाई-दि० १६७३
२/१

२/२-६ अप्रेल–सित० १६७४

१३. 'स्मारिका'—अलमोड़ा शरदोत्सव—१६७२

१४. 'स्मारिका'—अलमोड़ा—१६७३

१५. 'रजत जयन्ती स्मारिका'—श्री हरि संकीर्तन सभा, नैनीताल—१६६६—६७

१६. 'भारतीय साहित्य'—आगरा विश्वविद्यालय, आगरा वर्ष १३ अंक १–२ (पृ० ६५–१६२) १६६८ ('कुमाऊँनी'—डा० मुरारी लाल उप्रेती)

१७. 'यूनीवर्सिटी ऑव इलाहाबाद स्टडीज' (हिन्दी भाग)— सीनेट हाउस, इलाहाबाद १६६८ ('पिथौरागढ़ की रोली और उसका' ध्वनितात्विक विवेचन—डा० भवानीदत्त उप्रेती)।

(ग) रचनाओं के उदाहरण

लोकगीत--

१. शकूना दे, शकूना दे, सब सिद्धि
काज ए अति नीको शकूना बोल दईणां !
बाजन छन् शंख शब्द
दैणी तीर भरीयो कलेस ।
अति नीको सो रंगीलो
पाटल आंजली कमल को फूल !
सो ही फूल मोलावन्त
गणेश, रामचन्द लछीमन लव कुश !
जीवा जनम आद्या यमरो ए ।
सोही पाटो पैरी रैना
सिद्धी बुद्धी सीता देही, बहूराणी
आयुवन्ती पुत्रवान्ती हो ए !
सो ही फूल मोलावन्त……
जीवा जन्म आद्या यमरो ए
सोही पाटो पैरी रैना सिद्धी बुद्धी……

२. जाना जाना भँवरीला माथ लोक, पितरन न्यूतो ए
नौं नी जाणन्यूँ गौं नी पछ्याणन्यू,
काँ रे होलो पितरन को द्वार ए !
काँ रे होला पितर हमारा,
आधा सरग बादल रेखा, आधा सरग चंद्र सूरज ए !
आधा सरग पितरन को द्वार, जाँ रे होला सोने का द्वार
रूप का किवाड़ चंदन खुटकूणा,
वीरे होलो पितर को द्वार, वाँ रे होला पितर हमार ए !
आओ पितरो मध्य लोक, तुमन कणि न्यूतो छ आज़
सरग बैठी पुछन छन दशरथ ज्यू अजरथ ज्यू,
यो कसूं घरी न्यूतो छ आज,

को रे पुत्र लै देवायो छ न्यूतो, को रे नाती लै देवायो छ न्यूतो
कनरा घर बेदध्वनि, शंख ध्वनि, दीया ज्योती काज
जोरे तुम ले नाना छना पाला ताला, दूध धोया
नेय पोछा, घृत मोया, अमृत सींचा
रामीचन्द, लछीमन, उसू घरी न्यू तो छ आज ए !
सरग बैठी पूछन छन कौशल्या राणी ज्यू, यो सुमित्रा राणी ज्यू
यो कसो वहुअन लै गोत्र उज्यारो ए
जो रे तुमन ले नाना छना उरही में बोको, भीं में छोड़ो
उसू घरी न्यू तो छ आज ए !
कसि कै ऊँलो पूत नातियो
लंका छोड़ी, बंका छोड़ी पाँव नी पुजै, आँखी नी सुजै
सुनियो लै लो पितरो खुटकूणो, रुपियो लै लो किवाड़ ए !
जी रया तुम पूत नातियो लाख बरीस
बहुआ तुम्हारी जनम आयुवन्ती,
बहुआ तुमरी जनम पुत्रवंती
जो रे काज पूत नातियो हमन बुलूँछा
सो रे काज अति नीको ए, सो रे काज सर्वसिद्धि ए !

३. पूरब को देश मैंले हेरो फेरो
नहिं पाया वैसानर देव नहिं पाया !
पश्चिम को देश मैंले हेरो फेरो
नहिं पाया वैसानर देव नहिं पाया !
उत्तर को देस मैंले हेरो फेरो
नहिं पाया वैसानर देव नहिं पाया !
दक्षिण को देश मैंले हेरो फेरो
नहिं पाया वैसानर देव नहिं पाया !
पीपल का बोट मुणी पाया छन
वैसानर देव ए पाया छन !
हाथ धोती कोख पोथी पाया छन
चल तुमी वैसानर मध्यलोक
तुम बिना होम नहीं यज्ञ ए तुम बिना !
कसी करी ऊँलो तुमरा देश
विपरीत चलिये तुमरा देश
सासू वाँ तलीयो वैस ब्वारी,

वाँत चौका बैठा, विपरीत चलिये तुमरा देश ।
जेठो भाई पाया चलौ, काँसो भाई घोड़ी चड़ौ
विपरीत चलिये तुमरा देश !
तुमन बिना गाई रय्या बाँध्या, बालो रैगो बदू
कन्या रैगे क्वारी तुम बिना !
अब लैलो सूधी रीत चलिये, अब लैलो !
अब लैलो, ब्वारी वां त लिपी धैंस
सासू वाँ त चौका बैठ अब लैलो ।
अब लैलो जेठी भाई घोड़ी चढ़ी, कांसो भाई पाया चलो
सूधी रीत चलाए, अब लैलो !
हाथ धोता काख पोथी आया छन, वैसानर देव ए आया छन.

कथागीत ४—

जाना जाना नंदू बालो घर चलि जालो
कर इजू साँची ज्युनार ए !
हमले जाणो इजू मेरी चौगंगा पार
कर इजू साँचि ज्युनार ए !
को त्वे बाला रे वाटो देखालो
को त्वे बाल रे जमुन तरालो ए !
आँखा जोला वाटो देखालो
जंघा जोला जमुन तरालो ए !
उतिको उठो बालो मेरी वारुड़ी का घर
बुणि दे बारुड़ी सोय कुरड़ी ए !
उति को उठो बालो मेरा लोहार का घर
गड़िये लोहार कन्यारी कड़्याल ए !
उति को उठो बालो मेरी नागिनी का घर
टिपि दे नागिनी मासी को फूल ए !
कि तू बाला रे बाला मेरा मासि दुख्यायो
कि तू बाला रे जुवा हार ए !
ना मैं नागिनी मासि दुखायो
ना मैं नागिनी जुवा हार ए
मासी का फूल की पूजा निहुँनी
ली जा बाला रे पंय्या को फूल ए !
ली जा बाला रे भड़िया पड़िया

ली जा बाला रे पंय्या की पाती ए !
झड़िया पड़िया की पूजा नी हुनी
पंय्या कीं पाती की पुजा नी हुनि
ली मैं जूंलो रुख का टिपिया ए !
जसा कसा माथ भरोलो, भला भला कुरिड़ भरो
म्यारा मामा का, कंस का राजा का ज्यूंति पूजा
वाँ रे चैनी मासी का फूल ए !

लोकगीत—

५. सुवा रे सुवा, बन खण्डी सुवा
हरिया तेरो गात पिंङल तेरो ठून
लला तेरी आँखी, नजर तेरी बाँकी
दे सुवा नगरी न्यूत !
न नों जाणान्यू, न गौं पछाणन्यू
कै घर कै नारी न्यूतूं,
अयोध्या गौं छ, सुभद्रा देही नौं छ
वी का पुरीष अरजुन नौं छ
वी घर वी नारी न्यूत !
अघिल अघिवाड़ी, पछिल फुलवाड़ी
छाजौं बैठन छन, झरोखा देखन छन
हाथ छ बेला, गोदी छ चेला
औ बेटी खिलकनी मैता···
सरस्वती देही, खणतोली गौं छ
उनका पुरीष नरोत्तम नौं छ !
वी घर वी नारी न्यूत !
चंदा देवी नौं छ, चौंदिसा गौंछ
वी का पुरीष का ब्राह्मण नौंछ !
वी घर वी नारी न्यूत···!

६. बोयो सरसेउँ माया रे पिङली छ केशर !
बोयो सरसेउँ माया रे दो पतिया मै छ···
बोयो सरसेउँ माया रे चौपतिया रे भै छ !
बोयो सरसेउँ माया रे, हाड़ी लागो फाङी !
बोयो सरसेउँ माया रे पिङली छ रे फूल !···

यो धानी नङारा माया रे सोमाधार धीज बीज क्या छ···
यो धानी नङारा माया रे भें छ पांडव की बारात
याओं याओं रे बारात कहूं लैंक जाँ छ
पाण्डव को बारात मोरी नरैन कोट,
मोरी नरैन कोट, माया रे बाली द्रोपदी ल्हौंल !

७. छाँजू में बैठी समदिणि पूछै
को होलो दुलहा को बाप ए !
कालो छ जोतो पिहालि टांकी
वी होलो दुलहा को बाप ए !
थर थर जैका कंपनी हाथ
वी होलो दुलहा को बाप ए !
खोकला बूढ़ो, लंबी छ दाढ़ी
वी होलो दुलहाको बाप ए !
कालो छ हस्ती जरद अंवारी
वी होलो दुलहा को बाप ए !
हस्ती चढ़ी बेर दाम बखेर
वी होलो दुलहा को बाप ए !

८. मालन जौंल मंगसीर माह पलटूंल चैत
तूमी ना हामी साली सुरुमा कब होंली भेंट !
तू मी ना हामी सुन भीना हो जैसिङ चंपा चोड़री भेट !
मालन जाले भीना जैसिङ किया किया ल्हों ले ?
त्वैकी मैं ल्हौंल साली सुरुमा, गाठी को नेवर !
मालन जौंल मंगसीर माह, पलटूंल चैत
तूमी ना हामी साली सुरुमा कब होंली भेंट !
मालन जाले मीना जैसिङ किया किया किया लहो ले ?
त्वै की मैं ल्हौल साली सुरमा कान की गोखर
मालन जौंल मंगसीर माह, पलटूंल चैत
तू मी ना हामी साली सुरमा कब होंली भेंट !

९. ओहो, गोरी गंगा भागीरती को के भल रेवाड़ा
ओहो, खोली दे माता खोल भवानी धरम केवाड़ा
ओहो, आछै के लै, छै भेट पहौंड़ा, के खोलूं केवाड़ा

ओहो, द्वी जोयाँ का लाख ल्यै रयूं खोलीं दे किवाड़ा !
ओहो; खोली दे माता खोल भवानी धरम किवाड़ा
ओहो, के ल्यैरै छै भेंट पहोड़ा, के खोलूं किवाड़ा
ओहो, द्वी जोड़ा निसाण ल्यै रयू खोली दे किवाड़ा
ओहो, खोली दे माता खोल भवानी धरम केवाड़ा !
ओहो, के ल्यै रे छ भेंट पहोंड़ा, के खोलूं किवाड़
ओहो, द्वी जोयां नङार लै रयू खोली दे किवाड़ा
ओहो, गोरी गंगा भागीरती को के भल रेवाड़ा
ओहो, खोली दे माता खोल भवानी धरम केवाड़ा !
ओहो, के ल्यै रै छै भेंट पहोड़ा के खोलूँ केवाड़ा
ओहो, सुनू का छत्र लै रयूं माता त्यारा दरबारा
ओहो, खोली दे माता खोल भवानी, धरम केवाड़ा !
ओहो, मीहुणी सुपल हुये तु छै मेरी माता
ओहो, भर पुर मनार करिये तब छ तेरी बाता
ओहो, तू देवी सुपल हये म्यर धरिये खियाला
ओहो, तू हणी दण्डाग करूँ मि रातिया बियाला !
ओहो, खोली दे माता खोल भवानी धरम केवाड़ा...

१०. बाबा, ल्याई दी छै ल्याई दे सुनपता शौका की चेली !
बेटा. कां देखी छ कां सुणी छ सुनपता शौका की चेली
बाबा, धौला का कौतिका देखी, माल देशा जोहार देखी
बाबा, बाकरा इतूणा देखी; बाकरी की ग्वाला देखी,
बाबा, यसी चेलीनि देखी कैले, यसी चेली नि सुणी कैले
कैंरुवे की काना जसी, पालङी की डाला जसी
मांगी दी छै मांगी दे बाबा सुनपता शौका की चेली !
बेटा देखना की कसी छ, बेटा चाणा की कसी,
बाबा पिङली काकड़ा जसी, बाबा चीनी का गुढ़िया जसी
बाव, निमुवां का दाणा कसी, नारिंग का फ्यासा जसी,
बाबा, पाना जसा पाता छन, बाबा नौला जसा आँखा छन
बाबा मांगी दिछै मांगी दे सुनपता शौका की चेली !
बाबा ल्याई दिछै ल्याई दै सुनपता शौका की चेली !

११. सब च्यालन है बेर मेरो सोबनी हुसियारा
सब जानी दुकाना मेरो सोबनी बजारा

सब ल्यूनी आलू गोबी मेरो सोबनी सिकारा
सब रौंनी पहाड़ा मेरो सोबनी भाबरा
सब पालनी गोरू भैंसा मेरो सोबनी बाकरा
सब ल्यूनीं सीदी साधी मेरो सोबनी बलारा !
सब ल्यूनीं नकद मेरो सोंबनी उधारा
सब च्यालन है बेर मेरो सोबनी हुसियारा ॥

१२. सात सूपी धान छ बलि कसि कै कूटूं धाना !
छाजा में जिठाण जू भै रईं कसिकै कूटूं धाना !
चौड़ी नजर कर वे ब्वारी तसिक कुट तू धाना !
फाटिया घाघरि छ मेरी बलि, कसी कै कुटूं धाना !
फाटिया घाघरि समेटि बेर तसीक कुट तू धाना !
देली में ससुर ज्यू भै रईं, कसी कै कुटूं धाना !
ससुर ज्यू घर बौज्यू भया तसीक कुट तू धाना !
फाटिया आंगड़ी मेरी छ बलि, कसी कै कूटूं धाना !
धोती लै आंगड़ी छुपै बेर तसीक कुट तू धाना !
कुर्सी में आपूं लै भै रईं कसिकै कुटूं मैं धाना !
बैग यो त्यरो भयो बलि तसीक कुट तू धाना !
तसिक कुट तू धाना बलि, तसिक कुट तू धाना !

१३. शिव जटाधारी भैरूँ तुम जे करला !
बद्रीनाथा वली हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमरी चौकी हो भैरूँ तुम जे करला !
शिव जटाधारी भैरूँ तुम जे करला !
गंगोतरी बली हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमरी चौकी भैरूँ तुम जे करला !
काशमीरा वलि हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमारी चौकी हो भैरूँ तुम जे करला !
शिव जटाधारी भैरूँ तुम जे करला !
बंबई का वली हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमरि चौकी हो भैरूँ तुम जे करला !
कलकत्ता बली हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमारी चौकी हो भैरूँ तुम जे करला !
शिव जटाधारी भैरूँ तुम जे करला !

हिमाँचला वली भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमारी चौकी हो भैरूं तुम जे करला !
समुंदरा वली हो भैरूँ तुम जे करला !
ह्यो तुमारी चौकी हो भैरुँ तुम जे करला !
शिव जटा धारी भैरुँ तुम जे करला !

१४. जागेश्वर धुरा बुरुंशी फुली गे
मैं कैहूँ टिपूं फूला मेरी हंसा रिसै रे !
ओऽ हवै लाया काकड़ी मुखड़ी खिसै रे
मडुवा हरियाली लागी पिरीता भुलीगे !
ओऽ पिरीता भुली गे ।
जागेश्वर धुरा बुरुंशी फुलीगे
मैं कैहूँ टिपूं फूला मेरी हंसा रिसै रे !
ओऽपूस का पालङ कसी है रैछ हरियाली
पाकिया दाड़िम कसी मुख में की लाली !
ओऽ उठिया जोबन तेरी हरियालै की डाली
सौंला कसी भुली रै छ काना में की बाली !
ओऽ काना में की बाली
पाकिया किरमोड़ कसी किलै भै छै काली !
ओऽ जागेश्वर धुरा बुरुंशी फुलि गे
मैं कैहूं टिपूं फूला मेरी हंसा रिसै रे !

१५. के संध्या भुली गे छ भगवाना
नीलकंठ हिमाला !
के संध्या भुली गे छ भगवाना
नौखंडा धरती मांजा ?
के संध्या भुली गे छ हो रामा
कृष्ण ज्यू की द्वारीका !
हा के संध्या भुली गे छ भगवाना
नन्दनों की बैराठा !
के संध्या भुली गे छ हो रामा
शिव ज्यू की कैलासा !
के संध्या भुली गे छ भगवाना
यों पंचवटी माजा !......

के संध्या भुली गे छ भगवाना,
रामा ज्यू की अजुध्या !
के संध्या भुली गे छ, हो रामा
यो हिमाला के माला !
के संध्या भुली गे छ, भगवाना
कौरवों का बंगाला !
के संध्या भुली गे छ हे रामा
यो गेली समुंदरा !
के संध्या भुली गे छ भगवाना
पंचाचूली का धूरा !......

१६. तिलुवा बौज्यू धाधरी भिदड़ी
कन देखना आंगड़ी चिथड़ी !
नैं द यो कुड़ी पिस्यू की कुटुकी
बिना चाङ व अध्याणी अटकी !
खानै खानै कौंणी का हो खाजा
हाय, म्यार तिलू कैं को दीछ खाणा !
पाँचा छहा यकला चा पाणी
तै पर नहाती टपुक सूं दीणी !
साग पाता का यों छन हाला
लुण खानै जिबड़ी पड़ी छाला !
ध घिनाली की को पूछ पाता
हाय म्यारा घर दिन छ नै राता !
हाई यो कसा दरिद्र का पाला
पड़ी गयूँ मेरो फुटा कपाला !......

१७. छाना बिलौरी का धामा बौज्यू
छाना बिलौरी का घामा !
झन दिया बौज्यू छाना बिलौरी
लागनी बिलौरी को घामा !
हाथै की कुटली हाथै में रौली
तल्ला बिरौली का घामा !
हाथै की दातुली हाथै में रौली
तल्ला बिलौरी का धामा !

नाकै की नाथुली नाकै मैं रौली
तल्ला बिलौरी का धामा !......

१८. बाहर गणपति, बाहर रमीचन्द्र, बाहर लछीमन
बाहर महादेव जुआ दारू खेलनी !
भीतर सिद्धि बुद्धि, भितर सीता देवी,
भितर पार्वती, भितर ब्रह्मोराणी !
कुकुड़ि की पूजा धन मेरी माकुड़ी की पूजा
आणी दियौ गुसैं म्यारा जौं लाड़ी को फूल !
सात समुद्र पार जौं लाड़ी का फूल,
धन मेरी जौं लाड़ी का फूल !
अन्यारी छ रात धना मेरी,
गहिली छ गंग धना मेंरी !
चपड़ी छ बाट धन मेरी
कसी करी जूंलो धन मेरी, कसि करी ऊँली !
कसि करी जूंलो धन मेरी कसि करी ऊँलो
जड़ा जड़ा जाया गुसैं हथौड़ी समाया !
गुसैं हथौड़ी समाया
यसी करि जाया गुसैं यसी करि जाया !......

वीरगाथा

१९. कुमूँ गड़ै होलै हो कुमाई राजा
ओ कुमूँ गड़ै आज हो कुमाई राजा !
को तेरो गड़ों लूटी हा छै कुमाई राजा
ओ पतरो भेजला हो सौनी कोटै
हो मैंदे सौना, हो मैदे सौना
को सोना ज्यू, यो मेरी अरजै हो
मैदे सोना, जो ज्यू मैदे सोना !
ओ सौ नाना का राणी हो गड़मीली भूमा
सौ भौंसी बाखड़ी तेरी, सौ भैंसी लैणी हो
मैदे सोना हो ज्यू मैदे सौना !
ओ सौ भैंसी गावीणी मैदे सौना
ओ भेजनी जोध्या सोनी कोट

ओ कुमाई जोध्या हो मैदे सोना !
जानै जानै ल्हैगे हो मैदे सोना
स्योनी कोट मांचे हो मैदे सोना !
कागज कुलुप सोना हाता दिनी
हो कुमाई राजा, कुमाई राजा !
ओ नगर उजड़ी गो के धना करनूं
के बुड्डी रखूंला हो मैदे सोना !
ओ सोना ज्यूं इकराड़ करौ छ हो
मैद सौना, राजा हो, मैदे सोना
आठूं दिन औंल हो कुमाई राजा।

कथागीत

२०. चुक क चुकाम मानी,
तली बटि ऐंगो लदाक जानै की हुकुम मानी !
बाजी जालो साख मानी,
मैना मैना जौंलिया औंछ डिन डिन को डॉक !
जातिया को कानो मानी !
मरनो बचनो मैले लदाक मैले जानो !
काटछ त्योसार मानी,
स्वारा छन सतुर थुली भल होये होस्यार !
घोड़ी की खखरिया,
तू कये बटवारी चार नैंनसिंह ढगरिया !
फूल छ धतुरा,
पन ज्वारी का डर मैंछ, स्वारा छना सतुर !
स्वारा छन सतुर भुली भल होये होस्यार !
भरी हालो गिया,
भल घर व्यवै दिये मेरी चेली हिमा !
बन्दूक की गोली मानी,
यो बुड़ी बुफोली टुनसुल रौली !
साली में को सोंला,
तू जाँछै लदाख मानी मैं कसी कै रौंला !
भुटि हालो बड़,
तू जांछै लदाख मानी कब औंले घर !

फिची को जुलूक,
कसी कै जालै मानी कंपासी सुन फुटों मुलुक !
वेला भरी घिया,
धोलों घोड़ा दोकलों जूवू भल कै सैंती दिया !
सम्पू रे नित्वाल भली के सैंती दिया !
कुटेली को वीन,
जोशी मैं जाँछू लदाक कै दिया दीन !
सिकुवा ढाकन मानी
लदाक दीन ऐसौ वार पैटा फागुन !
लुकुड़ी की फाँची,
मैं जाँछू लदाक सामल दे पाँजी !
बाड़ा बोयो मोती,
तू जाँ छै लदाख मानी कब औले मती !
बुनी हालो तेती,
राम ज्यूक दया होलीं फिरी औंल यती !
वाटी हालो कूची,
सात जोड़ा पौंल फाटों, मानी लदाक नै पूजी,

पौराणिक गाथा

२१. हे भगवान, कंसा रे तुई माँजै, माताजी देवकिया
देवकी माता कैं अरे छये पुतर
छये पुतर नरैना, अरे कंसा ले मृत्यु बनै हाला
अरे छये जो बालक कंसा ज्यू ले मारी हाला
सतवाँ बलख फिरी पैदा है गीना ।
अरे धन भगवाना अरे तेरी माया हरी
कोई जाणी नी सकनो हो भगवाना,
अरे सातवां जतकावा, धरै छ नारायण
अरे बिसन को रूप धारी है नरैन ।
अरे सुन मेरा नरैन, मन की भाखा
हरे सुन मेरा काना कीं विनादा !
ओ बखता मांजा पुछना वैठी गया
राजा बली कंसा नरैण अरे बामन पुरैदा !
अरे कलौ मेरा बामन पंडिता
अरे तुमरा पुस्तक भौते झुठा छन
आज काला बामना साँचा जै नि हुना

हे वामना तुमरा पोती पातरा बिलकुल झुठी......
× × × ×
हुनै हुनै नरैन गोदी का बालका
पैदा हुनै कै गया छन म्यारा गोपाल।
हे भगवान, कृष्ण नरैन अरे पैदा हुई गया
अरे नौ मासी बालक पैदा रे हुई गया !
उ बखता इनारा आसन वटी छुटा
सात भाई मेर अरे संसार सागरा
अंधा कोप है गो, छन दीना को राता
हैगो हो दैंती गढ़ मांजा !
तीन लोकी को भारा धरो छ नरैना
छल रोपी नरैन, वलरूपी नरैन
पिरथी में है गे छन दिना की राता
ए जे कोठड़ी माजा छन माता देवकी
नौ लाख नागूं को कंसा चौकी घेरी राखो
ए सिंग सार्दूल भगवाना, ये गजा केसर
नरैन भै चौकी धरी राखो
ये बलि जोधा, पुरीष भगवान ज्यू चौकी धरी राखा !
सोल साई, स्वाई वै काय करैला
तब म्यारा नरैन भगवाना पैद है गे !
जनम धारो नरैन ज्यू ले बुधवार दिन
भदुवी को म्हैना भगवान परगट है गीना !
भै बखत हरी, सोल सौं स्वाई कन
हे रामा, नींन पड़ी गोछ !
अरे गरब का बालक, हे नरैन जाइ फैलै हाला
ए नौ कुंडी को जाई नरैन
दैंती गड़ मांजा परगट बणै हाला !...
जब म्यारा नरैन भगवाना, परगत ह्वै दैंती गढ़ा
नर नारी नरैन, कालटोव पड़ी गो छ
जंगल जानवरों का आँखा खुली गया !
पिरथी सागर भारत हौत फैटी गो छ
सानूं सानूं नरैन ज्यू लै के काम करी हाला
ऊ दिन, ऊ मासा, ऊ घंटा, ऊ सैंता माँजा
नंदनीपुर माँजा हे नरैन, के काम है रेछा

नंद महरा का घर छन जसोदा कैंजा माता
ए कैंजा जसोदा की है रे नंदनी पुरन माँ
हे भगवान ज्यू, कन्या पैद होई रै छ
सोवाई धोवाई नंद महरा घरा···
× × × ×
हे भगवान, अब कंसा त ए माँजा
अब कै बिदी है गोछ कंसा तुई भाँजा
अधराती कै बेर हे भगवान,
पिता वसुदेव का हाथागड़ी खुली गई
हे भगवान, हाथा का हथगड़ी टूटा, खुटा का बेड़ी
हैला झेला टूटा वासुदेव स्वामी का
ताला कुची नरैन ज्यू का टुटन बैठी गया
बासर देव पती भैर ऐगे
भगवान परगट है रे पिता वासुदेव ज्यू
जाँ माता देवकी कुण्ड़ी भितेर
हे भगवान जानै जानै न्है गे बासर देव स्वामी
माता देवकी का पास न्हैगे
जै जागा नरैन है रीं तीन लोकी गोपाला
ऊ जागा, ऊ भूमी मांजा वासुदेव न्है गीन
चायो छै चितै गोपाला, ये भगवाना
फाटिया सुपो मिली, उठायो भगवान ज्यू लै
भीतेर लहीनै गया,
ऊ सुपो मांज धरी छ हरी तीन लोकी नरैन
अरे ख्वारा मांजा रौई जमीन बाटा
अरे जानै जानै लहैगे समंदर मांजा···
सागर माता लै जागा छोड़ी हाली
ऊ वखत नरैन समुंदर पार है गया।
× × × ×
हे भगवान, नंदनी मांजा कन्या है रै छ
उठायो कन्या कैं देव वसज्यू स्वामी लै
ऊ कन्या पुतरी कन सूप माँजा धरी हाला
तीन लोकी नरैन कन नंदनीपुर छोड़ा
नंद महर घर भगवान पैदा बणी गया

हे भगवान, उठायो कन्या वसज्यू पती लै
दैंतीगढ़ लाया गोदी की वालक
ऊ कन्या कैं नरैंण देवकी गोद धारा
अरे धन, म्यारा नरैन ज्यू लै पितर वासुदेव
म्यारा नसी आया
काजी लैगी नरैन ज्यू कै
हाथ हथगड़ी लगी, खुटन कैं वेड़ी हो
वसुदेव पती है भगवान, हथगड़ी लै गीन
दैंवीगढ़ हथगड़ी लै गीन।

× × × × ×

रात व्याण कै वेर जव पिता वसुदेव कन
हाथ हथगड़ी खुट कानेल लैगे, पिता बन्द है गे
रात व्याण तव कंसा लै कन्या कन मारन लगै
तेल का चाशणी भट्टी में चड़ैगे
चड़ी जानवर जंगल का जागन है गे
स्वाई हवाई, ऊँ लै जागन ह्वगे
नौलाखा नागनों की दार लै तयार हैगे
कंसा लै हथपाड़ो ल्याओ स्वाई
जव कन्या कुन कंसा कन दीणा लगायो
राजा कंसा लै छ रोटी का खाना हाथ पाट लिया
कन्या कन मारन लगाया, कन्या कौंछ
जारे कंसा दुष्टा, मैंकन तू मारी नी सकनै
चमचमका जो छ विजुली वणी गे!
असमान जै वेर माया कंसा कन धार लगा
जा पापो कंसा तू मैकन के मारन छै
तेरो मुनी जो जनिरौं नंद महर का घर
नंदनी पुर मैं जन्मी रौ हे भगवान!

वीरगाथा

२२. खिमसारी हाट रौंनी सिल चौंरी पाट
अचारी लुकाई वीवी ढुकाई
कोदरी दिवासा मुहल मुसद्दी
रैती परजा राणी बौराणी

राजा बरमा की नारी जा सारींगा
भौरींगा रौ तेली छपना पातर
भोल दिना बाट भैण की रितू ऐगे
छिल गिल असाढ़ को मैण
लोग बागूं की स्वार बिरादर की स्वाई रोपा है गो
हमर स्यरौ की नउवै नी ढाईण
घर में बुड़ी भै छी राजा बरमै की
आपूं रै रौ राजा बिरमा डोटी गड़ में
डोटी गढ में छी राणी मृदुला डोटयाई
वीका ध्वाका में रै गो घरै की खोस खबरै नै......

× × × ×

भोल हणी बिरमा बटीण फैगो
सूरज बंसीं घोड़ी बिरमा लै काछण लगाई
लुवै की लगाम कस लै सुवरन की जीन
छत्तीसा घुंगरू पैरालै बत्तीसा नेवर......
मारा धाड़ा कनै ए गीन वागेसुरा रे
बुड़ी बागनाथ कणी परमण फै गई
ताँ को बाटो लागी बेर गिरछीना ऐ गई
मारा धाड़ा कनै ऐ गई फैरारौ माँजी
ताँ का न्हैं गी लोधथल में—
लोध थला बाटा न्है गई दुरी हाटा में
मारा धाड़ा कनै न्है गीं गाई गिंवाड़,
अब न्हैगी भाजने बांकी बैराठ
बैराठा भैरे छ बारह हाथा की सभा !......
बाराबीसी रोपार हणी न्यूतो न्है गयो
औ चेली बेटी बौलिया हणी न्यूत है गो
नया सिणायो पुराणा धोवायो
न्यूत हई गयो बैस भै कृन्यूड़
भेजो छ जौंलिया, जोइया न्है गयो
मासी कन्यूड़,
बैसा भै कन्यूड़ मामा यो हमरो न्यूत
तुम आमा मामी पधानी दुला कणी
जरूरै ली आया—

ओ सुणा मामी तुम आयी गया
मेरो स्यरी को तुम पाङ लागै जाया

× × × +

वैसा भै कन्यूड़ लै बैस घोड़ी कसण लगा
चारा भै डोल्यार दुला ऊपर
बुलूण लगाया,
खोलण लगायो भैण पिटार
घुना में घाघरि पैर ली कुडुन में आँगड़ी
सेसमिया फैंटा हो छत्तीस लुकुड़ी
ओ, दूसा आंगुई पैरैली मुनड़ी
हाथ में धागुला पैर लीं, गावा में हँसुली
कानूँ में मुनड़ा पैर ली नाख में बेसर
आँखी में सुंरम पैर ली, च्यूनी में गाजल
दांतू को मसी, आँचू में कुरम
हिमान को हार पीठिन को डोर
रमकनी छमकनी वटि वेर तैय्यार
लाल डोलो पिंगलो झंपान
चारा भै डोलयार डोली चलाला
ओ दुला मामी की भाणजा की आँख मिली गे
राजा बिरमा की हो जुवा की खेल है गो छ
सारा दिन मान बिरमा फैटीए रै गयो......
दुला मामी दगाड़ा......
जाणी बखत कन्यूड़ कसी बात कौंनी
आजी बिरमा त्वी कणी बनौंनी घट को सीपल
हमरो घटै कणी तुम सौंट धरी दियौ
पन्याव काटीये रै गयो
फितड़ी बनाइये रै गयौ......
भोला हणी ऊँला रे तुमरा लखनपुर
रैणी ब्यैगे रात, धैणी लैगो घाम
ओ, राजा बिरमा बटीणा फै गो
सुरजा बंसी घोड़ी काछण फै गयौ......
भावा हुणी कन्यूड को घट बणी ऊँ नूं
पैरणा लगायो हो लैणीं लुकुड़ी

घोड़ी में सवार है गइँ बाटो लैगी !......
× × × ×
अब बिरमा न्है गई घट क्वारा
द्वीनूं तरफ कन्यूड आपूं हुई गई
रोहपै की गंगा, सब घट क्वारारै खीतो
आ, सारी समुंदर पन्यावन पड़ी गे
घट क्वारा फितड़ सामणी में
बैसा भै कन्यूड़ लै चाल करी दे
बटा का घट क्वारा पड़ी गे गंग लोड़ूँ की मास......

२३. म्यारा हरू हिता हो हरू हिता
त्यारा सात भौजिया हो छना गगनै की सेरी हो
गगनै की सेरी हो गोड़ाई है रै छ हो !
म्यारा हरू हिता हो हरू हिता,......
खाटा की छापरि हो सिरानै धर लै
पाणी की गडुवा हो हाथा पर लेलै
म्यारा हरू हिता हो हरू हिता।
जानै जानै लहैगो हो बाटै क दो बाटा
नजरा ल्हैगे हो ओ जौंई घुघुती !
गाड़ी त्वीलै हो हरू हिता,......
ऊ जौंई घुघुती वीलै मारी भल दीया
घुघुती का जोड़ छपारी धर लै
बाटा लागी गोछ हो हरि हिता !......
ल्हैई पूजी गोछ हो गगनै की सेरी,
आं सात भौजिया त्वीलै धाध लगाई
हाजरा है गीना हो सातों भौजिया
खाटा की छापर त्वीलै मुखतिर धरिया,
ओ जोंई घुघुती देखी वेर् नेतर छोड़नी
कस मुरख गंवार तू हिरू हिता
मरद को च्यलो हुनै ल्यूनै डोला कसी
सुपिया का कोट हली सिसवा लली !
जैंका रूप देखी सुरजू मध्यम हूँ छ
मरद को च्यल तब कूल डोला काछी ल्यूल,
ना मरद को च्यलो होलै धरै भैटी रौले,

म्यरो हरू हिता हो......

× × × ×

म्यारा हरु हिता रे हरू हिता
के भयो त्वी कणी, के दुछूण आ छ
एक पूत पुत्याल हूँल एक आँखी उज्याल
नी जाना, नी जाना सुमिया का कोट
सुमिया का कोट वटी वचे नी आयो लौटी !
ओ इजू, इजू मायेड़ी—
स्वारा दुछूण जग जिमीं ओड़ो खीतन
तिरिया को दुछाइया काँ मुख देखूंल
त्यरो जै सांच च्यलो हूंल, घर लौटी ऊंल
चुड़का उठलो म्यार हरु हिता
न्हैई भलो गोछियो गैली भजाई !

× × × ×

तैं बखता का बीच धरो तैंले जोगी को रुप
नौणियों वदन माँज भभूत रमायो
सारी रात तैंले नौपाटा नीहई वित्ाई
रणी रात ब्यैगे गैणी लैगो धामा
सारा गौं का चेली वेटी पाणी हूणी ऐ गईं !
म्यारा हरु हिता हो, म्यारा हरु हिता
हिया में रचलै रे मन में सोचैले
गाड़ी त्वी लै हाथै की अंगूठी
ओ सिसवा लली, सिसवा लली,
पाणी की फुंगाई भरी भली ले छ !
भोनेतरा सिरुनी सिरा में धरैली
ताँबै की फुंगली त्वीलै भरी ले छ
हाता पर ले ली सोवरन गडुवा
हिता म्यारा ओ, हरु हिता
ओ हातै की अंगूठी त्वीलै फुंगई में खिती दे छ

× × × ×

पुछण कै गोछ कसो लैंगी बाता
तू छोरी कै की छी लगाई !

कैकी छी पठाइया,
यो जागा की भेद मैं कणी बतैं दे
कै का भानम खेत ओ हीरा मुनड़ी
जो राणी देखीं त्वीलै नौपाटा नौ हई,
जो राणी त्वीलै देखी वीकै हुँ मैं छोरी
हिटो तुम तेपूरा महला
ज्यूनारा जेवें ल्हीयौ आज हमरा घरा !
म्यारा हिता ओ हरु हिता
काँ बटी आछा तुम, बेली राता
वेली राता मैं कणी स्वामी मिली रौ छी
तुमरी पछयाणा मैंले यो मुनड़ी में करी
आज तुम ज्यूनारा जिवैं लहीयौं
छत्तीस ज्यूनारा बड़ीनूं बत्तीसा परकारा
तुम्हारा घर ल्हैई जूंल ।
गाड़ी त्वोंलै पटंवरी धोती, पैरी भली लेलीं
गाड़ा त्वीले छड़िया चांवल
यो दलिया दाव गाड़ी सता पियो धियो
ढकनैई दई, पार कोटा का गावा !

× × × ×

तुम भया म्यारा स्वामी, मैं तुमरी राणी
हमरो राजपाट हलो तुमरा घरा
हिटो म्यारा स्वामी बाटा लागी जानूं
यो छ पराई मुलुक दुस्मण भौत
आङ की लुकुड़ी पैरी सिसवा लली ले
बाटा लागी रैं छ सिसवा लली
द्वीए राणी पुरुप हैं वेर बाटा लागीणी
जानै जानै न्हैई गीन बाटा अदो बाटा
एक दिन को बाटो इकौई में जानी
राता राता दिना दिनां कै घरा ल्हैगी !
म्यारा भौजियो, ओ साता भौजियो
राणी को निवास तुमरो छुटी भलो जालो
मरदा को च्यला छि नै मैं
सिसवा लली को ड्वलो लयूं !

ज्यूनी मैं को च्यलो छियो मैं घरा लौटी अयूं
जसो तुमूं लै दुछूण, तसी मेरी पती रई !

पौराणिक गाथा—

२४. बाणासुर दैंत दैंती गड़ा में रौनी
सिवाजी सेवा करैं सिवाजू की सेवा ।
त्वीलै दैंता मेरी भली सेवा करी
अब में त्वे कणी कौं दिनूं सेवान की मेवा !
सिव जी तुम मीं कणी दीं छा दिल खोली दाना
तुम मैं कणी दीयौ सिव पुतर को वर !
हे बाणेसुरा पुतर को वर तेरा भागै में नैती
हम त्वे कणी दिनूं कन्या को वर दैंता !
दैंता नसी गयो आपणी दैंता गड़ मांजी
दैंतैनूं की राणी कणी पैल मैंण लागो
एक मासा कैंणी राणी द्वी मास भया
द्वी तीन चार मासा आठ म्हैण हैंगीं
गरबी पुतुर तेरो पुरी हैई गेछ !
अबा आइ गोछ दसवां महीना
द, ग्यारा म्हैणा मंजी त्यरी कन्या है गेछ
रूई में पड़ाई त्वीलै गुदड़ी में सेवाई
तीना दिना तिछण करौ छै दिना छट्ठी,
इग्यारा दिनां पुरा है गींन नामकना भयो,
खवाई बटाई भई ओं दान दछिणा
नामकना दिना नाम धरी है छ,
वे ऊख कुँवरी नाम पड़ी गयो !
सेकाई तपाई जब मैना दिन हैगो
मैणा पुरी गईं, बरस दिन है गईं
एको बरसा कनै द्वी बरसा है गया !
रात दिना कनैं बड़ना लै छै
दहो चौबाई कन्या बड़ी बुदमान
तीन चार पाँच बरसा , छै बरसा है गया
छै बरस माँजी इस्कूल पड़ायो !

तै बाई कन्या कणी विद्या सिकाई
सिकनै पड़नै बाई हुस्यार हैगेछ !
प्रभू, सिवा को कइया छियो
त्यारा घरा जै दिना यो कन्या पैद होली
आपण महल मंजी ध्वज गैंठी दीए
जैदिना त्यरा घर मांजी ध्वज टूटी जालो,
तैंदिना समजी लीए क्वे पैक मेरा घर ए गोछ !

× × × ×

क्रस्ना का घर मेंजी पुतर जनम
पुतर को नाम भयो बालो अनी रूद्द !
एका दिना बीच मॉजी भरो अधी रात,
स्वपना में देखी ऊ ऊखा कुंवरी,
ऊखा कुंवरी को है गो बड़ो सोग !
राता राता दिना दिना तैकैं सुर रैगो
कभणी देखूंल उखा को सुरत
भौते दिना हैं गीं, तैका चित बिगड़ी गो
आन्ना नि खानो, ऊ पाणीं नि पींन !
दिन्ना टूटी भूख, राता टूटी नीन
फिकर का मारी तैका इजा बौज्यू
च्याला का व्याप में जी सुर बिगड़ी गो.
तैकी कैंजा हैं छी राणि चेतरा लेख
एक दिना बीच तैंले सुणी पैछ
राणी चेतराली पुछण लैगेछ अनिरुद कणी,
च्याला अन्ना खावौ पाणी फिकर नी करौ
आपणी दिलै बाता हमूं थिर कऔ किलै नि बोलानैं
लजीया का मारा राणी मैं नि कई सकन
कैकीछ लाजीया च्याला कैकीछ सरम
जौ बाता दिलम सो हमूं थैं कवौ।
राणीं मींल देखो बड़ो अदभूत सपन
हरो अधीरात मींलै सपेन देखो छ
सपना का रथौं मैं जी एक कन्या देखी छ
के छी च्याला नाम ठीको, कॉ छ ऊ को गौं ?

कैंजा नौं नी मालूम मींकी गौं नी पछाणन
तब गाड़ो राणी लै उखड़ी लेखणी गाड़ी
दहो, उतारण लायो क्रसन की फोटो
उतारी बीलै राध रुकमिणां
वालो अनीरूद, वाला प्रथुम
चारा फोटों की मूरता उतारी
ऊख कुँवरी पछाँण लायो
पुता,यो बाई कन्या, त्वीलै पछाड़ा ले लैछ,
सांवली सुरत तैंकी, नरैली मूरत,
प्रभू, त ऊख कुँवरी
दुद्र कसी जून,पुन्यू कसी चाना
क्या देखीणा चाणा, द्वी आँख त्यार
वाई छ मुकुट तैंको, संवली सुरता
प्रभू, देख देख अनीरुदा
यो वाई कन्या त्वलै स्वपीना में देखी
कैंजा, योछ योछ दिलै सौंपीणा में सौंपी
जै बखत नि औणी यो मेरी दैणी द्वारीक
प्रभू, तैं बखता नी खानूं अन्न
नी पीनूं पाणी
प्रभू, चितरालेख कसी बात कौली
पूत, अन्न खाओ पाणी पीयौ
वाला प्रथुमण हम ढुंनी ल्यौला ।
आपूं भैटी गेछी ओ उड़ा खटूली
जौ छिल चांछ मेरों प्रभू,खटूली उड़ी न्है गे
सोइम पुर माँजी भर आधी राता
जाँ ऊखा को महल छीयो, ताँ नसी गे छ,
प्रभू, ऊख कुंवरी कणी छै मासिया नीन ऐरै,
वार मासिया फुंकारो—
राणी चितर लेखै लै तैंकी खटुली धरी
आधू रात मांजी तैंकणि ले गैछ !
तेरा महला का किवाड़ नि खुल
स्वयंपुर मांजी है गो खल बल
जो ऊखो कुंवरी को पतो लगायो

ऊखा नसी गेछ, ओ दैणी द्वारिक
ओ, अनीरुद साथ तैकी स्वयंबर है गो.
प्रभू, बाणेसुर दैत कणी गुस भरी गयो,
गुस भरी गयो दैता हलखल मचालो
आपणी फौज फरर कणी तैयार बणालो
ओ दल बदल तैलै उठण लगायो
दैणी द्वारिक न्हैगो ओ वीई गोकुल ।
दैता दैणी द्वारिक मँजी हलखल मचालो,
प्रभू, अनीरुद कौंला,
आपणी सेना ली बेर ठाड़ो है गयो ।
प्रभू, देवा दैताँनू को झकड़ ठैरी गोछ
प्रभू, तीरनूं को मार है गे, बंदूकै की चोटा
बलग फौजदारी है गे पैक कूँ का चेला ।
प्रभू, कतू पैका मरी गईं कतू अद घैला
द हो, बाणेसुर दैता हारी मान है गयो ।
बाणासुर दैता घर ऐई गयो
चेली रई गैछ ओ दैणी द्वारिका
चेली लै ढूंढ़ी है छ आपण जोड़ो
रौणी है गे खानी, यो दैणी द्वारीका ।

खिमुलि काखि—

२५.

एक छी बुड़ि, श्यात्ता बाव, नाम भै वीक खिमुली काखि । भीमताल पास तालाक पार बटी छी साँगण गौं । कूँणी वणावास बखत द्रौपदील भीमसेन हुणीं जब कमलाक फूल मंगा छी त भीमसेनैल ऊ कमल फूल याइँ तालबटी टिपीं और यो जागक नाम भीमताल भै । अबत नामै नाम रैगो जाँ भ्यकान फटक मारनीं ।

खिमुली काकिक मुशलै डंड पेलतेर भै । वीक स्यारा में सालीक धान में डेड़ हाथ उच्चि वाल लागनेर भै । सांगण गौं में ऊ सब्बन है तगड़ी भै । वीक बार घाम पछीलक ज्यू-बिशनाथ लखुडयार बणैगे पर काकिक कमर आजि गुलेल जसि ताणि भै ।

एक बखत दैवै माया खिमुली काकिक भाग में टोट पड़ी गे । सालिक खेतन फुल कांसै-कांस, काकि ख्वार गंगलोड़ मार बेर रैगे और पेट भरि खांण नि मिल । दुवलि पड़ि गे । कान में माख नी भड़कण दिनेर भै अब कव्व नाचण लाग । गाँव वालान कै 'दिन पुररै है गईं' । 'खिमुलि काकीं दिन भर

आपण छानाक देइ में भै बेर मुश बानराक बौज्युक सराद करनेर भै। लोग कूनेर भै—"काकि कैं लागि गे बुड़भस। ऊ चिड़नेर भै। गुसैल कुनमुनानेर भै पर रूड़िक दिन जसी सन्न कै बेर रै जानेर भै।

तली भावराक लखपोती गौं में वीक च्यलि व्याई भै बचुलि। बचुली कैं छोड़ी बेर काकीक वंश में और क्वे बची नी भै। एक दिन गौं वालाक ढोलि नङार बै चिङ बेर आपण किड़ मिड़ि वदन ली बेर काकि च्यालिक गौंहुँ लागि बाट। लखपोतियक मतलब हुं छ लाख नाति पोतान वाल'। क्वे कूंनी राजा सगर आछी यां तब गौंक नाम लखपोती भै।

भीमताल है तली भावर हुणि जाणाक् लिजी काठगुदामै तरप तल्ली हुलरण पड़ौं। बीहड़, जंगली अस्यूण बाट छ। चार म्वाव पार करि बेर खिमुली काकी जस्सै अघिल गे आपण सामणि भलु श्याव कणि देख जो तिख दाँतूं मंजि लाल लाल जिवड़ि हलूणौं। काकिक हाथ पर धिङारुकि जाँठि थर थर कांपण फैटि। भलु अब ज्यून नी छोड़ौ, वील मरी मरी कै "भलु भया"।

भलु दाँत दिखै बेर हँसण फैटो। कूण फैट "भलु भया तब कांगो छी जब त्वील एक नानि पाठि खाण में गौं वाला थैं कै बेर मैंकन मारो?" भलुवैल कै "खाण पिणाक मामुलन भलू = श्याव रतै व्याल, रातदिन के नी चाण" और तिखातिख दाँत निकाइ बेर काकिक मल्ली फाव मारी। एक दिन छी जब वीक यक्कै जांठैल भलु अदमरी है गो छी और आज वीकै बदन मांजी किरमव लागी भै।

काकिल सोचण लगै कि अब मैं त पाकि तिमिल जसि है गयूं। के धान्ना करूँ? भलु थैं कै—" देख भलुवा म्यरा त दिन पुरै है गईं, सालिक धानक भात भौते खा, भीमताल पाणी मस्त पे, अब तू मीकणि खाण चांछै त खा पर म्यार बदन मंजी मांसु त भय्यै नै, तुकै के भल लागल, पेटै नि भरियौ होई। मैं अपणि च्यलि बचुलिक सौरास जाणयूं। चमूं गोरू, असों भैंस वीक छान में बांदी छन, मस्त दूद प्यूंलं, कुरूंठी और छछिया जौंल खूंल। मडु वैंक बासि खाट मलि मैं कैं नौणी अत्ति भल लागैं। और सुण म्यर जंवै जांठिल जड़यालन मारी ल्यूं। मस्त घुरड़-काकड़ शिकार शिकार खूंल। तीन भैण बाद लौटूंल तब तू पन्यारी नि सकलै, हांरे एतुक ज्वान है जूंल।" एतुक कैबेर काकिल आपण द्वीनूं भुली हात फैलै दी।

भलुवैल देख मालूं पैंलीक काकि, वीक मुखम पाणि ऐगे। कूण फैट-"पै के परतीत तीन मैणा पना तू येई बाट आली"? काकिल कौ म्यर जबान हार भै, एक बचन, द्वी बचन, तीन बचन। तब भलुवैल वीक बाट छोड़ि दी। धिगारुकि जांठि दगाड़ चार म्वाव गे कि काकिल सामणि ठाड़ है रै भै कलु भालु। वील

तलि मलिं , अघिल पछिल के नि देख और काकि मली फाव मार दी । काकि बुलाणि–'' अरे यस भुकान राकस जस के फाव मारणी छै । खाणै छ तम नबोल्या म्यर के । कुसम्यारु खुमानि मस्त खै राखिं थैं तू चा न मांसु भै न खून । के तुकैं सवाद आल । के तेर पेट भरैल ? मैं जाणयूं आपणि बचुलीक याँ बचुलिक च्यल माछ मारण में भौतैं सींप जाणौं । पपड़ गड़यार, अस्याल माछ खूंल, तीन मैंण बाद यसीक मोटै बेर योई बाट ऊँल, तब खै लिए मीं कैं ।''

कलु भालुल कै– ''काकी तू भौते होश्यार छी । तीन भैण पछां तू योई बाट अली कै बेर के सबूत ? तुकन याद छ चाकक पिसू चटूल कै बेर त्वील न्यूंत दे और म्यार भाई ललु भालु कैं त्वील चट्ट करि दे ।'' ''मेरी जबान छै त्वी कैं । ''काकिल पाणि है बेर पतइ है बेर कैं'' देख कलुवा, तब छी मैं ज्वान और ज्वानी में आँखी बुजी जाँनि ! तु जाणनेरै भये, अबत मैं त्यारि महतारि बराबर भयूं । यो उमर में अब भुटि बलै बेर नरक को जानेर भै कलुवैल कै–'' पै दे वचन तीन मैंण में योई बाट आली कै बेर'' । ''जो बचन हारी ऊ नरकन जौ'' । कालु वै पिण्ड छुड़ै बेर चार म्वाव और गेछी कि खिमुली काकिल भुसि बाग देख, ऊ दाड़ निकालि ढाड़ भै ।

काकिल कै ''सुण भुसिया ! मैंल भौत घाम तापि हालीं, भौत द्यो भिज्यूं, अब म्यर के ? यो पापि शरीर कै कै काम ऐ जो त कुछ पुन्न हात औ पर तुइ सोच, न म्यर बदन में ल्वे छ, न मांसु, बस हड्ड हड्ड छन । के तुकन सवाद लागल, के पेट भरैल ? देख मैं बचुलिक यां जाणयूं, वीक लखपोति गौं में चौम-साक दिनन बैसि' लागैं गदु जास बाकर काटीनीं, खूब खै बेर, मोटै बेर तीन मैंण बाद योई बाट ऊंल, तब खै लिये । ''भुसियैल शक्की बेर कै– ''काकी, तू भौत सयाणि भई, त्यर के परतीत नैं !'' ''मैं वींकन वचन दिनूं'' ''काकिल कै– ''एक वचन, द्वी बचन, तीन, बचन'' जो आपण बचन कै टोड़ी ऊ नरक पड़ी ।''

जानै जानै न्है गे खिमुली काखि आपण च्यलि बचुलिक याँ । बचुलील कै–''इजा ! तू त भाड़ पत जस रैंगे छ ?'' ''अब यो पात लै भड़नेर छ । पोथीं कै बेर काकिल बचुलि कैं जेट्टै लि आपण छातिम और रवे, रवे, बेर आपण काथ कै दी जस जसी बाटम भै । बचुलिल हैंसि बेर कै–''इंजा तू डर नै । मैं यस जोड़ भैटूंल जो भलु, कलु, भुसिया त्यर के नि कर सकौ ।'' ''पै मैं त हार मान है गयूं, वचन दी राखो छ मैल कि तीन मैण में योई बाट लौटुंल कै बेर । काकिल कै–''अब यो फुलि वालूंक बखत बुड़िया का बचन टोड़ि बेर नरकाक द्वार कसिक जूं ? ''बचुलील कै--''मैं यसि करुंल त्यर बचन नि टुटी और ज्यान लै बचौ । अब मन बोत्थ्या, धैरज कर, त्यार जंवै घुरड़ मारि बेर लयैं रईं । काखि फिर चौमासैं कि जती जसि मोटैंगे । पीलं बचुलि थैं कै—''पोथी, मस्त

खवै पिवै बेर त्वील म्यर दुहर अवतार जस बणै दे । खत्याड़िक टमाटर, कत्यूरक दाड़िम और बिनसराक स्यो जसि लाल है ग्युं । वां झलू, कलू, भुसिया जिवड़ि खंखारि दाँतड़ि फाड़ि बेर बैठी हुनाल म्यार ध्वाक् में ।

जब तीन म्हैण है गे तब बचुलील आपणि इजुलि कणि पैठयैं । एक हिट नेर तुमड़ि दी बेर कै—"तू यो तुमड़ि भीतेर भै बेर जब "हिट तुमड़ि" कौली तब यो त्वीकणि त्यार बाट ली जालि । उनूं में क्वे पुछल तब कये—"हिट तुमड़ी आपण बाट"—और एक रुमालन मर्च बादि बेर दी, यस कै कि श्याव भौतै होश्यार हुनि, उनर लिजि यो दुहरि तरकीब करिये । तुमड़ि भीतर भै बेर जब खिमुली काखिल 'हिट तुमड़ी' कय तस्सै उ हिटण फैटि पैंलिक बाटम भुसिया वागै दगाड़ भेट भै, बाटै छेकि भै और जो लग उनेर जानेर भै वी कणि पुछनेर भै आज्जै म्यार खिमुली बुड़ियैल ऊँल कैं राख छी, तुमूंल वी कणि कै ॐण देखौ ? तुमड़ि कै आपुण नङांलै पकड़ि बेर कूण लाग—"तुमड़ी तुमड़ी त्वील कैं म्यर खिमुली बुड़ि कैं ॐण देखौ ? आज्जै उनैर छी।"

भितेर वै उलाण बदलि बेर खिमुलि काखिल कै—"हिठ तुमड़ि तू आपण बाट, मैं के जाणूं तेरि खिमुलि बुड़ियाक बात ?"

अघिल कै कालू भालु ठाड़ हैं रौ छी । वील पुछ—तुमड़ि तुमड़ि त्वील कत्ती देखाँ' । म्यरि खिमुलि बुड़ि कन ?"खिमुली काखिल कैं– "हिट तुमड़ि तू आपण बाट, मैं के जाणूं त्याई खिमुली बुड़ियाक बात ? और अघील जै बेर छी झलु श्याव, वील पुछ—"तुमड़ी तुमड़ी त्वील खिमुली बुड़ि कैं ऊंण देखौ ?" काखिल भितेर बै कै—"हिट तुमड़ि आपण बाट, मैं के जाणूं खिमुली बुड़ियाक बात ?" श्याव भै महा होश्यार' । वील कै तुमड़ि थैं—"मैं त जाणूं तेरि बात" और कून-कूनै वील मारी जोरैल फाव । लातैंल मारि तुमड़िक छ्यकार, छ्यकार करदी , हँसण फैट । वील कै "के खिमुली काकी ! हाइ ! माल त वे हाइ किलास बणि बेर ऐरैछ । "हाइ किलासक" आखर झलुवैल डिप्टी सैप थैं सिकी भै । झलुवैल काखि कणि पकड़ि ले । तब काखिल कै, "अब तू मैं कणि जरुरै खालै, पै म्यरि एक आखिरी बात पुरी नीकर लै त सात नरकन सड़ लै । झलु नरकैक नाम सुणि बेर थर थरान है गे । वील कै—"पै,कौ, तेरि आखिरी इच्छ के छ ?" काखिल कै बस एक्कै बेर खूब आँख ताड़ि बेर म्यार उजाड़ चै दे ?"

याँ झलुवैल आँख ताणी और वाँ खिमुली काखिल रुमालम बांदी मर्च वीक आँखन लफै दी, झलु आपण भाग कणी डाड़ मारनै रैगे और काखि परसन्न है बेर बाट लागि गे भीमताल हुणि ।


साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद